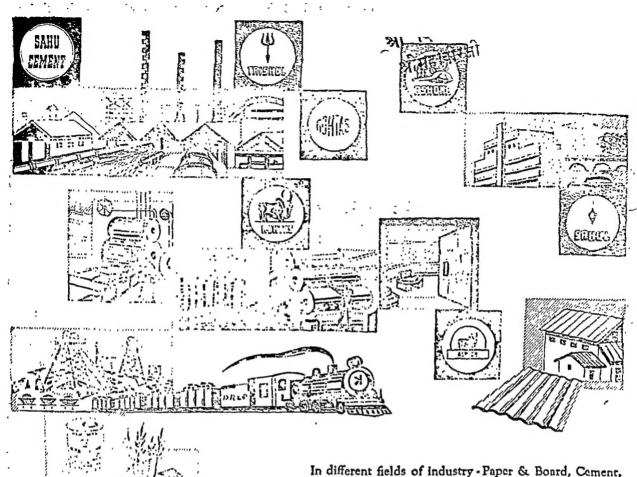
1			



ग्र**प्रे**ल १६६२ देभाविका



Chemicals, Fertilisers, Plywood, Asbestos cement, Vulcanised Fibre, Sugar, Vanaspati, Jute Fibre, Paper-Laking Machinery, Coal, Cycles, Railways, News-papers & Publications Sahu Jains continue their pioneering efforts towards industrial development.

ROHTAS INDUSTRIES LTD.

THE JAIPUR UDYOG LTD.

ASHOKA CEMENT LTD.

SONE VALLEY PORTLAND CEMENT CO., LTD.

NEW CENTRAL JUTE MILLS CO., LTD.

SAHU CHEMICALS LYO; S

SHREE KRISHNA GYANOLAY SUCAR LTD.

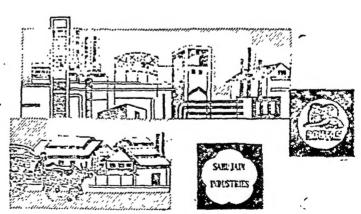
BHARAT COLLIERIES LTD.

DEHRI ROHTAS LIGHT RAILWAY CO., LTD.

THE ALBION PLYWOOD LTD.

HINDUSTHAN VEHICLES LTD.

BENNETT, COLEMAN & CO., LTD.



# SAHU JAIN LTD.

With compliments of

A32 n62

K62

4676/05

Proprietors:

Gem Palace, Jewellers

JAIPUR

## With Compliments from:

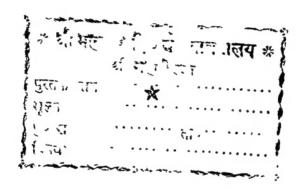
## MAN

#### REGISTERED RE-ROLLERS OF STEEL STRUCTURALS

#### Manufacturers of

TRANSMISSION LINE TOWERS, SUB-STATION STRUCTURERS, AERIAL MASTS, STEEL DOORS & WINDOWS - - - - ETC.

#### HOT DIP GALVANIZERS



#### MAN INDUSTRIAL CORPORATION LIMITED

REGISTERED OFFICE: P. B. No. 131 JAIPUR (Rajasthan)

#### BRANCHES:

BOMBAY

DELHI-

AHMEDABAD

Representatives and Agents

KANPUR PATNA CALCUTTA MADRAS HYDRABAD.

Telephone Nos.

2239 - 4377

Telegrams : 'PROGRESS' Jaipur,

#### With best compliments

from

#### MALIRAM NEMICHAND JAIN

(ESTD. 1785 A.D.)

OPP. TRIPOLIA, JAIPUR CITY

Manufacturers of:

HIGH CLASS PURE GHEE PREPARATIONS & FAMOUS JAIPUR MISRIMAVA & KALAKAND

AND

Hind Hotel & Restaurant

The only best vegetarian Hotel
HIND ICE CREAM A SPECIALITY

SOLE AGENTS:

LOVE-O-COLD DRINK

# महावीर जयंती स्मारिका

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

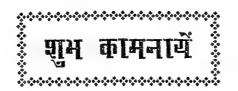
ग्रप्रेल - १६६२

		•	
	-		

# अनुक्रमणिका

0	Trings over		^
٠ ٩٠	मंगल पाठ		8
. ર.	त्रपर।जित महामन्त्र	•	و عر
₹.	महावीर संदेश	—चैनसुखदास न्यायतीर्थं	३
8.	युग प्रवर्तक महावीर	—डा. ज्योतिप्रसाद जैन	¥
¥.	भगवान महावीर और उनके समकालीन जैन साधक	—डा. प्रेमसागर जैन	9
ξ.	जैन धर्मे और समाज	—श्री सत्यदेव विद्यालंकार	१३
<b>७.</b>	म्थुरा की जैन कला	—श्री वासुदेव शरण ग्रग्नवाल	१७
۵.	जैन संस्कृति	—डा. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना	२१
.3	वर्धमान महावीर – एक परिचय	—-म्राचार्यं रजनीश	ર૪
१०.	Fifth Vow of Vardhaman Mahavir	-Ram Chandra Jain	३०
११.	<b>त्राचार्य कुन्द क्रन्द का दृष्टिको</b> ण	—डा. समुतिचन्द	38
१२.	रामकथाकार कवि स्वयंभू ऋौर उनका पउम चरिड	—श्री सोमेश्वरसिंह	४६
१३.	वास्तु स्थापत्य-मूर्ति निर्माण्	पं. भगतानदास जैन	६०
१४.	च्चहिंसा के पुजारी – एल्बर्ट स्वाइटजर	—श्री वनारसीदास चतुर्वेदी	६२
१४.	जैन काव्य में कल्पना सीन्दर्य	—डा. सत्यदेव चीघरी	६६
१६.	श्रर्हत श्ररिष्ट नेमि श्रौर पार्खनाथ	—मुनि श्री नगराजजी	७१
.१७.	मानव संस्कृति का उद्गम श्रौर श्रादि विकास	—मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी प्रथम	৬১
१न.	Jaina Ethics and Present Day Problems	-Dr. Kamalchand Sogan	<i>i</i> =3
.39	श्रवण संस्कृति की देन	—मुनि कान्तिसागरजी	03
२०.	जैन चित्रकला का भारतीय चित्रकला को योगदान	—डा. सत्यप्रकाश	દદ્
२१.	तीर्थंकर महावीर	<b>—</b> पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थं	33
२२.	जैन धर्म के प्रति एक दृष्टि	—श्री प्रवीगाचन्द्र जैन	१०३
२३.	जैन धर्म ऋोर दर्शन	—डा. मोहनलाल शर्मा	१८६
<b>૨</b> ૪.		—डा. कैलाशचन्द जैन	१११
२४.		—हा. हरिवंश कोछड़	११४
२६.	श्री वत्स चिन्ह	—श्री छोटेलाल जैन	११७
२७.	भारतीय वाङ्मय में जैन साहित्य का योगदान	—प्रो. देवेन्द्रकुमार जैन	१२१
25.	श्रादिकाल की प्राचीनतम हिन्दी कृति		
	"भरतेश्वर बाहुबलि घोर"	—डा. हरीश	१२५
₹.	श्रामेर गादी के भट्टारकों की साहित्यिक एवं		
	सांस्कृतिक सेवा	—श्री म्रनूपचन्द न्यायतीर्यं	१३७
३०.	चीतराग – पञ्चकम् (कविता)	—श्री सागरमल जैन 'सायी'	१३३
	•		

	•		
३१.	Importance of the Jaina Grantha		
	Bhandars	—Dr. K. C. Kasliwal	१३४
३२,	भगवान महावीर के प्रति (कविता)	श्री सागरमल जैन 'सायी'	888
३३.	History of Nagari	-Dr. K. C. Jain	१४३
३४.	दुखी विश्व को महावीर ने समता का		• • •
ř	संदेश सुनाया	—श्री प्रसन्नकुमार सेठी	१४५
३४.	रवेताम्बर अपभ्रंश साहित्य	—श्री ग्रगरचन्द नाहटा	१४६
३६.	भगवान महावीर विषयक तीन वेलि ग्रन्थ	—श्री नरेन्द्रकुमार भानावत	१५३
३७.	सर्वोदय का मृल स्तोत्र	<ul><li>पं. जुगलाकशोर मुख्तार</li></ul>	१४५
३≍.	पुष्पद्त की भाषा	डा. कैलाशचन्द भाटिया	१६०
<b>38.</b>	जैन व्याकरण साहित्य <sup>.</sup>	—श्री मांगीलाल मिश्र	१६७
80.	जैनों का रहस्यवाद	—श्री वासुदेवसिंह	१७२
४१.	जैन चम्पू काव्यों के शोध की दिशायें	—डा. छ्विनाय त्रिपाठी	१८०
૪૨.	रीति कालीन जैन प्रवन्ध काव्य	—श्री इ <del>न्द्र</del> पालसिंह	१८३
४३.	हिन्दी की प्रारम्भिक अवस्था में जैनों की देन	—डा. व्रजमोहन शर्मा	१८७
88.	देवसेन का भावसंप्रह	—श्री मिलापचन्द कटारिया	१८६
ሄሂ.	Language and Style of Harichandra-	-Shri L. N. Pathak	२०२
४६.	महावीर का सर्वोद्य तीर्थ	—श्री जवाहिरलाल जैन	२०७
ઋહ.	विश्व श्रशान्ति का एक मात्र उपाय	· — काका कालेलकर	. २०६
ઇ≂.	सन्त तारण तरण त्र्योर उनका तारण पंथ	—श्री कीर्तिचन्द रांवका	२१२
38.	तीर्थंकरों के शरीर कि वर्ण	—श्री रतनलाल कटारिया	२१४
Yo.	श्चपञ्चंश भाषा का रासा साहित्य	—श्री परमानन्द जैन	२२४
४१.	जैन धर्म में ध्यान का महत्व	श्री गुलावचन्द	२२६
ধুহ.	जैनों की भावात्मक एकता	श्री विरदीलाल सेठी	२३३
५३.	राजस्थान के उल्लेखनीय जै <sup>न</sup> मन्दिर	· —श्री सीभागमल जैन	२३४
<b>ሂ</b> ሄ.	महावीर तुम्हारा अभिनन्दन	श्री मनूपचन्द न्यायतीर्थ	२३६
ሂሂ.	क्या जैन साहित्य केवत धार्मिक साहित्य है	—श्री सुरज्ञानीचन्द	२३७
.પ્રફ.	नेमि निर्वाण - एक अध्ययन	—श्री ग्रमृतलाल	२३६
.১৫.	जैन कला चित्र दीर्घा	—श्री हीराचन्द वैद	२४४
<b>አ</b> ፍ.	जयपुर में जैन दिवान	—श्री भंवरलाल न्यायतीर्थं	२४६



#### राष्ट्रपति

"भगवान महावीर का जयन्ति समारोह एक ऐसा अवसर है जब कुछ क्षराों के लिए हमें अपने हृदयों को टटोलना चाहिये और अहिंसा के महान आदर्श के महत्व को समक्षने का यत्न करना चाहिए। दैनिक जीवन में अहिंसा को एक सहल सिद्धांत के रूप में सबसे पहले लागू करने का श्रेय भगवान महावीर को ही है। इसलिये हम उन्हें अहिंसा के प्रवर्तक कह सकते हैं। सभी भारतवासियों को, चाहे वे भगवान महावीर के अनुयायी हों अथवा नहीं इस महान देन पर गर्व है। आधुनिक युग में गांधीजी ने इसी पुराने सूत्र को हाथ में लिया और इसके आधार पर राजनीति के क्षेत्र में एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया। यद्यपि किन्हीं दुर्बलताओं के कारण संसार अहिंसा को सहसा अपना नहीं सका है, फिर भी यह हर्ष का विषय है कि गांधी विचारधारा के कारण बहुत से विभिन्न देशों के विचारशील लोग हिंसा के दूषित चक्र से ऊनकर अहिंसा में ही आशा की भलक देखते हैं।"

—डा० राजेन्द्रप्रसाद



#### Vice-President, India

Dear Sir,

I am glad to know that you will celebrate Shri Mahavir Jayanti in a befitting manner. I send my best wishes for the success of your function.

Yours sincerely, S. RADHAKRISHNAN

#### राज्यपाल, राजरथान

मुभे यह जानकर हार्दिक प्रसन्तता हुई कि स्थानीय महावीर जयन्ती समारोह समिति द्वारा भगवान महावीर की जयन्ती १५ ग्रप्रेल से १७ ग्रप्रेल, १६६२ तक मनाने का ग्रायोजन किया जा रहा है ग्रौर इस ग्रवसर पर एक स्मारिकां भी प्रकाशित की जा रही है जिसमें भगवान महावीर के जीवन एवं उनके उपदेशों पर महत्व-पूर्ण लेख रहेंगे।

भगवान महावीर ने ग्राध्यात्मिकवाद के वहुत ऊंचे ग्रादर्श विश्व के सामने रखने के साथ-साथ जांत-पांत के भेदभाव व ऊंच-नीच के भगड़े मिटाने का उपदेश दिया जिनको ग्रपने जीवन में उतारने की ग्राज भी बहुत बड़ी ग्रावश्यकता है। ऐसे वार्षिक समारोह मनाने का सबसे उत्तम तरीका यही हो सकता है कि हम उनके बताये हुए ग्रादर्शों पर चलने का हार्दिक प्रयुत्न करें।

मुभे श्राशा है कि यह स्मारिका जन-साधारण के लिए भगवान महावीर के उपदेशों को जीवन में उतारने के लिए प्रेरणादायक सिद्ध होगी।

—गुरमुखितहालींसह



#### राज्यपाल, महाराष्ट्र

ग्रापका १७ मार्च का कृपा पत्र संख्या २२६६ मिला । ग्रनेक धन्यवाद । यह जान कर प्रसन्नता हुई कि ग्राप १५ से १८ ग्रप्रेल तक श्री महावीर जयंती समारोह मनाने का ग्रायोजन कर रहे हैं । इस ग्रवस्र पर ग्रापने मुभे निमंत्रित किया, यह ग्रापकी विशेष कृपा है । मुभे खेद है कि दूरी के कारण मेरे लिए इस शुभ उत्सव में स्वयं सम्मिलित होना संभव न होगा । क्षमा कीजिएगा ।

मेरी शुभ कामना है कि सब कृत्य सानंद ग्रौर सफलता पूर्वक संपन्न हो। ग्राप सब प्रसन्न रहें।

#### राज्यपाल, पंजाब

महावोर जयन्ती समारोह का निमंत्रण मिला । धन्यवाद । समारोह के प्रति शुभकामना।

--- न० वि० गाडगिल

京

## रेल मंत्री, भारत सरकार

मुभे यह जानकर प्रसन्नता है कि आगामी अप्रेल में भगवान महावीरजी को जयन्ती समारोह सिमिति, जयपुर द्वारा समारोह पूर्वक मनायी जा रही है। इस अवसर पर महावीर जी के सर्वजीव सम-भाव, सर्व जाति, समभाव व सर्व-धर्म, समभाव आदि सिद्धांतों का मानव हित में प्रचार व प्रसार किया जायगा, इस आशा के साथ मैं समारोह की सफलता की कामना करता हूं।

---जगजीवनराम

六

#### खाद्य तथा कृषि मंत्री, भारत सरकार

मुभे जानकर प्रसन्नता हुई कि इस मास में भगवान महावीर का पावन जयन्ती समारोह मनाया जा रहा है।

भगवान महावीर एक महान ग्रात्मा थें। उन्होंने ग्रहिंसा के सिद्धांत को सर्वत्र फैलाया ग्रीर ग्राज भी उनके ग्रनुयायी उसका हढ़तापूर्वक ग्रनुकरण कर रहे हैं। हर व्यक्ति का यह कर्त व्य है कि वह स्वयं पूर्ण ग्रहिंसक एवं शांत जीवन व्यतीत करते हुए ग्रहिंसा दा सर्वत्र प्रसार करे। मुभे ग्राशा ग्रीर विश्वास है कि भगवान महावीर के पावन जन्म-जयन्ती समारोह के ग्रवसर पर विश्व के समस्त मानव भगवान महावीर के ग्रनुयायी एवं सत्य का व्रत ग्रहण करेंगे।

-एस० के० पाटिल

## मुख्य मंत्री, राजस्थानं

मुभे यह जानकर प्रसन्नता है कि ग्रागामी महावीर जयन्ती के पर्व पर श्री महावीर जयन्ती समारोह समिति एक स्मृति ग्रंथ प्रकाशित कर रही है।

भगवान महावीर ग्रहिंसा ग्रीर विश्व प्रेम के ग्रवतार थे। उनका महान संदेश ग्राज की युद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानवता के लिये ग्राशा ग्रीर त्राएा का द्योतक है। इस युग में भगवान महा-वीर द्वारा प्रतिपादित मानवीय ग्रीर सामाजिक ग्रादशों को ग्रधिका-धिक प्रसारित करने की ग्रावश्यकता है।

श्राशा है स्मृतिग्रंथ में भगवान महावीर के जीवन चरित तथा श्रादशों से सम्बन्धित लेखों का उपयोगी संकलन होगा । मैं जयन्ती समारोह की तथा स्मृति ग्रन्थ की सफलता के लिए श्रयनी शुभ कामनाएं भेजता हूं।

—मोहनलाल सुखाडिया



## मुख्य मंत्री, मध्यप्रदेश

यह जानकर हार्दिक प्रसन्तता हुई कि महावीर जयन्ती के पावन ग्रवसर पर समारोह सिमिति द्वारा स्मारिका ग्रन्थ प्रकाशित किए जाने की योजना है। भगवान महावीर ने ग्राज से वर्षों पूर्व समाज में व्यापक रूढिवादिता के विरोध में नवीन जागृति को वाणी दी थी। सत्य, ग्रहिंसा, ग्रपरिग्रह ग्रादि सिद्धांतों के प्रतिपादन तथा उन्हें ग्रपने जीवन में ग्रपना कर जो पथ भगवान महावीर ने वताया था, उसे जानना ग्राज समस्त देश एवं विश्व के लिए ग्रावश्यक है। ग्राशा है ग्राप ग्रपने उद्देश्य में सफल होंगे। मेरी ग्रुभकामनाएं ग्रापके साथ हैं।

मुक्ते यह जानकर प्रसन्तता हुई कि राजस्थान जैन सभा, जयपुर द्वारा महावीर जयन्ती स्मारिका प्रकाशित की जा रही है। भगवान महावीर ने अपने दिव्य ज्ञान के आलोक से जिन महान सिद्धांतों का प्रचार किया उनमें सर्वजीव समभाव, सर्वधर्म समभाव और सर्वजाति समभाव सबसे मुख्य हैं। यही तीन सिद्धांत ऐसे हैं जो न केवल भारत-वर्ष की अपितु संपूर्ण विश्व की समस्याएं हल कर सकते हैं। भार-तीय राष्ट्र के नवनिर्माण के लिये हमें भगवान महावीर की सर्वजीव हितकारी शिक्षोओं को स्वयं अपने जीवन में उतार कर अपने वैयक्तिक उदाहरण द्वारा लोक मानस में उनकी प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहिए।

मुभे श्राशा है कि श्रापकी महाशीर जयन्ती स्मारिकां श्रपने इस उद्देश्य को पूरा करने में समर्थ होगी ।

—भगवतसिंह महता



हिन्दू जाति के परमोद्धारक श्री महावीर स्वामी की जयन्ति के स्मारक रूप में जो उपहारग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है, वह एक स्तुत्य प्रयास है।

जैन धर्म द्वारा समाज श्रौर साहित्य की जो श्रमूल्य सेवायें हुई हैं, भारतीय चिंतन धारा में उनका एक श्रपना स्थान है । व्यक्ति के उत्थान श्रौर समाज के साथ उसका विशिष्ट सम्बन्ध निर्धारित करने में इस धारा का श्रपना दृष्टिकोगा है।

मुभे विश्वास है चिंतन शोल व्यक्ति श्रौर मननशील पाठक प्रस्तुत संग्रह में प्रेरणात्मक सामग्री पाकर प्रसन्न होंगे।

संग्रहकर्ताग्रों के प्रयास की सराहना करता हुग्रा ग्रपनी शुभ-कामनायें समर्पित करता हूं।

—सोमनाथ गुप्त

## संयम का पुनर्जीवन

भगवान् महावीर की वागी हमारे लिए प्रकाश-दीप के समान है। उससे हमारा वर्तमान ग्रीर भविष्य दोनों ग्रालोकित होते हैं। उन्होंने जिन शाश्वत सत्यों की उपलब्धि की ग्रीर जिनका प्रतिपादन किया वे सार्वजनिक ग्रीर सार्वजनिन है।

उनकी हिष्ट में साध्य तत्व ग्रात्मा ही है। धर्म उससे ग्रिभिन है। सम्प्रदाय ग्रादि उसके निमित्त हैं। उपादान को निमित्त ग्रीर निमित्त को उपादान समभना मिथ्या हिष्ट है। सम्यग् हिष्ट यही है कि जो वस्तु जिस स्थिति में हो उसे उसी कोगा से ग्रांका जाय।

भगवान महावीर के तत्व ज्ञान का श्राधार सम्यग्-दर्शन है। वर्तमान विश्व को उसकी सर्वाधिक श्रावश्यकता है। हम भगवान को श्रतीत के वातावरण में ही सीमित न करें। उनकी वाणी में सार्व-दिकता है, इसलिए उसका प्रयोग वर्तमान की समस्याश्रों का समाधान पाने के लिए भी करें। उनकी वाणी में सार्वदेशिकता है इस लिए इसका प्रयोग सब स्थानों में करें। ग्राज विश्व के सामने सब से जटिल समस्या शस्त्रीकरण की है। निःशस्त्रीकरण की समस्या उससे श्रधिक जटिल है। चिन्तन की जिस रेखा पर श्राज के राजनियक चल रहे हैं, वहां समाधान नहीं है। भगवान महावीर ने यही कहा था—श्रत्थि सत्थ परेण परं। शस्त्रीकरण में श्रागे से तीव्रता श्राती है। भगवान ने समाधान की भाषा में कहा-नित्थ श्रसत्थ परेण परं, निशस्त्रीकरण में कोई स्पर्धा नहीं है। संयम का मार्ग स्पर्धा से मुक्त है। इस श्रसंयम बहुल युग के सामने भगवान महावीर को प्रस्तुत करने का श्रर्थ संयम को पुनर्जीवित करना है। मैं इसे बहुत ही शुभ कार्य मानता हूं।

स्वास्थ्य ही जीवन है स्वस्थ जीवन के लिए खेल-कूद के साथ साथ सफाई भी जरूरी है

जयपुर नगर परिषद

को

## सहयोग दीनिए

## गुलाबी नगर जयपुर की शोभा बढ़ाइए

- 🖈 कूडा रास्ते में मकान से मत डालिए
- प्रं मकान साफ करके कूड़ा गाड़ी आने से पहले नियत स्थान पर ढोल, कनस्तर, मटके इत्यादि में डालिये
- ★ गलियों, रास्तों व नलियों में वच्चों को तहारत के लिये मत विठाइये
- ★ फ्लश के तहारत बनाने के लिए पालिका से इजाजत लीजिए

## इन्सान को बीमारी से बचाइये

- ★ पटरी पर सामान रखने से आवागमन अवरुद्ध होता है
- पं ठेला, साइकिल, मोटर गाडियों को नियत स्थान पर ही एक खोर खड़ा रखिये।
- 🖈 खाद्य पदार्थ हक कर रखिये

नगर परिषद, जयपूर, राजस्थान द्वारा प्रसारित

#### THE NEW GREAT EASTERN SPG. & WVG. CO. LTD.

15A, HORNIMAN CIRCLE, FORT, BOMBAY-1.

Manufacturers of:

# COTTON TEXTILE & COTTON and STAPLE FIBRE YARN

Specialised in:

Dyed & Bleached Cloth, Long Cloth, Mazri, Sheeting, Dyed Poplin, Dyed Italian, Bleached Mercerised Leno

Telegraphic address: "NEWGREAT"

Tele. No. 251218

#### Message

It gives me great pleasure to learn that the Rajasthan Jain Sabha are celebrating Mahavir Jayanti from 15th to 17th April. The great message of 'live and let live' which Lord Mahavir gave to the world many centuries ago is more valuable today than ever before in this atomic age.

It is a right step to bring out a souvenir on this occasion giving the contribution of Lord Mahavir's preaching to the cause of humanity. I wish the celebrations and its organisers all success.

SAWAI MAN SINGH Maharaja of Jaipur



## सन्देश

मुफ्ते यह जान कर श्रपार हर्ष हुश्रा कि राजस्थान जैन सभा, जयपुर ने इस वर्ष भगवान महावीर की पुण्य जयन्ती पर एक महिला सम्मेलन का विशेष श्रायोजन किया है। श्राज जब समस्त विश्व नवीनतम वैज्ञानिक विध्वंसक उपकरणों के कारण विनाश के कगार पर बैठा हुश्रा है तब सृष्टि को बचाये रखने के हेतु भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित श्रहिंसा एवं सत्य श्रादि के सिद्धान्त ही सहायक सिद्ध हो सकते हैं। श्रतः,मैं सम्मेलन में भाग लेने वाली समस्त महिलाश्रों से विनम्र निवेदन करती हूं कि वे भगवान महावीर के दिये गये उपदेशों को श्रपने दैनिक जीवन में व्यवहारिक रूप प्रदान करें। ऐसा करने से ही उस महान विभूति की जयन्ती मनाना सार्थक होगा।

—गायत्री देवी महारानी जयपुर

## भगवान महावीर का शुभ संदेश

जीवो और जीने दो

भगवान महावीर के उपदेशों का प्रचार कीजिए श्रीर श्रपने जीवन में उतारिये।

राजस्थान जैन सभा द्वांरा प्रसारित

For

FROCKS & BABA SUITS

in

Modern Style and Latest Design in-Wash 'N' Wear Clothes

Bu

JACK 'N' JILL

Stockist

- 1. Readymade Palace S. M. Highway
- 2. Readymade House
- 3. Readymade Centre Johari Bazar, Jaipur Phone: 4539

With best compliments from PAPRIWAL BROTHERS

Iron Merchants
Chandpole Bazar, Jaipur

Awaz Amplifiers

Experts in Loud Speaker Arrangements
Chandpole Bazar, Jaipur

Jaina Watch Emporium Tripolia Bazar, Jaipur

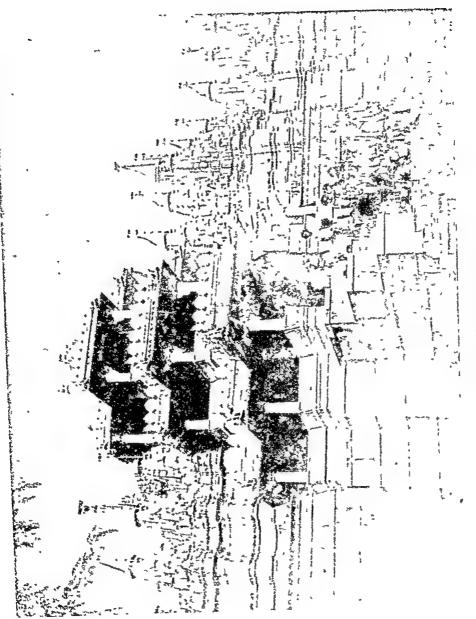
M. D. Pandya

Bankers Tripolia Bazar, Jaipur

PHONE { OFFICE: 2612 RESI.: 3814 SHANTILAL DURLABHJI

Manufacturing Jewellers, Order Suppliers, Exporters, Importers & Commission Agents

JOHARI BAZAR, JAIPUR.



जैन मन्दिर, रर्णकपुर

·}

## सम्पादक्षिय

श्री महावीर जयन्ती स्मारिका के द्वारा हमें पाठकों को कुछ ऐसा साहित्य देना है जो भगवान महावीर एवं उनके द्वारा उपिटण्ट धर्म दर्शन आदि के विषय में नानाविध दृष्टिकोणों से प्रकाश डालने का प्रयत्न करे। यद्यपि ऐसे प्रयत्न पहिले भी अनेक बार हुये हैं, पर वे पर्याप्त नहीं हैं; यह हमारा प्रयत्न भी पर्याप्त तो न होगा। सच तो यह है कि ऐसे प्रयास लगातार होते रहने की जरूरत अब भी और भविष्य में भी बनी रहेगी।

जैन धर्म संसार के अति प्राचीन धर्मों में से एक है। इसका देश की नाना भाषाओं में लिखा गया प्राचीन वाङ्मय इतना महत्वपूर्ण है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह धर्म अपने दर्शन, पुरातत्व, आचार, संहिता, स्थापत्य कला एवं मूर्ति कला आदि के कारण दुनियां के धर्मों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

बीद्धों के धार्मिक साहित्य के अध्ययन से अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि जैन धर्म बीद्ध धर्म से पहिले का है। प्राचीन वैदिक साहित्य में भी यत्र तत्र जैन धर्म के विपय में अनेक उल्लेख मिलते हैं। कहना यह है कि अब तंक जो अन्वेषण हुए हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म बहुत वर्ष पुराना है और यही कारण है कि विवेचक विद्वान जैन तत्वों को जानने के लिए आज बड़े उत्सुक जान पड़ते हैं। उनकी उत्सुकता दृष्ति के लिए हमें ऐसे साधन जुटाने का प्रयत्न करना चाहिए जो आवश्यक एवं अनिवार्य हों।

जैन धर्म की महत्ता केवल उसकी प्राचीनता के कारण ही नहीं श्रिपतु उसकी अनेक विशेषताओं के कारण आंकी जानी चाहिये। उसका स्याद्वाद (सापेक्ष दृष्टि) एक ऐसा सिद्धान्त है जिस की आज संसार के सम्पूर्ण धर्मों को ठीक परख कर उनका मूल्याङ्कन करने के लिए अत्यन्त जरूरत है। भगवती अहिंमा का सिद्धान्त भी आज के भयाकान्त, त्रस्त और पीड़ित मानव के लिए एक मृत्युं जय महीषधि है।

ग्रपरिग्रह भी ऐसा ही सिद्धान्त है। जब तक व्यक्ति समाज तथा राष्ट्रों में संचय को लालसा बनो रहेगी जगत में बान्ति स्थापित नहीं हो सकती। इसमें कोई शक नहीं है कि ये तीनों सिद्धान्त ग्राज की सभी समस्याग्रों के समाधान हैं। किन्तु यह मानने में हमें जरा भी संकोच नहीं होना चाहिये कि ये तीनों सिद्धान्त ग्राज स्वयं जैनों के जीवन में भी सिद्धान नहीं हैं। ग्रार सिक्षय होते तो यह कहा जा सकता कि वे संख्या में थोड़े होने पर भी देश की ग्रनेकानेक समस्याग्रों को हल करने में वड़े सहायक होते। दुःख है, कि ग्राज वे भी घोर रूढ़िवादी हैं एवं ग्रध परम्पराग्रों के पुजारी वने रहने में ही ग्रपना कल्याण समभते हैं। उन्होंने कभी विवश होकर जो बुराइयां उधार ली थीं उन्हें ग्राज भी छोड़ना नहीं चाहते। ग्रफसोस तो यह है कि उन्होंने उन्हें ही धर्म मान लिया है। सचाई यह है कि ग्राज जैनों के सामाजिक जीवन में धर्म के नाम से कुछ ऐसी बुराइयां वैठी हुई दृष्टि गोचर हो रही हैं जिनका जैन धर्म से कतई कोई सम्बन्ध नहीं है। हम देखते हैं कि जैनों के परवर्ती साहित्य में भी ऐसी बुराइयां विधि विहित एव समर्थित दोख पड़ती हैं।

कुछ ऐसी धार्मिक भ्रांतियां, मिथ्या विश्वास श्रीर संकीर्णतायें जैन जीवन में श्रा गई हैं जो सर्वथा ग्रसामाजिक एवं ग्रराष्ट्रीय हैं। ऐसी चीजों का मूल जैन धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये जितनी जल्दी हमारे वाह्य श्रीर श्रभ्यन्तर जीवन से सदा के लिए पृथक हो जाय उतना ही हमारा भला है।

ये चीजें समाज से तब तक दूर नहीं हो सकतीं जब तक जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों का परिचय लोगों को न कराया जाय। जो ग्रंघ विश्वास एवं गलत परम्परायें भारतीय समाजों में घर किये हुये हैं उन्हें दूर करना, प्रत्येक भारतीय का कर्षच्य है। ग्रीर यह तभी हो सकता है जब विभिन्न धर्मों के सत् सिद्धान्तों का प्रचार किया जाय।

यह प्रसन्नता का विषय है कि कुछ अर्से से प्रति वर्ष हमारे देश में श्री महावीर जयन्ती का उत्सव उत्साह के साथ मनाया जाने लगा है। अधिकांश प्रान्तों में इस अवसर पर सार्वजिनक अवकाश भी होता है। जैन व जैनेतर विद्वान इस उद्देश्य से किये जाने वाले प्रायोजनों में खुशी से भाग लेते हैं तथा भगवान महावीर एवं जैन धर्म के विषय में सव मिला कर लाखों श्रोताओं को अपने कीमती विचार सुनाते हैं। इन श्रोताओं को नैतिक जीवन की श्रोर बढते एवं उसे श्रीर भी समुन्नत बनाने के लिए प्रेरणा मिलती है।

ऐसी प्ररणाओं को वल देने तथा उनका स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ऐसी अनेकों स्मारिकाओं की ग्रावश्यकता है। इस स्मारिका में भगवान महावीर-उनके दर्शन उनके तीर्थ, जैन साहित्य एवं जैन कला ग्रादि के विषय में देश के अधिकारी विद्वानों एवं लेखकों ने लेख भेज कर जो हमें उत्साहित किया है, उसके लिए हम उनके बहुत वहुत कृतज्ञ हैं। उन्हीं की कृपा का फल है कि यह स्मारिका पाठकों के हाथों में पहुँच रही है।

राजस्थान जैन सभा को साधुवाद है कि उसने स्मारिका प्रकाशित करने का यह स्तुत्य कदम उठाया ।

प्रिन्सिपल जैन संस्कृत कालेज, जयपुर १५ स्रप्रेल, १६६२ चैनसुखदास

## प्रकृशिकीय

राजस्थान जैन सभा जयपुर जैन समाज के उत्साही नवयुवकों का एक मात्र संगठन है। युवकों में जीवन, जागृति एवं स्फूर्ति उत्पन्न करने में इस सभा का प्रारंभ से ही योगदान रहा है। पर्यू पर्यापव, क्षमापर्या समारोह वीरनिर्वाणोत्सव ग्रीर महावीर जयन्ती ग्रादि के पावन ग्रवसरों पर नाना-विध ग्रायोजन कर जन मानस को धर्म एवं कर्त्तव्य की ग्रीर ग्राकृष्ट करना इसकी ग्रनेक प्रगतियों में एक है।

राजस्थान विधान सभा में जो नग्न विरोधी बिल रखा था उसको वापिस कराने में इस सभा ने जो स्तुत्य कार्य कर उसमें सफलता प्राप्त की वह इस सभा के इतिहास में एक स्मरगीय अध्याय रहेगा।

पर्यूषण पर्व एवं महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रतिवर्ष अधिकारी विद्वानों को आमंत्रित कर उनके भाषण कराना इस सभा की विशेषता है। जयन्ती के अवसरों पर जैनों के सभी संप्रदायों का सभा के आयोजनों में पूर्ण सहयोग रहा है।

इस सभा की स्थापना सन् १६५२ में हुई थी। तब से यह उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त प्रत्येक सामाजिक व धार्मिक समस्याओं को सुलभाने में दत्तचित्र रही है। जैनों के खासखास पर्वो पर अवकाश स्वीकृत कराने आदि में इसने यथा शक्ति जो प्रयत्न किया है यह सभी जानते हैं। समाज के कई अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह, मृत्युभोज एवं अनेक असामाजिक कार्यो को रोकने के लिए किये गये सभा के प्रयासों की सभी विवेकियों ने प्रशंसा की है।

विगत वर्षों में अज्ञक्त एवं असहाय छात्रों को शिक्षा प्राप्ति में सहायता दिलाने, वेकार व्यक्तियों को रोजगार दिलवाने नवयुवकों में जैन दर्शन एवं जैन सिद्धांतों के अध्ययन के प्रति रुचि उत्तन्न करने में अपना सहयोग देकर सभा अपने उहें ह्यों की पूर्ति करने में अग्रसर रही है।

यह सभा जो भी काम करती है उसमें भगवान महावीर द्वारा प्रति पादित सर्व धर्म समभाव, सर्वजीव समभाव और सर्वजाति समभाव के महान सिद्धांतों को अपने सामने रखती है और समभती है कि जैन समाज की वीद्धिक, आर्थिक, शारीरिक और नैतिक उन्नित समूचे भारतीय राष्ट्र की पूरक है क्योंकि व्यक्ति से ही समाज और समाजों से ही राष्ट्र वनता है। कहने का आशय यह है कि सभा के सभी कार्य असांप्रदायिक भाव से होते हैं।

सभा का सदा से ही यह विचार रहा है कि कुछ ग्राघुनिक मौलिक प्रकाशनों द्वारा भग-वान महावीर के सर्वजीव हितकारी सिद्धांतों का प्रचार किया जाय। इसी लक्ष्य से सभा ने निर्णय किया कि एक महावीर जयन्ती स्मारिका नाम से ऐसी पुस्तिका प्रकाशित की जाय जिसमें ग्रधिकारी विद्वानों के भगवान महावीर, जैन साहित्य, दर्शन ग्रौर कला ग्रादि विपयों पर लेख हों ग्रौर इसके संपादन के लिए श्रो चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ से प्रार्थना की जाय। प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकृत की ग्रौर उसके फल स्वरूप ग्राज भगवान महावीर की २५६०वीं पावन जयन्ती के परम पुनीत अवसर पर यह स्मारिका पाठकों के हाथों में पहुंच रही है। जैन सभा इसके लिये उनकी ग्रत्यन्त कृतज्ञ है। सभा के सामने सदा ही ग्राधिक कष्ट रहा है। यदि ग्राधिक कष्ट की समस्या न हो तो इस प्रकार के ग्रनेक प्रकाशनों की योजना बनाई जा सकती है।

स्मारिका के प्रकाशन में जिन् महानुभावों ने हमें प्रत्यक्ष एवं ग्रप्रत्यक्ष रूप से जो भी सहयोग प्रदान किया है, उसके लिये हम उनके ग्राभारी हैं। हम विशेष तीर पर उन सभी विज्ञापनदाताग्रों के भी कृतज्ञ हैं जिनकी सहायता के फलस्वरूप इस स्मारिका का प्रकाशन सम्भव हो सका।

हमें ग्राज्ञा है पाठक इस स्मारिका से लाभ उठा कर हमें ग्राभारित करेंगे जिससे हमें भविष्य में स्फूर्ति ग्रीर प्रेरणा मिलती रहे।

जयपुर १५–४–६२ रतनलाल छाबड़ा मन्त्री राजस्थान जैन सभा

#### मंगल पाठ

चतारि संगलं, ग्रिरिहंता संगलं सिद्धा मंगलं । साह मंगलं केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं ।।

चत्तारि लोगुत्तमा । श्रिरहंता लोगुत्तमा । सिद्धालोगुत्तमा । साहू लोगुत्तमा । केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि । श्रारिहंता सरणं पव्वज्जामि । सिद्धे सरणं पव्वज्जामि । साहू सरणं पव्वज्जामि । केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।

चार मंगल हैं, मंगल अर्थात् अर्गुभ के विनाश का और गुभ के उत्पादक।
अरिहंत मंगल है। सिद्ध मंगल है। साधु मंगल है और केवल (तीर्थङ्कर) के
द्वारा प्रज्ञिप्त (श्राद्ध प्रतिपादित) धर्म मंगल है।

चार उत्तम हैं। ग्ररिहंत उत्तम है। सिद्ध उत्तम है। साधु (ग्राचार्य, उपाध्याय, ग्रीर साधक तपस्वो) उत्तम है ग्रीर केविल के द्वारा प्रतिपादित धर्म उत्तम है।

मैं चारों के शरण जाता हूं। ग्रिरहंतों के शरण जाता हूं। सिद्धों के शरण जाता हूं। साधुश्रों के शरण जाता हूँ। तीर्थङ्कर के द्वारा प्रतिपादित धर्म के शरण जाता हूँ।

## श्रपराजित महामन्त्र

णमो स्ररिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो स्राइरियाणं। णमो उवज्झयाणं, णमो लोए सन्व साहूणं॥१॥

श्रर्थ—जो सम्पूर्ण रूप से योग्य बन गये हैं श्रर्थात् जिन्होंने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, श्रीर अन्तराय नामक चार कर्मी (महाविकारों) को जीत लिया है उन विश्व के समस्त श्ररिहंत परमेष्टियों (जीवनमुक्त श्रात्माश्रों) को प्रणाम हो।

जिन्होंने सिद्धत्व को प्राप्त कर लिया है अर्थात् उक्त चार कर्मों के अतिरिक्त वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इस प्रकार सम्पूर्ण आठ कर्मों को जीतकर स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों के संपर्क से भी सदा के लिये मुक्त हो गये हैं उन संपूर्ण सिद्धात्माओं (सिद्ध परमेष्ठियों) को मेरा प्रणाम हो।

जो स्वयं दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार वीर्याचार नामक पांच ग्राचारों से अनुप्रािशत हैं ग्रीर दूसरों को भी इन सदाचारों से अनुप्रािशत करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं ग्रीर किसी भी प्रकार की ग्राित्मक त्रुटि होने पर जो उसके शोधन के लिये प्रायश्चित दण्ड व्यवस्था करते हैं जो ग्रपने संघ पर शासन करने के ग्रपने महान उत्तरदाियत्व को निभाते हैं उन सभी श्राचार्य परमेष्ठियों को मेरा प्रशाम हो।

जो स्वयं ज्ञानाराधक होते हुए हैं श्रौर दूसरों के श्रजान नाश करने के पुनीत कार्य में सतत् लगे रहते हैं। श्रथित् जो मानव मात्र के शिक्षक हैं उन उपाध्याय परमेष्ठियों की मेरा प्रसाम हो।

जो निरन्तर श्रात्म साधना में लगे रहते हैं। जो श्रिहिसादि पंच महावतों के धारण करने वाले हैं। जो इन्द्रिय विजेता हैं श्रीर पांच समितियों के पालन करने वाले हैं संसार के उन सभी साधुश्रों को मेरा प्रणाम है।

## महावीर संदेश

जो प्राग्गों में था ग्रोत प्रोत,

उस तमस्तोम का भेदन कर।

तुमने विवेक के नयनखोल,

जग को जीवन पथ बतलाया

कैसे जीना, कैसे मरना,

कैसे रहना इस दुनियां में।

तुफानों पर शासन करना,

कैसे, तुमने यह समकाया।।

स्वात्मानुभूति के वारिद से, वरसाया ज्ञानामृत ग्रपार। निर्द्वेन्द्व किया सब सत्व वर्गे मानव मानस का हर विकार श्रौ जन्म विरोधी जीवों को, एकात्म-तत्त्व का पाठ पढा। उत्ताप हीन कर वसुधा को सिखलाया मानव धर्म सार।।

नारी के बंधन खोल दिये, शूद्रों को सन्मित दे वोले तुम भी निर्वृति पा सकते हो, पर शोधो ग्रपने को पहले। उन्मुक्त द्वार है उन्नित का, रोके कोई कैसे भाई? मेरे जैसे हो तुम सब ही, है सबने मानवता पाई॥ सारे धर्मों का जीवन क्या ?— है, एक ग्रहिंसा परम तत्व । उसका प्रेरक है किंतु सत्य, जो जीवन निष्ठा का महत्त्व है किंतु समन्वय में रहता,— है निगमागम का निखिल मर्म । लडते धर्मों को वतलाया, तुमने सक्षम स्याद्वाद तत्त्व।

तुम सबकी भाषा में बोले,

मंगलमय, पावन प्राणदान—

मूकों को देकर, ग्रमर हुए,

तब तेरी महिमा का वितान

फैला जग के कण-कण में है

भागे निशिचर माया के तव

श्रोखुला सत्य का रुद्ध द्वार

गाया सबने श्रानंद गान।

म्रियमाण धर्म को तुमने हो,

दी मृत्युं जय श्रीपधि महान।

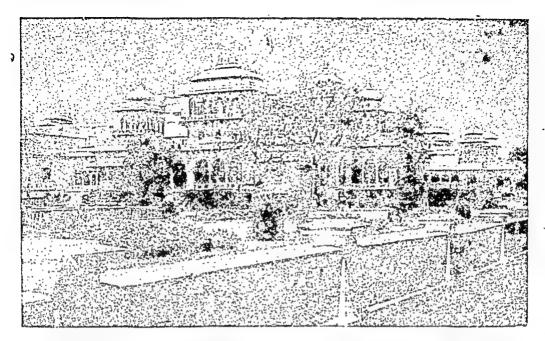
कर निर्विकार उसकी काया,
चिर जीवन का दे उसे दान।

पाखंडों में है धर्म कहां ?

वह तो केवल श्रात्माश्रित है।

यह दिव्य घोष फैला जग में,

तेरा है वीर दया निधान॥



## THE RAMBAGH PALACE

JAIPUR.

Arrangements for special Banquets, Luncheon, Dinner and Tea Parties undertaken in its large and beautifully decorated Banquet Hall, Private Dining Room or on the vast green lawns, at very reasonable price.

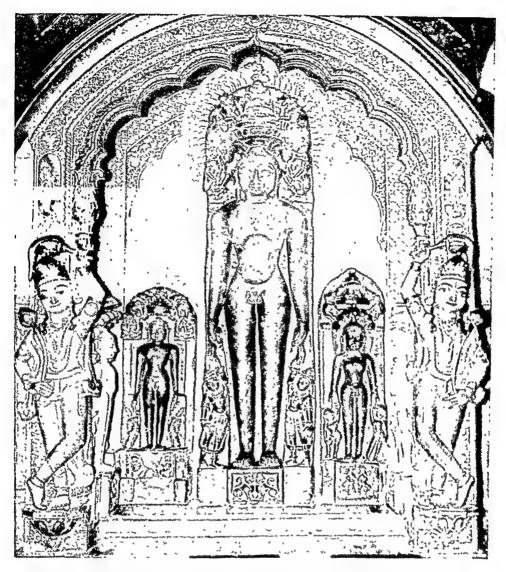
Private Halls for Conferences and Meetings are also available.

For first class catering and efficient service

. contact :

THE RAMBAGH PALACE

Phone: 3798 Cable: RAMBAGH



महावीर स्वामी के (कालाडेरा का मन्दिर, गोपालजी का रास्ता, जयपुर) मन्दिर में भगवान महावीर की कलापूर्ण मूर्ति यह मूर्ति सं. ११४७ की वनी हुंई है

		•

#### डा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम.ए., एल एल. बी., पी-एच. डी., लखनऊ

## युग प्रवर्तक महावीर

**म**हाभारतोत्तर काल का श्रमण पुनरुद्धार ग्रान्दो-लन ग्रपने चरमोत्कर्ष्को छठी शताब्दी ई० पू० में पहुँचा ग्रीर उस समय उसके प्रमुख नेता चौबीसवें तीर्थं द्धुर निर्प्रन्थ ज्ञातुपुत्र वर्धमान महावीर थे । महावीर युग घार्मिक जगत में एक श्रद्भुत क्रान्ति, तत्यचिन्तन एवं दार्शनिकविचार बाहुल्य का युग था । भारतवर्ष में ही नहीं, समस्त सभ्य संसार में ज्ञान, जागृति एवं नव-चेतना की लहर व्याप्त थी। चीन में वंनफुशस और लाम्रोन्सें, ईरान में जरशुरत, फिलस्तीन में मूसा, यूनान में पैथेगोरस ग्रादि ग्रंनेक प्रख्यात विचारक, दार्शनिक अथवा घमंत्रवर्तक तत्कालीन सभ्य संसार के विभिन्न भागों में ग्रपने ग्रपने घर्म ग्रयवा विचारों का प्रचार कर रहे थे ग्रीर जनसाघारण को ज्ञान दान कर रहे थे। इन सब के उपदेशों की एक सामान्य विशेषता यह थी कि मानव के महत्व एवं व्यक्तिगत सदाचार पर अधिक वल दिया जाता था, जो कि श्रमण संस्कृति की जन्मजात विशेपताएँ थीं।

स्वयं भारतवर्ष में श्वेतकेतु, उद्दालक, याज्ञवत्क्य ग्रादि पूर्वी ब्राह्मण ऋषि ग्रीर जनक, प्रवाह्ण जैवालि ग्रादि चत्रिय विद्वान ग्रीपनिषदिक ग्रध्यात्मवाद का प्रवार कर रहे थे। पश्चिमी क्रियाकाएडी ऋषि गृह्य श्रोत एवं धर्म भेदों से सूत्र साहित्य की रचना कर रहे थे। वेदों की संहिताएँ वन रही थीं ग्रीर उन पर निर्मुक्त ग्रादि टीकाएं रची जा रही थीं। साथ ही कषिल कणाद, गौतम, जैमिनी ग्रादि विद्वान् सांख्य, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा ग्रादि पड्दर्शनों का विकास कर रहे थे। वानप्रस्थ ग्राश्रम एवं प्रवज्या का तथा ज्ञान-साधना, तपश्चर्या ग्रीर तत्विन्तन का प्रसार वेदानुयायी समाज में भी बढ़ रहा था। इस युग के महापुरुपों में सर्वाधिक उल्लेखनीय स्थान बौद्धधर्म के प्रवर्तके गौतमञ्जूद्ध के ज्येष्ठ समकालीन वर्धमान महावीर का था। वुद्ध स्वयं उनके तेज से प्रभावित थे श्रीर उनका समादर करते थे। महावीर के धर्मचक प्रवर्तन के साथ ही सव पर यह स्पष्ट हो गया कि श्रमण परम्परा में जिस श्रन्तिम तीर्थङ्कर के होने की श्रनुश्रुति थी वह वर्धमान महावीर ही थे।

दूसरी ग्रोर, श्रमण परम्परा में यह लोकानुश्रुति जोरों पर थी कि इस काल में म्रन्तिम तीर्थङ्कर के रूप में एक युगपुरुप जन्म लेने वाला है। प्रतएव उक्त परंपरा के ग्रनेक विचारक एवं सुघारक अपने प्रापको तीयंद्धर घोषित करके अपने अपने मन्तव्यों का जनता में प्रचार करने लगे । मनखिलगोशाल, पूरणकाश्यप, पनुधकात्या-यन, अजितकेशकम्बलिन, संजयवेलद्विपुत्त, गौतमबुद्ध, निर्ग्रन्य ज्ञातुपुरमहाबीर ग्रादि ग्रनेक व्यक्तियों ने ग्रन्तिम तीर्थङ्कर होने का दावा किया। वीद ग्रनुश्रुति में स्वयं वृद्ध को छोड़कर उक्त छः तत्कालीन तीयंकरो का उल्लेख है। जैन अनुश्रुति में भी इन विभिन्न एकान्ती विचारकों का उल्लेख पाया जाता है। उससे तो यह भी पता चलता है कि उस काल में छोटे बढ़े सब मिला-कर तीनसी-नेसठ पापंड या घामिक सम्प्रदाय प्रचलित थे या हो रहे ेथे, जिनमें उपयुंत्लिखित ब्राह्मण एवं श्रमण विचारकों के मत प्रमुख थे। सदाचार की इस प्रवल लहर की प्रतिक्रिया के रूप में उच्छुङ्खल एवं नास्तिक चार्वाक मत जैसे कतियय वाम मार्गो का प्रचार भी उस काल में हुया।

इस युग के महापुरुषों में सर्वाधिक उल्लेखनीय स्थान बौद्धधर्म प्रवर्तक गौतगबुद्ध के ज्येष्ठ समक्षालीन वर्धमान महावीर का था । बुद्ध स्वयं उनके तेज ने प्रभावित थे ग्रीर उनका समादर करते थे। महावीर के धर्मचक्र प्रवर्तन के साथ ही सब पर यह स्पष्ट हो गया कि श्रमण परम्परा में जिस ग्रन्तिम तीर्थं झूर के होने की अनुश्रति थी वह वर्धमान महावीर ही थे । ऋष-भादि पार्श्वनाथ पर्यन्त श्रमण परम्परा के जो तेईस तीर्थञ्कर ग्रतीतकाल में हो चुके थे उन्हीं की परम्परा में उसी ग्रहिसामयी अरहंत धर्म ग्रयवा आत्मधर्म का पून: उद्धार, संस्कार एवं प्रचार करने के लिये ग्रन्तिम तीर्थ-ङ्कर महावीर का जन्म हुम्रा था । उन्होंने न किसी नवीन घर्म का प्रचार करने का दावा किया, न कोई नवीन मार्ग खोज निकाला । उन्होंने किसी देवी-देवता. देवी अथवा गुप्त (या ग्रैवो) शक्ति का भी आश्रय नहीं लिया श्रीर किसी राजा महाराजा की सहायता भी नहीं चाही । उनकी सबसे वड़ी विशेषता यही थी कि उन्होंने एक सामान्य मनुष्य के रूप में जन्म लिया था श्रीर एक सामान्य संसारी व्यक्ति के रूप में ही वाल्यावस्या एवं कुमार काल व्यतीत किये थे, किन्तु स्वपुरुपार्थ ग्रीर म्रात्म साधन द्वारा उन्होंने प्रपनी मातमा को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा दिया था। उन्होंने ग्रात्मकल्याण के चिर प्रचलित एवं तीर्थं द्वारी प्राचीत मार्ग का स्वयं ग्रपने जीवन में शुद्धतम एवं श्रेण्ठतम रूप से ग्रव-लम्बन करके जनत मार्ग का श्रीचित्य चितायं कर विखाया था श्रीर सर्वसत्व—हित—सुखाय उस मार्ग का जीवमात्र को ग्रयक उपदेश दिया था । यही महाबीर की सबसे बड़ी विशेपता थी श्रीर इसी के कारण विश्व के महापुरुपों के उस महायुग में भी वे ग्रपना विशिष्ट स्थान रखते थे। ग्राज भी न केवल वे जैनधमं के इतिहास के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं बरन प्राचीन भारत के इतिहास में तथा विश्व के धर्मों के इतिहास में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान है। जैनधमं का तो जो कुछ वर्तमान रूप है तथा उसके विगत ग्रवाई सहस्त्र वर्षों का जो कुछ इतिहास एवं संस्कृति है, उस सबका सर्वाधिक श्रेय ग्रन्तिम तीयंद्धर भगवान महावीर को ही है।

उस सार्वकालीन महापुरुप की जयन्ति स्मारिका का वर्तमान विश्व के जीवन संघपं रत मानवों के लिये सबसे वड़ा सन्देश यही है कि—'ब्रात्मनः प्रतिकूलानि परेपां न समाचरेत्'।

कहं चरे ? कहं चट्टे ? कहमासे ? कहं सए ? कहं भुजन्तो भासन्तो पार्व कम्मं न वन्यइ ?

(भनते ! कैसे चले ? कैसे खडा हो ? कैसे चैठे ? कैसे सोए ? कैसे भोजन करे ? कैसे वोले ?—जिससे कि पाप कर्म का बन्ध न हो )

जयं चरे जयं चट्टे जयमासे जयं सए ! जयं भुजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न चन्धइ !!

( श्रायुष्मन् ! विवेक से चलो; विवेक से खड़ा हो; विवेक से वैठे; विवेक से सोए; विवेक से भोजन करे श्रीर विवेक से ही वोले तो पाप कर्म नहीं वंध सकता)

#### डा. प्रेमसागर जैन एम. ए., पी. एच. डी., बडीत

## भगवान महावीर और उनके समकालीन जैन साधक

महावीर एक ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका महात्मा गौतमबुद्ध से पृथकत्व प्रमाणित हो हुंचुका है। कभी दोनों को एक ही समक्ष लिया गया था। यह अम पाश्चात्य विद्वानों ने उत्पन्न किया था। निराकरण भी उन्हों ने किया। सबसे प्रथम प्रो० जैकोबी ग्रीर डा० त्युमान ने जैन ग्रागम सूत्रों के ग्राघार पर सिद्ध किया कि महावीर बुद्ध से पृथक ही नहीं ग्रपितु उनसे कुछ वर्ष बड़े भी थे। डा० त्युमान ने लिखा कि महावीर को तीर्थक्कर संज्ञा वैसी ही निराली है, जैसी बुद्ध की तथागत।

फिर भारतीय विद्वानों का प्रयास भी प्रारम्भ हुम्रा। डा० कांशीप्रसाद जायसवाल ने खारवेल का शिलालेख १६ वर्ष में पढ़ा। उसमें लिखा है, "वधमान से स यो वे (व) नाभि विजयो'', प्रथति वचपन में खारवेल का सीन्दयं महावीर जैसा था । खारवेल कलिव्झ का राजा था और मंगव से जिनमूर्ति जीतने के उपरान्त उसने यह शिलालेख उत्कीर्ण करवाया था। इसका समय ईसा से १७० वर्ष पूर्व माना जाता है। इससे भी पूर्व का एक ग्रीर प्रमागा उपलब्ध हुमा है। वह है बडली `(राजस्थान) से प्राप्त एक शिलालेख । उसमें लिखा है, "विराय भगवत् ५४ चतुरासिति वस --- - ऋषे सालिमालिनीयर निविठ मिजिमिने ।" प्रयति भगवान महावीर के लिए पुष्ठ वें वर्ष में मध्यमिका में सालिमालिनि ।" डा॰ जायसवाल ने इसका उत्कीर्ण काल ३७४ ई० पूर्व माना के कंकालो टीले की खुदाइयों में है 13 मथुरा

श्रहिंसा का जैसा समूचापन महावीर की दिन्यवाणी में प्रस्फुटित हुआ, वैसा कहीं देखने को नहीं मिलता। यद्यपि वौद्ध भिज्ज श्रहिंसा के श्रनुयायी थे पर वे आगे चल कर मांसाहार को उचित मानने लगे। मांसाहारी देशों में वौद्ध धर्म के द्रुतगित से फैलने का कारण भी यह ही था। महावीर ने श्रहिंसा को ही श्राध्यात्मिक साधना माना। उन्होंने कोरे सत्य को कभी स्वीकार नहीं किया।

स्रनेक ऐसे शिलापट्ट मिले हैं, जो ईसवी पूर्व प्रथम शती के हैं। जहां तक मूर्तियों का संबंध है वह सबसे प्राचीन ५३ ई० पूर्व है, जो कनिष्ठ के राज्य काल में रची गई थी। यह मथुरा की खुदाइयों में प्राप्त हुई है। जैन स्तूप भीर मूर्तियां भगवान पार्श्वनाथ के समय में ही वनने लगी थीं। उ मोहनजोदड़ो की खुदाइयों से तो अब मूर्तिकला का इतिहास बहुत पीछे तक चला जाता है। मोहनजोदड़ो की मूर्तियों में से एक पर डा० प्राग्तनाथ ने 'श्री जिनाय नमः' पढ़ा है।

पुरातत्व के म्रतिरिक्त प्राचीन ग्रन्थ भी महावीर के पुनीत मस्तित्व को प्रमाणित करने में सहायक हैं। ऋष्वेद भीर यजुर्वेद में महावीर का उल्लेख है। मिल्मिमिनिकाय, न्यायिवन्दु, भंगुत्तरिनकाय, संगुक्तिनकाय भीर समागम सुत्त म्रादि वौद्ध ग्रन्थों में महावीर की प्रशंसा की गई है। पटखर्डागम सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, सूत्रकृतांग सूत्र, जयधवल भीर नन्दी सूत्र भादि प्राचीन जैन सूत्र ग्रन्थों में महावीर की वन्दना में अनेक पद्यों का निर्माण हुमा है। महावीर की वन्दना में अनेक पद्यों का निर्माण हुमा है। महावीर की सबसे प्राचीन स्तुति दूसरे भंग मूत्रकृतांग में उपलब्ध है। इसके पश्चात् भ्राचार्य समन्तभद्र की वीर स्तुति हृदयग्राही है। उसके वाद तो संस्कृत, प्रपन्तीर स्तुति हुद्यग्राही स्तुत्त स्तुति हुद्यग्राही है। उसके वाद तो संस्कृत स्तुति स्तुति स्तुति स्तुति स्तुति सूत्र स्तुति स्तुति

१. बुद्ध अने महावीर, पूना, पृ० १२

२. जर्नल ग्राव दी बिहार एण्ड घोड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १६ ए० १६७

३. मदनमोहन नागर, मथुरा का जैन स्तूप श्रौर मूर्त्तियां, प्रेमी श्रभिनन्दन ग्रन्य, पृ० २८०

भ्रंश श्रीर हिन्दी में रचा गया बीर परक जैन साहित्य इतना श्रविक है कि 'महाबीर श्रांर उनकी भक्ति' लेकर एक शोध प्रवन्य ही लिखा जा सकता है। महाबीर केवल जैन समाज के ही नहीं, श्रपितु समूची भारतीय चेतना के प्रेरणा सूत्र रहे है। भारतीय संस्कृति की पावनता महाबीर की देन है।

जैन ग्रागम सूत्रों में महावीर का जीवन चरित्र बहुत कुछ सुरिद्यत है। उनमें भी पंचमांग भगवती या विवाह प्रज्ञप्ति ग्रत्यधिक महत्वपूर्ण है । उसमें भगवान गहावीर के जीवन से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री संकलित है। विशेषता है कि गोशालक का वर्णन करते हुए वान ने अपने मुहँ से अपनी आत्म कथा कही है। ै इसी श्रंग में भगवान के समकालीन श्रनेक व्यक्तियों का वर्णन है। इसी भांति पहले ग्रंग ग्राचारांग में भगवान के साधक जीवन का विपद विवेचन है। अभी तक इन अंगों की खोज बीन कर महावीर के जीवन सूत्रों से कोई प्रामािएक ग्रन्थ नहीं लिखा गया, कैसे श्राश्चर्य की वात है । श्रव एक ग्रन्य विजयेन्द्रसूरि का 'तीर्थं ङ्कर महावीर' यशोधमं मन्दिर, बम्बई से प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ का केवल प्रथम भाग है। अभी उसके अन्य भाग भी प्रकाशित होंगे। विद्वान लेखक ने साधना की है श्रीर उसका यह परिणाम है। इसके पूर्व भी अनेक प्रयास हुए है, किन्तु वे नगर्य ही हैं।

#### जीवन चरित्र

महावीर के समय को लेकर कोई विवाद नहीं है। दिगम्बर् मीर श्वेताम्बर दोनों ही ग्रन्थों के अनुसार महावीर का जन्म ईस्वी पूर्व ५६८ में और निर्वाण ईस्वी पूर्व ५२७ में हुग्रा था। निर्वाण को लेकर कल्पसूत्र और उत्तरपुराण में यिरकचित् अन्तर है। कल्पसूत्र के अनुसार महावीर पूर्ण ७२ वर्ष जीवित रहे, जबिक उत्तरपुराण में उन्हें ७१ वर्ष और कुछ माह का लिखा है। इसका प्रामाणिक विवेचन इस लेख का विषय नहीं

है। अन्य विद्वान उस पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। इस विषय में घवलाटीका, तिलोयपएएति, विलोकसार, तपागच्छ और नन्दीसंघ की पट्टावली आदि दिगम्बर ग्रन्थों को भी पढ़ना होगा। इस विषय में बौद ग्रन्थों का सहाय्य महत्त्वपूर्ण होगा। प्रस्तुत लेख के लिये तो इतना पर्याप्त है कि महावीर का जन्म ५६५ ई० पूर्व और निर्वाण ५२७ ई० पूर्व हुआ।

महावीर का जीवन चरित्र सभी ग्रन्थों में समान रूप से विशास है। कहीं कहीं थोड़ा वहत भेद पाया' जाता है, जो नगएय सा ही है। महावीर का जन्म चित्रय कुएड ग्राम में हुम्रा था। उनके पिता का नाम सिदार्थ श्रीर माता का नाम त्रिशला था। त्रिशला वैशाली के राजा चेटक की पुत्री थी। चेटक की ही दूसरी पुत्री चेलना थी, जिसका परिगाय मगघ के सम्राट विम्बसार के साथ हुया था। चत्रिय कुएड ग्राम वैशाली का ही एक भाग था। महावीर को 'वैसालिय' कहा जाता है। र वे चात्रकुल में जन्मे थे । उन्हे 'नातपूत्त' कहते हैं। उनका जन्म निग्रंन्थ परम्परा में हुम्रा था। उनके माता-पिता २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के घमं को मानते थे। वे प्रति दिन एक पार्श्वं चैत्य में बंदना के लिये भी जाया करते थे। पहले जैन सायुग्नों को निग्नंन्य ही कहा जाता था | महावीर के लिये 'निगएठ' शब्द का शताधिक बार प्रयोग हुमा है। गौवमबुद उन्हें 'निगएठनातपुत्त' कहा करते थे। 3

जैन पुराणों, चिरत्रों, कथा-प्रत्थों ग्रीर स्तुति-स्तीत्रों में महावीर के पंचकत्याणकों का भक्ति परक विवेचन हुमा है। तीसरे तप-कत्याण के प्रारम्भ में जैन तीर्थंकर वैराग्य की ग्रोर उन्मुख होता है। प्रत्येक तीर्थंद्धर का ग्रपना एक विशेप संयोग है, जिससे उसकी मानस घारा वीतरागी दीचा की ग्रोर मुड़ती है। सम्राट ऋषभदेव के दरवार में नीलांजना नाम की एक श्रप्सरा नृत्य करते करते ही दिवंगत हो गई। जीवन की इस चला भंगुरता

१. इसकी तुलना पब्बज्जा-सुत्त [ सुत्तनिपात ] में वर्णित बुद्ध की श्रात्मकथा से क़ी जा सकती हैं।

२. 'स्ररहा नायपुत्तें भगवं वेसालिए वियाहिए त्ति वेमि' सूत्रकृताङ्ग सूत्र, २।३

३. धम्मपदद्ठ कथा, जिल्द तीसरी, पालिटैक्स्ट सोसाइटी, पृ०, ४८६

से युवा ऋषभदेव के हृदय में वैराग्य का संचार हम्रा। दुल्हा के वेश में सजे नेमिनाथ दीन पश्चमों की करुण पुकार से वीतरागता की ग्रोर भूते। विश्व की ग्रनिद्य मुन्दरी राजीमती से विवाह नहीं किया। एक मनोवैज्ञा-निक की हिष्ट में ये बाह्य प्रसंग एक व्यक्ति के जीवन को तभी परिवर्त्तित कर पाते हैं, जब उसमें 'ग्रसंयोजित प्रसंग' के अनुकूल प्रबल संस्कार रहा हो । भले ही जैन तीर्थंकरों का बाल ग्रीर योवन वैभव-सम्पन्न वातावरण में बीता हो, किन्तु वीतरागता उन्हें पूर्व संस्कार के रूप में प्राप्त हुई थी। वीतरागता उनके खून में व्याप्त थी। महावीर का वैराग्य किसी बाह्य-प्रसंग पर नहीं, भिपित उनके अपने अध्ययन और चितन पर आधारित था। उनके पूर्व जन्म की अनुभूतियां उभरी ग्रीर उन्होंने अपने माता-पिता से दी हा के लिये अनुमति चाही। दो वर्ष तक उनकी भ्रौर उनके माता-पिता की इच्छा-शक्तियों में संघर्ष चलता रहा। जीत महावीर की हुई और वे सव की ख़ुशियों के बीच तप करने चले गये। वे संसार से भागे नहीं, डरे नहीं। उन्होंने कुछ को छोड़ा सब को पाने के लिये ।। अपने को पाये बिना सबको नहीं पाया जा सकता, अत: उन्होंने अपने को पाने का प्रयास किया। उनका प्रयास म्राध्यातिमक था । म्राध्यामिक साधना का ग्रर्थ है सत्य ग्रीर ग्रहिसा। कोरा सत्य नहीं, कोरी ग्रहिसा नहीं। इनमें से एक पर किया गया आग्रह एकांगी हो सकता है, स्रत: महावीर ने समन्वयात्मक पथ का उद्योतन किया। गान्धी ने भी इस रहस्य को समभा था। ग्रन्यथा उनके सत्यागृह का रचनात्मक रूप ग्रहिसक कैसे होता। इस साधना से महावीर ने अपने की पाया और उसके साय ही विश्व को । उनकी चेतना ने विश्व व्यापी रूप धारण किया।

### केवल ज्ञान

महावीर के हृदय में तप की सोई भावना जाग्रत हुई श्रीर उन्होंने वीतरागी दीचा घारण कर ली ! वीतरागी दीचा परम्परा से चली आ रही थी ! उसका एक प्रशस्त मार्ग था ! महावीर के पूर्व २३ तीर्ध करं उसे घारण कर चुके थे ! साधना—पय को लेकर महावीर के हृदय में भटकाव नहीं था । उन्होंने जिस मार्ग को श्रपनाया, उस पर उनका पूर्ण विश्वास था, श्रद्धा थी । इसलिये उनके कदम मजवूत थे । साधना भी मजवूत हुई । उन्होंने १२ वर्ष की सतत् साधना से ऋजुकूला नदी १ के तट पर केवलज्ञान प्राप्त किया । इसी को उपनिषदों की भाषा में 'कैवल्यपद' कहते हैं ।

केवलज्ञान का ग्रथं है सर्वसत्व । बुद्ध ने महावीर के सर्वसत्व को स्वीकार किया था। मजिसमिनकाय से ऐसा सिद्ध है । सर्वसत्व सदैव महावीर के साथ रहता था। वह ग्रात्मा की पूर्ण विशुद्ध दशा से उत्पन्न हुमा था। दूसरी स्रोर वोधि की व्याख्या करते हुए मिलिन्दपएह में लिखा है, "गौतम की सर्वसत्ता सदैव उनके पास नहीं रहती थी, अपितु उनके विचार करने पर अवलिम्बत थी। "3 कुछ भी हो महाबीर के सर्वसत्व श्रीर उनकी दिव्यवाणी का बुद्ध की ख्याति पर प्रभाव पड़ा या । बुद्ध के जीवन की ५० वर्ष से ७० वर्ष तक की श्राय की घट-नाम्रों का उल्लेख नहीं गिलता। इसका एकमात्र कारण महावीर की वृहङ्कत रूपाति थी। यह भधन 'पासादिक स्तन्त' से श्रीर भी स्पष्ट हो जाता है। उसमें लिखा है कि बृद्ध के प्रमुख शिष्य ग्रानन्द को जब पावा के चएड के द्वारा महावीर के निर्वाण की सूचना मिली, तो उसने तुरन्त ही इस समाचार को तथागत के समझ उपस्थित

१. ऋजुकूला नदी का तट जहां भगवान को केवल ज्ञान की उत्पत्ति हुई, श्राजकल विहार-उड़ीसा के श्रन्तर्गत माना जाता है । कहा जाता है कि वाराकर नदी ऋजुकूला थी। छोज की श्रावश्यकता है।

२. देखिए चूल दुनखन्छ-मुत्तन्त (मिन्समः १।२।४) तया चूल मुकुलदायि-मुत्तन्त (मिन्समः २।३।६)

३. मिलिन्दपण्ह ( S. B. E. ) भाग ३५ वां, पृ० १५४

करने योग्य समका।

अहिंसा का जैसा समुचापन महावीर की दिव्यवाणी में प्रस्फूटित हुआ, वैसा कहीं देखने को नहीं मिलता। यद्यपि बौद्ध भित्त ग्रहिंसा के अनुयायी थे पर वे ग्रागे चल कर मांसाहार को उचित मानने लगे। मांसाहारी देशों में बौद्ध घमं के द्रुतगित से फैलने का कारण भी यह ही था। महावीर ने ऋहिंसा को ही श्राध्यात्मिक साधना माना । उन्होंने कोरे सत्य को कभी स्वीकार नहीं किया । उनकी दृष्टि के अनुसार ग्रहिसा की यरिकचित् भी कमी सत्य को ग्रहंकार से भर देती है। उन्होंने दोनों के सम-न्वय पर जोर दिया । महात्मा गान्धी ने इसको समसा था। इसी कारए। उनके 'सत्याग्रह' में सत्य का श्राग्रह केवल शाब्दिक रहा, रचनात्मक रूप में सत्य के साथ म्रहिंसा को प्रमुखता मिली है। महावीर ने ग्रपनी दिव्य-वाणी में प्रहिसा को प्रेम कहा है । वास्तव में उनकी ग्राध्यात्मिक साघना प्रेमसाघना ही थी। इसी ग्राघार पर जैन ग्राचार्य 'सत्वेपुमैत्री' वाला गीत गा सके । ग्रीर इसी प्रेम रूप के सहारे भक्तों के दिल टिके रहे।

## ग्रसंख्य भक्ति साहित्य

महावीर मोक्तगामी थे। वे संसार के कर्ता-घर्ता नहीं, अच्छे-बुरे के दाता-प्रदाता नहीं, फिर भी उनको लेकर प्रसीम भक्ति साहित्य का निर्माण हुप्रा । प्रसंस्य मृतियां रची गईं, ग्रसंस्य मन्दिर ग्रीर चैत्य वने । महावीर भले ही कुछ न करते हों, कुछ न देते हों, किन्तु उनका व्यक्तित्व प्रेम के ऐसे घागों से बुना गया था, जो मीन रहते हुए भी प्रेम की प्रेरणा देता रहा। भक्त भगवान की मुक्ति में जा विराजने के लिये उपालम्भ भी देता रहा ग्रीर प्रेरणा भी पाता रहा। "तुम प्रभु कहियत दीन-दयाल । ग्रापन जाय मुकति में वैठे हम जु रुलत इह जग-जाल।" कहने वाला ही भक्त कवि, "मेढक हीन किए ग्रमरेस्र, दान सबै मनवांखित पाए। द्यानत ग्राज लौ ताहीं को मारग सारग है सुख होत सवाए ॥" गा सका जिसके दर्शन मात्र से ही हीन मेडक तर सका हो, वह भगवान अवश्य ही जीव-मात्र के लिये प्रेम का प्रतीक होगा । उसकी उदारता का विस्तार विश्वव्यापी बन सका

होगा। उसका ग्रहं ग्रहंकार नहीं, ग्रिपतु विश्व-ग्रहं में परिणित हो सका होगा।

## भाव शुद्धि पर बल

महावीर ने सदैव भावशृद्धि पर वल दिया । नग्नता भावश्दिका एक श्रावश्यक साधन मात्र है, किन्तू नग्न होने से कोई समूचे रूप में शुद्ध ही हो जायेगा, यह अनि-वायं नहीं है। इसी कारण अनेक जीव मृनि-पद घारण करके भी भव समुद्र में तर न सके । उस समय दिगम्बरत्व साधु का चिन्ह था। इतिहास से सिद्ध है कि उस समय के ग्राजीवक साधु भी नग्न रहते थे। महावीर भी नग्न वने । किन्तु उन्होंने गेरुग्रा वस्त्रों की भांति नग्तता को साधुत्व का 'फरान' नहीं बनने दिया । 'फरान' कैसा ही हो भावश्दि में वाधक बनता है। ग्रागे चल कर हिन्दी के सन्त कवियों ने जिन वाह्य डम्बरों का विरोध किया, उनसे सैंकड़ों वर्ष पूर्व महावीर ने साघू के सभी वेशों का निराकरण करते हुए केवल भावों की पावनता को ही प्रमुखता दी थी। धारो चल कर दिगम्बर साधुम्रों के क्रिया-काएड भी इतने वढ़े कि उन पर मोटे-मोटे प्रन्थों की रचना हुई। महावीर के दिगम्बर जीवन में उनका कोई मूत्य नहीं था। महावीर को कई दिनों से आहार नहीं मिला था। उनकी प्रतिज्ञा थी कि कुं मारी, जंजीरों में जकड़ी और रोती हुई कन्या के हाथों म्राहार लेंगे। एक दिन उघर से निकले, जहां चन्दना को कैंद करके रक्ला गया था। वह रो रही थी, उसके म्रागे कैदी का खाना रक्बा था। उसने जंजीरों से जकडी दशा में ही भगवान को भोजन के लिये ग्रामंत्रित किया । उन्होंने स्वीकार किया ग्रीर कैदलाने के सींकचों के वाहर, संकरी सी गली में खड़े होकर वह कैदियों वाला भोजन ले लिया। महावीर सभी प्रकार के क्रिया काएडों से नितांत दूर थे।

महावीर से ढाई सी वर्ष पूर्व २३ वें तीर्थ कर पार्थ-नाथ का जन्म हुम्रा था। इतिहास ने उनके म्रस्तित्व को मान लिया है। उनका युग चला म्रा रहा था। उन्हों के नाम पर वीतरागी साधु जैन दीचा ले रहे थे। मैं पिछले पृष्ठों पर मुनि पिहिताश्रव का नाम ले चुका हूं। वे पार्थनाथामनायी थे। उन्हों से बुद्ध में दीचा ली थी। इन साधुश्रों में गोशालक का नाम मुख्य रूप से लिया जाता है। उसका पूरा नाम था मंखलिगोशाल। श्राचार्य देवसेन के दर्शनसार में मंखलिगोशाल श्रीर पूरणकाश्यप का एक साथ उल्लेख हुम्रा है। दिगम्बर ग्रन्थ दोनों को एक मानते हैं। दोनों ही ग्राजीविक मत के नेता थे। किन्तु बौद्ध ग्रन्थों से स्पष्ट है कि वे भिन्त दो व्यक्ति थे। ग्रन्त में दोनों के मत साहश्य ने दोनों को एक कर दिया था। इसी कारण जैन परम्परा दोनों को एक मानती रही।

मंखिल गोशाल ग्रीर पूरणकाश्यप महावीर से उम्र में बड़े थे। जैन साधु थे। उन्होंने जैन पूर्व ग्रन्थों के ग्राघार पर जैन घर्म को समभने का प्रयास किया था। वे उसके मर्म को समभ न सके। मंत्र ग्रीर ज्योतिष ने भी वाधा पहुँचायी। गोमट्टसार ग्रीर सूत्रकृतांग सूत्र में उनके मत को ग्रज्ञान मत कहा गया है। वैसे ग्राजीविक नाम भी जैनत्व का द्योतक है। किसी भी प्रकार की जीविका से पृथक रहने को ग्राजीविक कहते हैं। यह जैनों के त्याग ग्रीर ग्रपरिग्रह पर निर्भर रहना चाहिये था। किन्तु ग्राजीविक साधु मन्त्र ग्रीर ज्योतिष के वल पर जीविका भी कमाने लगे। इस घर्म के पतन का यह ही एक मात्र कारण है। ग्राजीविक सम्प्रदाय पर डा० वरुगा ने 'ग्राजीविस' नाम का एक ग्रन्थ लिखा था। उन्होंने भी ऐसी ही मान्यता ग्रभिव्यक्त की है।

भगवान महावीर को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ।
उनका समवसरण रचा गया। मंखिल गोशाल पहुंचा।
वह समभ्रता था कि एक पुराने जैन साधु होने के नाते
उसे ही गणधर बनाया जायगा, किन्तु ऐसा नहीं हुआ।
इन्द्रभूति गौतम को गणधर बनाया गया। गोशाल रुट्ट
घौर मन्त्राहत नाग की भांति श्रावस्ती चला गया। वहां
उसने अपने को सर्वज्ञ घोषित किया। सभी आजीविक उसे
सर्वज्ञ मान उठे। जब महावीर का समवसरण श्रावस्ती
पहुंचा, तो अधिकांश आजीविक महावीर के साथ हो
गये। दर्शनसार में ऐसे ही एक आजीविक शब्दाल पुत्र
का जिल्ल आया है। वह कुम्हार था, भारत का प्रसिद्ध

शिल्पी । उसने मिट्टी के वर्तनों से ही तीन करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें कमाई थीं । एक दिन उसने सुना कि प्लाशपुर में सर्वज्ञप्रभु आयेंगे, तो उसने समभा कि उसके गुरु गोशाल आयेंगे । आये महावीर । उनके घर्मोपदेश से वह वास्त-विकता को समभ सका । उनके घर्म में दीचित हो गया । उसका दुर्दा पंतप प्रसिद्ध है ।

कुछ ऐसे जैन साधक थे जिनकी महावीर ने स्वयं प्रशंसा की है। उनमें घन्यकुमार कानाम सर्वोपरि है। वह काकन्दी का श्रेष्ठि पुत्र था। घोर तप के कारण उसमें हिंडुयां भर ग्रवशिष्ट रह गई थीं। मगघ नरेश श्रेणिक ने भगवान से उनके १४ हजार शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ साघक पूछा, तो उन्होंने 'धन्ना ग्राणगार' का नाम लिया। दूसरा साघक, जिसकी प्रशंसा भगवान ने की 'कामदेव-श्रावक' था । उसका उल्लेख 'दशांगसूत्र' में ग्राया है। वह चम्पा निवासी था। एक वार भगवान का विहार चम्पा में हुमा। कामदेव ने श्रावक की दशा में ही भगवान के द्वारा उपदिष्ट साघना प्रारम्भ की। एक रात्रि को एक देव के द्वारा घोर उपसर्ग ग्राने पर भी कामदेव विच-लित न हुआ। भगवान ने अपने समवसरए। में उसकी प्रशंसा करते हुए निर्ग्रन्य श्रमणों से उपसर्ग सहन करने का उपदेश दिया। उन्होंने कामदेव श्रावक का उदाहरए। उपस्थित किया । तीसरी थी साधिका सुलसा । वह एक गांव में रहकर गृहस्य घर्म का पालन करते हुए ही वीत-रागी साघना में तल्लीन रहती थी। भगवान ने अम्बड श्रावक के द्वारा उसको धर्म-लाभ कहलवाया था। इससे स्पष्ट है कि भगवान उसके प्रशंसक थे ।

जीवंघर की गएना प्रसिद्ध जैन साघकों में घी।
जीवंघर हेमांगद देश के सम्राट थे। उसकी राजधानी
राजपुरी थी। हेमांगद ग्रपनी स्वर्ण की प्रानों के लिए
प्रसिद्ध था। वाल्यावस्था में जीवंघर ने ग्रायंनित्द नाम के
एक जैनाचार्य के पास शिक्ता प्राप्त की थी। ग्रायंनित्द ने
शस्त्र ग्रीर शास्त्र दोनों की शिक्ता दी घी। जीवंघर के
शस्त्र—कौशल ने उन्हें राज्य दिलवाया ग्रीर शास्त्र नेपुएय

१. देखिए अगरचन्द नाहटा का लेख 'महावीर द्वारा प्रशंसित तीन व्यक्ति' श्रहिसावाणी, श्रप्रेल १६६१, पृ० १४०

ने बीतरागी भावनाओं के अंकुर को पनपाया। एक दिन महावीर के पास जाकर दोद्या ले ली। राजा श्रेणिक ने महावीर के समवसरण के बाहर पिणवृत्त के नीचे जिस तेजस्वी मुनि को तप-निरत देखा था, वे मुनि जीवंघर ही थे। वे श्रुतज्ञान के घारी थे और महावीर के साथ ही उनका भी निर्वाण होना था। वे इतिहास में वीर श्रमण जीवंघर के नाम से प्रसिद्ध हैं।

भगवान महावीर का समवसरए प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु देवगए। विमानों में उड़ते हुए, समवसरए। में न म्राकर कहीं ग्रन्यत्र चले जा रहे थे। यह एक ग्राश्चर्य का विषय या। किसी ने भगवान से इसका कारण पूछा, तो उन्होंने कहा कि महाराज जितारि का निर्वाण हमा है, ये उनका निर्वाणीत्सव मनाने जा रहे हैं। र महाराज जितारि या जितशत्र कलिङ्ग के सम्राट थे ग्रौर रिश्ते में महावीर के फूफा लगते थे। उनका निर्वाण खराडगिरि में हुआ था। तभी से यह सिद्धि चेत्र के रूप में प्रसिद्ध है। सम्राट खारवेल (ई॰ पूर्व द्वितीय शताब्दी ) के शिलालेख में इसको 'ग्रहंत्निपिद्या' कहा गया है। इस विषय में वावू छोटेलालजी के ग्रन्वेपए। का एक उद्वरए। देखिए, "अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के फूफा कर्ल-गाधिपति महाराज जितशत्र या जितारि का निर्वाण मेरे म्रनुमान से खएडगिरि में ही हुम्रा था। भौर उन्हीं के सम्बन्ध से यह सिद्धिन्नेत्र हो जाने के कारण सहस्त्रों निर्यन्य मुनियों ने इस स्थान को तपोभूमि वनाया था। ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी में होने वाले कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेल ने भी ग्रपना ग्रन्तिम साघू जीवन यहां ही व्यतीत किया था।"3 सम्राट खारवेल ने अपना प्रसिद्ध शिला लेख इसी गुफा में क्यों उत्की एं करवाया ? इस पर वावूजी का पुरात। त्विक विवेचन इस प्रकार है, 'मेरे प्रनुमान से उपयुंकत श्री जितारि मुनि ने इसी हाथी गुफा में तपश्चरए करते हुए निर्वाण प्राप्त किया था ग्रीर उमे तीर्थ बनाया था, जिससे वहाँ हजारों यात्री वन्दना के लिये ग्रीर हजारों मुनि तपश्चरए के लिये सैकड़ों वर्षों से ग्राते रहे हैं। ग्रतः विशेष प्रचार की हिंदर से ग्रीर शिलालेख की ग्रपनी विशिष्टता के कारए उसे इस महत्वपूर्ण स्थान में ग्रांकित किया गया है। ग्रन्थया महाराज खारवेल ने ग्रपनी ग्रग्नमिश्चि के लिये उसी गुफा के निकट जो ग्रित सुन्दर समाध्य रूप गुफा बनवाई थी, उसी में इस शिलालेख को भी स्थान दे देते। हाथी गुफा तीर्थस्थान के कारए ही ग्रधिक मान्य ग्रीर प्रतिष्ठित हो गई थी ग्रीर महाराज खारवेल ने उसका ग्रकृतिम भद्दा रूप ग्रच एए रखते हुए भी इसे इतना महत्व दिया था।''

महाबीर के नारी संघ में चन्दना सर्वोत्तम साधिका थी। अपने अनिन्द्य सौन्दर्य के कारण उसे असीम कष्ट भोगने पड़े, किन्तु उसने कहीं पर भी सतीत्व को त्यागा नहीं। वह आजन्म ब्रह्मचारिणी रही। महाबीर की भक्ति उसके जीवन का सम्बल थी। जब महाबीर को केवलज्ञान हुआ, तब उसने दीद्धा ले ली। उसका कठोर तप नारियों के लिये ईप्यां का विषय बना। वह वैशाली के राजा चेटक की पुत्री थी। वह अपने सौन्दर्य में जैसी प्रसिद्ध थी, आगे चलकर उसकी आध्यात्मिक साधना भी वैसी ही स्थाति अप्त हुई। सुन्दरी चन्दना ने अपने जीवन से जिस आदर्श की रचना की थी, वह आज भी नारी जगत के लिये अनुकरणीय है। ×××

१. जीवंघर की कथा के लिये देखिए उत्तरपुराए

२. देखिए हरिवंश पुराएा

३. बाबू छोटेलालजी, खण्डगिरि-उदयगिरि-परिचय, श्रनेकान्त दर्ष ११, किरण १, मार्च १६५२, पृ० ६१ २

४. देखिए वही, पृ० दर

## जैन धर्म ऋौर जैन समाज

7 किसी भी घर्म के वास्तविक रूप या महत्व की उसके ऐतिहासिक विकास क्रम पर विचार किए विना समभा नहीं जा सकता। ऐतिहासिक विकास क्रम की हिष्ट से विचार करने पर ही उसकी व्यावहारिक उपयोगिता को ठीक ठीक रूप में ग्रांका जा सकता है। एक जैन माचार्य का यह कथन विल्कूल ठीक है कि ''न घर्मा घार्मिके विना" प्रयति कोई भी घर्म ऐसे लोगों के सहारे ही जीवित रह सकता है जो उस पर आचरण करने भयवा उसके भनुकूल जींवन व्यवहार को बनाने व ढालने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। मानव जीवन में इस धर्म व्यवहार की कमी को पूरा करने के लिए समय समय पर अवतार, तीर्थं कर, मसीहा, पैगम्बर, श्राचार्य, महात्मा, संत, साधू तथा मूनि जन्म लेते रहते हैं। श्री कृष्ण ने इस तथ्य को 'गीता' में बहुत सुन्दर शन्दों में प्रकट किया है। मानव जीवन में घर्म व्यवहार की इस कभी को उन्होंने 'घर्मग्लानि' कहा है। भौर यह दावा किया है कि उसको दूर करने के लिए वे समय समय पर जन्म लेते रहते हैं। उनका यह दावा मानव की एक मनिवार्य मावश्यकता की द्योतक है। धर्म के इस जीवन न्यवहार का ग्रध्ययन उसके ऐतिहासिक विकास क्रम के म्राघार पर ही सम्यक रूप में किया जा सकता है। मानव जीवन की उतार-चढ़ाव की कहानी का ही नाम तो इतिहास है। मुश्कल यह है कि इस दृष्टिकीए से न तो मानव का इतिहास लिखा गया है श्रीर न ही उसका प्रध्ययन किया गया है । इतिहास के विद्वानों में मानव जीवन के सांस्कृतिक पहलू को भूला कर जो भूल की है वह उनका मानव समाज के प्रति सबसे वड़ा अपराध है। इतिहास इसी कारण-एकांगी वन गया मौर राजामी तथा सम्राटों की राद्यसी महत्वाकांदा तथा ग्रासुरी लालसा की कहानी बनकर रह गया।

\* एक जैन श्राचार्य का यह कथन विल्कुल ठीक है कि न 'धर्मो धार्मिके विना' श्रर्थात कोई भी धर्म ऐसे लोगों के सहारे ही जीवित रह सकता है जो उस पर श्राचरण करने श्रथता उसके श्रमुक्त जीवन व्यवहार को वनाने व ढालने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। विद्वान् लेखक ने लेखमें युक्तियों से इसी बात का समर्थन किया है ।

## दो संस्कृति

यदि सांस्कृतिक दृष्टिकोगा से विचार किया जाए तो हमारे देश के मानव जीवन के क्रम विकास का इतिहास वैसा ही गौरवास्पद है, जैसी कि हमारी संस्कृति रही है। गंगा और जमुना की तरह हमारी संस्कृति प्रायः श्रनन्त-काल से दो घाराम्रों में वहती रही है। एक को वैदिक ब्राह्मण संस्कृति नाम दे दिया गया पीर दूसरी को श्रमण संस्कृति कह दिया गया । मानव जीवन के ऐतिहासिक क्रम विकास की हप्टि से दोनों का सापेद्य ग्रध्ययन न केवल धर्म व संस्कृति के विद्याधियों के लिए ग्रपित् इति-हास के विद्याधियों के लिए भी बड़ा ही उपयोगी, महत्व-पूर्ण तथा रोचक हो सकता है। वैदिक ब्राह्मण संस्कृति जिस समय विविध प्रकार के कर्मकाएड भोगैश्वर्य प्रवान वन गई, उच्चवर्णीय ब्राह्मण श्रादि निटल्ले रह कर सांसा-रिक सूल-भोग में लीन हो गए ग्रीर केवल इच्छाग्रीं की पूर्ति के लिए घार्मिक कर्म काएडों का मनमाना विधि-विधान किया जाने लगा, तब वैदिक संस्कृति प्रपना एप म्राक्षंग, महत्व व उपयोगिता खो वैठी । सोलह कलाग्री से युक्त पूर्ण अवतार माने गए। श्री कृष्ण को भी गीता में उसके विरुद्ध विद्रोह की ग्रावाज वृतन्द करने के लिए मजबूर होना पड़ा, उन्होंने वेद ग्रीर वैदिक कर्मकाग्ड की जिन कठोर शब्दों में भर्त्सना की है वैसी कदाचित जिसी घोर नास्तिक ने भी न की होगी। इस प्रकार वर्म वाग्ड पर ग्राघारित वैदिक संस्कृति वा निरंतर शतमृत्वी पतन होता गया ग्रीर सर्वमान्य ग्रहिमा के मन्दन्य में यह व्यवस्था दे दी गई कि वैदिक वर्मवाएड के निए की गर्र

हिंसा हिंसा नहीं होती । विल की कुप्रणा इतनी अधिक व्यापक हो गई कि वह पशुग्रों तक ही सीमित नहीं रही, मानव की विल भी नरमेघ यज्ञ के नाम से दी जाने लगी। गऊ को माता मानने वालों ने भी गौमेघ यज्ञ के नाम से उसकी विल देनी शुरू कर दी। ग्राज भी जब तब ऐसे समाचार पढ़ने व सुनने को मिलते रहते हैं जिनमें मिन्दरों में नर विल तक के दिए जाने का उल्जेख रहता है। सरकारी कानून श्रौर लोकमत दोनों उसको रोक सकने में ग्रसमर्थ रहे हैं।

## श्रमण संस्कृति का पुनरुद्धार

श्री कृष्ण की तीव भरसंना ग्रीर कठोर खएडन के वाद भी जब हिंसा प्रधान कर्मकाएड ग्रीर निठल्लेपन का अन्त न हुन्ना तब श्रमण संस्कृति का पुनरुद्वार करने के लिए भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध का प्रार्दुभाव हमा । उन्होंने ईश्वर, वेद, मध्यात्मवाद, पुनर्जन्म तथा कर्मकाएड ग्रादि के संबंध में जो रुख स्वीकार किया वह ऐतिहासिक क्रम विकास का एक अनोखा उदाहरएा है स्रीर मानव जीवन का निरंतर परिष्कार करने वाली ऐतिहासिक शृंखला की सुनहरी कडी है। हिंसा प्रधान कर्मकाएड से पैदा हुई भोगेश्वर्य की प्रवृत्ति के विरुद्ध उन्होंने 'अपरिग्रह' की स्नावाज उठ:ई स्नीर संयम प्रधान ब्रह्मचर्य पर पूरा जोर दिया । श्रहिंसा परमो धर्म: का नारा सारे देश में एक बार फिर गूंजा दिया । ब्राह्मणों के निठल्लेपन के विरोध में श्रमप्रधान जीवन व्यवहार की प्रतिष्ठा के ही कारण उनके संदेश की 'श्रमण' संस्कृति का पुनरुद्धार कहा गया है। घमं की ठेकेदारी के नाम पर कायम किए गए महन्तों, साधुग्रों व सन्यासियों के वैभव सम्पन्न ग्रखाढों व मठों ग्रादि के विरोध में उन्होंने ग्रपने साधूसंग के लिए जो न्यवस्था स्थिर की वह त्याग, तपस्या व साधना की पराकाष्ठा थी। जैन साधु के विहार का एकमात्र साधन पदयात्रा है। उसका उतना ही संसार है जितना वह स्वयं ग्रपने गन्धे पर संभाल सकता है। भोजन-छादन तक की सामग्री वह ग्र9ने पास नहीं रख सकता। स्राकाश वृत्ति स्रयवा भिन्ना वृत्ति पर ही वंह जीवन-यापन के लिए निर्भर है और इसके लिए भी

इतनी कठोर मर्यादा है कि उसका पालन केवल संयमी ही कर सकता है। सार यह है कि जीवन-व्यवहार की जर्जरित व्यवस्था में उन्होंने अगुव्रत महाव्रत की पुन: प्रतिष्ठा करके नवजीवन का संचार किया। यदि कहीं उन्होंने ऐसा न किया होता तो भोगश्वयं प्रधान वन जाने के कारण भारतीय संस्कृति भी अन्य भोगप्रधान संस्कृतियों की तरह नाम शेप हो गई होती। उसकी विनाश से सुरच्चित रखने के हप में श्रमण संस्कृति की जो महान देन हैं उसकी इतिहास के विद्वानों को कदापि उपेचा नहीं करनी चाहिये थी, परन्तु खेद और विस्मय का विषय है कि भारतीय इतिहासकारों ने सबसे अधिक उपेचा भगवान महावीर की ही की है।

ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से इतिहास के एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर कुछ विचार करना ग्रावश्यक है। मगवान महावीर ग्रीर महात्मा बुद्ध वर्त्त मान कालीन तिलक ग्रीर गांधी सरीले राष्ट्र महापुरुपों की तरह समकालीन थे। दोनों ने समान रूप से एक ही समय ग्रपना संदेश उपस्थित किया। दोनों का संदेश बड़े वेग से सारे देश में फैला, परन्तु महात्मा बुद्ध का संदेश हमारे देश के लिए केवल इतिहास का विषय वन कर रह गया ग्रीर भगवान महावीर का संदेश ग्राज भी किसी न किसी रूप में हमारे देश में जीवित व विद्यमान है। उसका कारण क्या है ? इतिहास के किसी भी विद्यान ने इस प्रश्न का समावान नहीं किया ग्रीर न किसी जैन विद्यान ने ही इसकी मीमांसा की है। इस प्रश्न का उत्तर हमें ऐति-हासिक क्रम-विकास के ग्रध्ययन से मिल सकता है।

## बौद्ध व जैन धर्म का क्रमिक विकास

वौद्ध धर्म और जैन धर्म के फ्रिमिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन वड़ा ही शिचाप्रद और मनोरंजक है। बौद्ध धर्म का प्रारम्भ हीनयान से हुआ और उसका विकास महायान, मन्त्रयान, वज्यान तथा सहजयान के रूप में हुआ। यह क्रम विकास मानव—जीवन का परि-ध्कार न कर सका। वैदिक बाह्यए। संस्कृति के समान इस क्रम विकास के कारए। बौद्ध धर्म में भी वाम मार्ग व चार्वाक की तरह अनैतिकता, भ्रष्टाचार, हिंसारमक व्यवहार तथा मिथ्या व्यवहार घर कर गया । उसकी म्रांति परणित उस समभौते के रूप में हुई जिसकी स्पष्ट साची पुरी का मन्दिर है। हिन्दुम्रों ने बुद्ध को भी विष्णु का अवतार मान लिया और उसकी. मूर्ति की प्रतिष्ठा उस मंदिर में की गई। हीनयान के रूप में जिस घर्म का श्रीगणेश मंदिर—मूर्ति आदि के मिथ्या आडम्बर से सर्वथा रहित निर्लेप रूप में हुआ था, उसकी समाधि पुरी के मंदिर में बन गई। पुरी के मंदिर पर अकित अश्लील मूर्तियां वाममागं और वज्यान में हुए समभौते की ही प्रतीक हैं और देवदासी प्रधा का श्री गणेश भी उसीका सूचक है। इस रूप में बौद्ध धर्म सर्वसाधारण जनता का धर्म नहीं रह सकता था और उसका नाम शेष होना अनिवार्य घटना थी, उसको टाला ही नहीं जा सकता था।

दूसरी श्रोर जैन धमं के विकास क्रम का प्रवाह इसके सर्वथा विपरीत है। दिगम्बर ग्रथवा श्वेताम्बर रूप में उसका प्रारम्भ हुमा । उसका विकास स्थानकवासी तथा तेरापंथी श्रीदि के जिस रूप में हुआ उसमें मानव जीवन के परिष्कार का क्रम निरंतर निखरता ही गया । स्थानक-वासी शाखा में मंदिर मूर्ति ग्रादि के ग्राडम्बर को जैन आगमों के विपरीत बता कर केवल स्थानकों की प्रतिष्ठा रखी गई और तेरापंथी शाखा में स्यानकों का भी परि-त्याग यह कह कर किया गया कि वह परिग्रह के निमित्त वन गए हैं। सार यह है कि इस क्रम विकास द्वारा समाज के जीवन-व्यवहार में प्रापुत्रतों तथा महात्रतों के पानन परं प्रधिक से प्रधिक जोर दिया जाता रहा। इसी क्रम-विकास के बल पर जैन घर्म नाम शेष होने से बच गया। म्राज भी तेरापंय के माचार्य श्री तुलसी गिए तथा मन्य जैन आचार्य प्रागुवतों के पालन पर ग्रधिक से ग्रधिक जोर देते हैं। ग्राज भी जैन साबु ग्रपने जीवन व्यवहार द्वारा त्याग, तपस्या, साधना, संयम तथा अपरिग्रह श्रादि का उच्चतम आदर्श समाज के सामने रखे हुए है। दिगम्बर जैन ग्राचार्य का संयम भीर ग्रपरिग्रह मानव जीवन के लिए त्याग, तपस्या व साधना का ऊंचे से ऊंचा व्यावहा-रिक प्रादशं उपस्थित करता है।

## संकीर्गा दिष्टकीरा

मुश्किल यह है कि जैन समाज का इस ऐतिहासिक विकास क्रम की ग्रोर प्रायः कुछ भी घ्यान नहीं है। उसकी दृष्टि में इस क्रम विकास का महत्व सम्प्रदायवाद से कुछ ग्रधिक नहीं रहा । सम्प्रदायवाद की संकीर्णता, सहिष्णुता, भेदभाव, विरोध, ईर्ष्या, होष, कलह तथा वैमनस्य प्रादि दुर्गुं ए उसमें इस प्रकार घर कर गये हैं कि वह जैन घर्म के क्रम विकास के महत्व को विल्कुल भूल गया है। इसी कारण उसकी हिट घर्म से हट कर जैन समाज में भी उस शाखा तक सीमित रह गयी है, जिसके साथ उसने अपना संबंध जोड़ लिया है। उसने सम्प्रदायबाद के कारण संकीर्ण हिष्टकीण अपना लिया है। दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्यानकवासी ग्रीर तेरापंथी एक दूसरे के प्रति परस्पर ऐसा विरोधी व्यवहार रखते हैं जैसे कि वे एक दूसरे के विरोवी घर्मों के ग्रनुयायी हों ग्रीर उनमें परस्पर कोई भी मेल न हो। जैसे कि विशाल वट वृत्त की शाखायों पर बैठे हुए लोग यपनी ही शाखा को पेड़ मान कर दूसरे का विरोध करने लग जाते हैं, ठीक वैसी ही स्थिति ग्राज उस जैन समाज की वन गई है जो स्याद्वाद ग्रयवा ग्रनेकान्तवाद का पूजारी है । सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भी जैन घमं का रूप ऐसा व्यापक है कि वह माज की मावश्यकतामों की पूर्ति करके राष्ट्र घमं का स्यान ले सकता है। उसका कर्मफल विचार, स्याद्वाद व सनेकान्तवाद, चमावली परम्परा, सामायिक मनुष्ठान तथा अन्य विधि-विधान कुछ ऐसे हैं जिनका आधार अलुवत तथा महावृत के व्यवहार के समान घरपंत व्यापक भीर सर्वग्राही है। संस्प्रदायवाद की संकीर्णता से ऊपर उठकर ऐतिहासिक क्रम विकास के महत्व को ग्रंगीकार किए विना न तो जैन समाज स्वयं जैन धर्म की महानता को समभ सकता है श्रीर न दूसरों के सामने उसको उपस्थित कर सकता है।

वीद धर्म के प्रपने देश में नाम शेप हो जाने के सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछा जा सबता है कि एशिया के प्रन्य देशों में उसका प्रस्तित्व क्यों दना रहा ग्रीर वह वहां क्यों लुप्त नहीं हो गया ? इस प्रश्न के विवेचन के लिए

एक स्वतन्त्र लेख की ग्रावश्यकता है। फिर भी संदोप में यहां इतना ही कहा जा सकता है कि वीद घमं जहां भी कहीं गया, वहां भ्रपने वास्तविक रूप को खो बैठा श्रीर वहां उसने प्रचलित धर्मों के साथ ग्राचार-विचार में कूछ ऐसा समभौता कर लिया कि उसके ग्रस्तित्व के लिए किसी प्रकार का कोई संकट पैदा होने की सम्भावना न रही, चीन में ताम्रो भीर कनफूशियस की श्रेग्री में वृद्ध को भी विठा दिया गया ग्रीर खान-पान ग्रादि की सारी मर्यादायें वे ही स्वीकार कर ली गईं, जो चीन में प्रचलित थीं, तिव्वत में वौद्ध धर्म अपने रूप में न रह कर लामा घर्म वन गया, जिसका वौद्ध घर्म के साथ कुछ भी ताल-मेल नहीं है, जिस ग्रात्मा श्रीर पुनर्जन्म के सम्बन्ध में वृद्ध विल्क्ल चुप रहे, उसकी खोज एक दलाई लामा की मृत्यु के वाद दूसरे नवजात शिशु में की जाती है, ग्रीर जिसमें उसकी ग्रात्मा को विद्यमान मान लिया जाता है, उसी को दलाई लामा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। यह कैसा विचित्र समभौता है, वर्मा में प्रेत-म्रात्माम्रों की पूजा नट्श के नाम से की जाती है मीर वर्मा के लोगों ने वृद्ध की ग्रात्मा को भी ग्रव प्रेतात्माग्रों में सम्मिलित कर लिया है, वे उसकी भी वैसे ही पूजा करते हैं। दलाई लामा के भारत ग्राने पर उनके खान-पान की जो व्यवस्था की गई थी, उसको पढ़कर देशवासी चिकत रह गये थे, एक वौद्ध धर्म गुरु के लिए वह खानपान निश्चय ही विस्मयजनक है। खानपान के सम्बन्ध में वर्मा में भी वैसी ही स्थिति है। श्री लंका में वोद्ध घम का विशेष जोर , समभा जाता है। परन्तु वहां के वौद्ध भिच्यों तक में ग्रनेक ग्राचार-विचार श्री लंका के जीवन से ऐमे लिये गये हैं, जिनका बौद्ध धर्म के वास्तविक रूप के साथ कोई सम्वन्घ नहीं हैं, जापान में भी वौद धर्म इसी प्रकार के समभीते से बना रहा श्रीर वह अपने वास्तिविक रूप की खो बैठा। इस रूप में विदेशों में उसका बना रहना क्या महत्व रखता है ?

वीद धमं के सम्बन्ध में एक बहुत बड़ी राजनीतिक आनित यह थी कि एशिया के राष्ट्रों में सांस्कृतिक सम्बन्ध सुहढ़ बनाने के लिए उसकी ग्राधार बनाया जा सकता है ग्रीर उसके पंचशील के ग्राधार पर विश्व के समस्त राष्ट्रों में सह ग्रस्तित्व की भावना जगाई जा सकती है। जनवादी चीन ने इस आनित को मृग तृष्णा से भी श्रषिक निरथंक सिद्ध कर दिया है, कमं विकास का ऐतिहासिक हिष्टकीण से ग्रध्ययन किये विना ऐसी आनितयों का पैदा हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। ग्रन्तरराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय जगत में केवल भावावेश से काम लेना बहुत बड़ी भूल है, कूटनीतिज्ञ के डोरों के समान विश्व की राजनीति में संस्कृति के डोरे भी डाले जाने लगे हैं ग्रीर सांस्कृतिक सन्धियों के नाम पर भी कुछ बड़े बड़े दाव पेच चले जा रहे हैं, उनसे सावधान रहना ग्रावश्यक है।

ऐसे सब अमों व आन्तियों को दूर करने के लिये भी जैन घर्म के जीवन व्यवहार के परिष्कार के कर्म विकास तथा प्रक्रिया को सर्व साधारणा के सम्मुख उपस्थित करना आवश्यक है और वह तभी सम्भव होगा जब कि जैन समाज जैन घर्म पर छित्रात अन्ध श्रद्धा न रखते हुये उसका अध्ययन, मनन तथा अनुशीलन इतिहास की हिट्ट से भी करेगा। वह उसको इसलिए अपनायेगा कि उसने एक महान संकट के काल में भारतीय जीवन तथा भार-तीय संस्कृति को विनाश के मुख से बचाया था। भगवान महावीर के सन्देश का पुनस्द्धार इसी हप में इसी हिष्ट से किया जाना चाहिये। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

# मथुरा की जैन कला

मृथुरा जैन घमं का भी ग्रत्यन्त प्राचीन केन्द्र था। जिस प्रकार बौद्धों ने यहां प्राचीन स्तूपों का निर्माण किया ग्रीर जिस प्रकार हिन्दुग्रों ने ग्रपने देवताग्रों के लिए प्रासाद या मंदिरों का निर्माण किया उसी प्रकार जैन धर्म के ग्रनुयायी ग्राचार्यों ने मथुरा को ग्रपना केन्द्र बना कर ग्रपने भक्त श्रावकश्राविकाग्रों को प्रेरित कर के प्राचीन मथुरा में स्तूपों ग्रीर मंदिरों की स्थापना की।

कंकाली टीले की खुदाई में जैन शिल्प की अद्भुत सामग्री प्राप्त हुई है । इस टीले की भूमि पर एक प्राचीन जैन-स्तुप ग्रीर दो प्राप्ताद या मंदिरों के चित्र मिले हैं। श्रह्त-नन्द्यावर्त अर्थात् अठारहवें तीर्थंकर अरनाय की एक प्रतिमा की चौकी पर खुदे हुए एक लेख में लिखा है कि कोट्टियगण की वज्री शाखा के वाचक म्रायं वृद्ध हस्ती की प्रेरणा से एक श्राविका ने देव-निर्मित स्तूप में म्रह्त् की प्रतिमा स्थापित की ( एपिग्राफिन्ना इिएडका, भाग २, लेख २० )। यह लेख संवत् ८६ प्रर्थात् कुषाएा सम्राट वासुदेव के राज्यकाल की ई० १६७ का है। इसका देव-निर्मित शब्द महत्वपूर्ण है। वूलर, स्मिथ म्रादि विद्वानों का विचार है कि उस समय में स्तूप के वास्तविक निर्माणकर्ताम्रों के विषय में लोगों का ज्ञान विस्तृत हो गया था और स्तूप इतना प्राचीन समभा जाने लगा था कि उसके लिए देव निर्मित, इस नाम की कल्पना संभव हुई । हम भी समभते हैं कि 'देवनिर्मित' शब्द साभिप्राय है। श्रीर जैसा रायपसेनियसूत में देवों द्वारा एक विशाल स्तूप के निर्माण का वर्णन है कुछ उसी प्रकार की निर्माण-कल्पना मथुरा के इस स्तूप के विषय में की जाती थी। तिब्बत के विद्वान् वीद-इतिहास लेखक तारानाथ ने अशोक कालीन शिल्प के निर्माताओं को यस \* मथुरा जैन धर्म का भी अत्यन्त प्राचीन केन्द्र रहा है। वौद्धों तथा हिन्दुश्रों की भांति जैन धर्म के अनुयायी आचार्यों ने मथुरा को अपना केन्द्र वना-कर अपने भक्त आवक-आविकाओं को प्रेरित करके प्राचीन मथुरा में स्तूपों और मंदिरों की स्थापना की।

\* अनेक वेदिका स्तम्भों श्रीर सूची दलों की सुन्दर सजावट भी मथुरा कला की अनुपम देन है। उनमें नाना प्रकार की सजावट पाई जाती है। मथुरा के इस शिल्प की महिमा केवल भावगम्य है। प्रस्तुत लेख में विद्वान् लेखक ने मथुरा की जैन कला पर विशद प्रकाश डाला है।

कहा है और लिखा है कि मौयंकालीन शिल्प कला यद्य कला थी। उससे पूर्व युग की कला देवनिर्मित समभी जाती थी। अतएव 'देवं निर्मित' शब्द की यह ध्वनि स्वीकार की जा सकती है कि मथुरा का 'देव'निर्मित जैन स्तूप मौयं-काल से भी पहले लगभग पांचवीं या छठी शताब्दी ईसवी पूर्व में बना होगा। जैन विद्वान जिनप्रभ-सूरि ने अपने तीर्थकल्प प्रन्य में मथुरा के इस प्राचीन स्तूप के निर्माण और जीर्णोद्धार की परम्परा का उल्लेख किया है। उसके अनुसार यह माना जाता था कि मथुरा का यह स्तूप आदि में सुवर्णम्य था। उसे कुचेरा नाम की देवी ने सातवें तीर्यंकर सुपारवं की स्मृति में दनवाया था। कालान्तर में तेईसवें तीर्यंकर पारवंनाय के समय में इसका निर्माण ईंटों से किया गया। भगवान महावीर की

सम्बोधि के तेरह सौ वर्ष वाद बप्पमहसूरि ने इनका जोर्णोद्धार कराया। इस उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि मथुरा के साथ जैन घर्म का संबंव सुपाश्वं तीर्थंकर के समय में ही हो गया था घौर जैन लोग उसे अपना तीर्थ मानने लगे थे। पहले यह स्तूप केवल मिट्टी का रहा होगा । जैसा कि मौर्यकाल से पहले के बौद्ध स्तूप भी हम्रा करते थे। उसी प्राचीन स्तुन का जन पहला जी णोंदार हमा तम उस पर ईंटों का म्राच्छादान चढ़ाया गया। जैन परम्परा के अनुसार यह परिवर्तन महावीर के भी जन्म के पहले तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय हो चुका था। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं जान पड़ती । उसी इज्टका-निर्मित स्तूप का दूसरा जी गोंद्वार लगभग शुंग काल में दसरी शती ई० पू० में किया गया । जब कि शुंगकालीन बौद्ध स्तूपों की भांति इस जैन स्तूप के निर्माण ग्रौर जीएों द्वार में खुलकर पत्थरों का उपयोग हुमा । उस समय तीन विशेष परिवर्तन हुए ऐसा ज्ञात होता है । एक तो मूल स्तूर पर शिलापट्टों का आच्छादन चढ़ाया गया दूसरे उसके चारों ग्रोर चार तोरगृद्वारों से संयुक्त एक भव्य वेदिका का निर्माण कराया गया। इस वेदिका के जो अनेक स्तम्भ प्राप्त हुए हैं उन पर कमल के अनेक फूलों की वहत ही विदया सजावट है । इस आधार पर वह वेदिका पद्मवर वेदिका का नमूना जान पड़ती है जिसका उल्लेख रायासेनियसुत्त में ग्राया है। हो सकता है कि घनिक उपासक लोग वास्तविक कमल के खिले हए फूलों से इस प्रकार की पुष्पमयी वेदिका बनवाकर विशेष ग्रवसरों पर स्तूप की पूजा किया करते थे। कालान्तर में उन कमल के फूलों की अनुकृति काष्ठमय वेदिका स्तंभों पर उत्कीर्ण की जाने लगी और सबसे भ्रंत में पतंयर के स्तंभों पर कमल के फूलों के वैसे ही अलंकरण और सजावट युक्त वेलें उकेरी जाने लगीं | इसी प्रकार की पुद्म-वर वेदिका का एक सुन्दर उदाहरण मथुरा के देवनिर्मित जैन स्तूप की खुदाई में प्राप्त शुंग कालीन स्तंभों पर सरित्तत रह गया है। वेदिका स्तंभों के वीच वीच में लगे हुए सूची पट्टों पर स्रौर उज्सीप पट्टों पर भी बहुत ही मुन्दर उकेरी की सज प्राप्त हुई है। उसके अनेक नमूने इस समय लखनक संग्रहालय में सुरचित हैं। एक तीरण

की सिरदल पर स्तूप पूजा का दृश्य ग्रंकित है जिसकी शैली शुंग काल की है। उसमें किन्नर ग्रीर सुपर्ण स्तूप की पूजा करते हुए ग्रंकित किए गए हैं।

ई० पू० दूसरी शती से लेकर ई० की ११ वीं शती तक के शिलालेख श्रीर शिल्प के उदाहरण जैन स्तृप श्रीर मंदिरों के ग्रवशेषों से प्राप्त हुए हैं। इससे यह निश्चित है कि जैन शिल्प की यह परम्परा इसी स्थान पर लगभग १३ सौ वर्षो तक चालू रही। मयुरा उस युग में बहुत ही महान् शिल्य तीर्थं था । विशेषतः कृपाण युग में मथुरा शिल्प का वैभव ग्रत्यंत उत्कृष्ट हो गया। जैन शिल्प के चेत्र में यहां के भव्य देव प्रसाद, उनके सुन्दर तोरण, वेदिकास्तंभ, मूर्धन्य या उप्णीप पत्यर, उत्फुल्ल कमलों से सज्जित सूचीपट, स्वस्तिक ग्रादि से ग्रलंकृत श्रायागपट्ट, सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं ग्रादि के सुन्दर उदाहरण भारतीय शिल्प का गौरव समभे जाते हैं। मथुरा से मिले हुए अनेक शिला-लेख जैन धर्म के प्राचीन इति । स पर मूल्यवान प्रकाश डालते हैं। जैन संघ के जिस विपुल सगठन का उल्लेख कल्पसूत्र ग्रन्थ में म्राता है उससे संम्वन्धित गएा, कूल और शाखाओं का वास्तविक उल्लेख जब हम प्राचीन मथुरा के प्राचीन शिलालेखों में पाते हैं तो यह सिद्ध हो जाता है कि कल्प सूत्र की स्यविरावली में उल्लिखित इतिहास प्रामाणिक है। जैन संघ के ग्राठ गणों में से चार का नामोल्लेख मथुरा के लेखों में हुन्ना है। म्रथात् कोट्टिय गएा, वारए गएा, उद्दे हिक गए। ग्रीर वेशवाटिक गए। इन गएों से संबं-घित जो कुल ग्रीर शाखाग्रों का विस्तार था उनमें से भी लगभग बीस नाम मथुरा के लेखों में पाए गए हैं। इससे सूचित होता है कि जैन भिन्नु संघ का बहुत जीता-जागता केन्द्र मथुरा में विद्यमान था ग्रीर उसके ग्रन्तगंत ग्रनेक श्रवक-श्राविकाएं धर्म का यथावत् ग्राचारण ग्रीर पालन करती थीं। उदाहरण के लिए देवपाल श्रेष्ठि की कन्या श्रेष्ठी सेन की धर्मपत्नी, चद्रा ने वर्धमान की प्रतिमा का दान दिया। श्रीष्ठी वेशी की धर्मपत्नी, भंट्टिसेन की माता कुमार मित्रा ने ग्रार्था वसुला के उपदेश से एक सर्वतीभादिका प्रतिमा की स्थापना की। यह वसुला आर्य जयभूति की शिष्या आर्य संगमिका की

शिष्या थी। सर्व लोकोतम ग्रह्तों को प्रगाम करने वाली सुचिल की वर्मपत्नी ने भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा दान में दी। वज्रीशाखा के वाचक ग्रार्य मातृदत्त, जी ग्रार्यबलदत्त के शिष्य थे, इसके गुरू थे। मिणकार जयभट्ट की दुहिता, लोहविषाज फल्गुदेव की धर्मपत्नी मित्र ने कोट्टिय गए। के अन्तर्गत बुहनदासिक कुल के वृहत्तवाचक गिए। जिमत्र के शिष्य ग्रार्य ग्रोघ के शिष्य गिए। ग्रायंपाल के श्रद्धाचर वाचक ग्रायं दत्त के शिष्य वाचक आर्थिसह की निर्वर्तना या 'प्रेरणा से एक विशाल जिन प्रतिमा कां दान दिया। आचार्य बलदत्त की शिष्या म्रार्या कूमारमित्रा तपस्विनी को शिलालेख में संशित, मखित, बोधित कहा गया है। वह भिच्छा हो गई थी किन्तु उसके पूर्वाश्रम के पुत्र गंधिक कुमार भट्टि ने एक जिन प्रतिमा का दान किया । यह मूर्ति कंकाली टीले के पश्चिमी भाग में स्थित दूसरे देवप्रसाद के भग्नावशेष में मिली थी। पहले देवप्रसाद की स्थिति इस मदिर के कुछ पूर्व की स्रोर थी। ग्रामिक जयनांग की कुटुम्बिनी स्रीर ग्रामिक जयदेव के पुत्रवधू ने संवत् ४० में शिला स्तंभ का दान दिया। स्रार्या शामा की प्रेरणा से जयदास की धर्मपरनी गूढ़ा ने ऋषम प्रतिमा दान में दी । श्रमशाश्राविका बलहस्तिनी ने श्रपने माता-पिता श्रौर सास-ससुर की पुराय वृद्धि के लिए एक वड़े तोरएा की स्थापना की।

कंताली टीले के दिक्त एपूर्व के भाग में डा० वर्जस की खुदाई में एक सरस्वती की प्रतिमा प्राप्त हुई थी। उसे लोहे का काम करने वाले (लोहिक कारूक) गोप ने स्थापित किया था। इसी स्थान पर घनहस्ति की घमंपत्नी और गुहदत्त की पुत्री ने घमंथा नामक श्रमण के उपदेश से एक शिलापट्ट का दान किया जिस पर स्तूप की पूजा का सुन्दर हश्य श्रंकित है। जयपाल, देवदास, नागदत्त श्रोर नागदत्ता की जननी श्राविका दत्ता ने श्रायं संघितह की प्रेरणा से वर्षमान प्रतिमा को ईसवी ६ में दान विया। स्वामी महाक्तत्रप शोडास के राज्य संवत्सर ४२ में श्रवणश्राविका श्रमोहिनी ने श्रयंवती की प्रतिमा का दान किया। तपस्विनी विजय श्री ने जो राज्यवसू की पत्नी देविल की माता श्रीर विष्णुभव की दादी थी, एक मास का उपवास करने के

बाद संवत् ५० (१२८ ई०) में वर्षमान-प्रतिमा की स्यापना की । इस प्रकार जैन संघ के इतिहास के ग्रंतगंत ग्रनेक श्रमण् श्राविकाम्रों के पुर्य कार्यो का उल्लेख भी मथुरा के अभिले हों में पाया जाता है जिनकी धार्मिक भावना से ग्रधिकाँश कलाकृतियों की रचना की गई। मथुरा की जैन कला में निम्नलिखित प्रकार की मूर्तियां पाई जाती हैं। स्रायागपट्ट, तीर्थं कर प्रतिमाएं, देवीमूर्तियां, स्तूपों के तोरण, शालमंजिका, वेदिका स्तंभ, उष्णीप ग्रादि । ग्रायागपट्ट का मूल है ग्रायंकपट्ट ग्रथत् पूज के लिए स्थापित शिलापट्ट जिस पर स्वस्तिक, घर्मचक्र ग्रादि म्रलंकरण या तीथंकर की प्रतिमा मंकित की गई हो। स्तूप के प्रांगरा में इस प्रकार के पूजा शिला पट्ट या म्रायाग पट्ट ऊंचे स्थंडिलों पर स्यापित किए जाते थे मीर दर्शनार्थी उनकी पूजा करते थे । मयुरा की जैन शिल्प कला में ग्रायाग पट्टों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विश्व सीन्दर्यं की दृष्टि से उन पर जो ग्रलंकरणों के संपुंजन की छवि है वह नेत्रों को मोहित कर देती है। उदाहरण के लिए सिंहनादिक द्वारा स्थापित श्रायाग पट्ट पर कपर-नीचे अप्ट मांगलिक चिन्ह अंकित हैं ग्रीर दोनों पार्श्वों में से एक श्रोर चक्रांकित ध्वजस्तंभ तथा दूसरी ग्रीर गजांनित स्तंत्र है। बीच में चार त्रिरतों के मध्य में तीर्थं कर की बद्ध पद्मासन स्थित मृति है। (लखनक संग्रहालय जे० २४६)। लखनक संग्रहालय में एक दूसरा ग्रायाग पट्ट है (जे० २५०) जिसके मध्य भाग में एक वड़ा स्वरितक श्रंकित है श्रीर उसके स्वस्तिक के गर्भ में एक छोटी तीर्थंकर मूर्ति है। स्वस्तिक के प्रावेट्टन के रूप में सोलह देवयोनियों से म्रलंकृत एक मग्डल है जिसके चार कानों पर चार महोरग मूर्तियां हैं। नीचे की छोर घट मांगलिक चिन्हों की वेल है। इस प्रकार के पूजा पट्ट को प्राचीन परि-भाषा में स्वस्तिक पट्ट कहते थे। एक तीसरे श्रायाग पट्ट पर ( लखनक संग्रहालय, जै॰ २४८ ) मध्य में पोटपा वमंचक्र की प्राकृति यं कित हैं उसके चारों घोर तीन मंडल हैं। पहले में १६ नित्यपद, दूसरे में अप्टिदिनजुमारि काएं श्रीर तीसरे में जुग्टलित पुष्पकर सज वमलों की माला है। श्रीर चार कीनों में घार महोरग मूर्तियां हैं । इस प्रकार का पूजापट्ट प्राचीन काल में चक्र पट्ट कहलाता था।

श्रायागपट्ट (जे० २५१) की स्थापना फल्गुयश नतंक की पत्नी शिवयशाने अहंतपूजा केलिए की थी। इस पर प्राचीन मथुरा जैन स्तून की आकृति ग्रंकित हैं जिसके एक श्रोर तोरण, वेदिका ग्रौर सोपान भी दिए गए हैं। मथुरा संग्रहालय में भी एक श्रायाग पट्ट है, (क्यू २) जिसकी स्थापना गणिका लावएयशोभिका की पुत्री श्रमणश्राविका गणिका वसु ने ग्रहंतों के मंदिर में श्रहंन् पूजा के लिए की। इस पर भी स्तूप, तोरण वेदिका ग्रीर सोपान ग्रंकित हैं।

कंकाली टीले से मिली हुई दो विशिष्ट मूर्तियों की स्रोर घ्यान दिलाना आवश्यक है। इनमें से एक देवी सरस्वती की मूर्ति है जिसकी स्थापना संवत् ५४ में गोप नामक लोहिए ने की थी। सरस्वती के बांए हाथ में पुस्तक है। अब तक की प्राप्त सरस्वती मूर्तियों में यह प्रतिमा सबसे प्राचीन है। प्राचीन जैन धर्म में सरस्वती स्रीर लक्ष्मी दोनों देवियों की मान्यता और पूजा प्रचलित थी।

दूसरी उल्लेखनीय मूर्ति देवी आयंवती की है जो चत्रप शोडास के राज्यकाल में संवत् ४२ में स्थापित की गई। चत्र और चवर लिए हुए दो पाश्वंचर स्त्रियां आयंवती की सेवा कररही हैं जिससे उसका राजपदस्चित होता है। संभव है आयंवती का यह अंकन महावीर की माता चित्रयाणी त्रिशाला के लिए ही हो।

नैगमेशमूर्ति—प्राचीन जैन धर्म में भगवान् नैगमेश नामक एक देवता की पूजा प्रचलित थी। कहा जाता है कि इस देवता ने गर्मस्य वालक महावीर को ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्म से लेजाकर इत्रियाणी त्रिशला के गर्म में पहुंचाया था। नैगमेश की एक सुन्दर मूर्ति कंकाली टीले से प्राप्त हुई थी, जो इस समय लखनक संग्रहालय में है। उस पर देवता का नाम भी लिखा है। यह मूर्ति अजमुखी है। नैगमेश बच्चों के मंगल देवता माने जाते थे।

तीर्थं कर मूर्तियां — मथुरा ग्रीर लखनऊ के संग्रहालयों में ग्रनेक तीर्थं कर मूर्तियां सुरिच्चत हैं। इनमें कुपाण संवत् ५ से क्षेकर ६५ तक की मूर्तियां हैं। किन्तु उसके बाद भी तीर्थंकर मूर्तियों की स्थापना का क्रम ११ वीं शती तक चलता ही रहा। कला की टिंग्ट से गुप्त काल की पदमासन में बैठी हुई प्रतिमाएं सुन्दर हैं।

ये मूर्तियां तीन प्रकार की हैं। १-कायोत्सर्ग मुदा में खड़ी हुई मूर्तियां । २-पदमासन में बैठी हुई ध्यानस्य मृतियां । ३-सवंतो भद्रिका प्रतिमाएं ग्रयीत् चारों दिशाग्रों में खड़े हुए या बैठे हुए चार तीर्थकारों को मिला कर वनाई हुई मूर्तियां । इन तीर्थंकरों की पहचान इस प्रकार की जा सकती है। पहले तीयंकर ऋषभनाय या म्रादिनीय सातवें सुपारवं, २३ वें पारवंनाय, २४ वें महावीर। इन मूर्तियों की चौकी ५र पाश्वों में सिंह वने रहते है ग्रीर घमं चक्र स्तूप की पूजा का दृश्य ग्रंकित होता है। भक्त गृहस्य स्त्री ग्रीर पुरुप ग्रपने परिवार के सद्स्यों को लेकर पूजा करते हुए दिखाए जाते हैं। कला की हिष्ट से जैन तीर्थंकर मूर्तियों में समाधिजन्य स्थिरता और उर्घ्वता पाई जाती है। वाहरी ग्रोर उनका श्राकर्पण नहीं होता। किन्तु वे ही शिल्पी जो प्रतिमाग्रों के म्रंकन में इतनी संयत बृत्ति का परिचय देते थे जब तोरण और वेदिका स्तंभों पर जीवन संवंधी दृश्यों का चित्रण करने लगते हैं तो ऊंचे कलात्मक सौष्ठव का परिचय देते हैं। जैसे ग्रायागपट्टों पर ग्रंकित शिल्प का माधुर्य मन की मोहित किए विना नहीं रहता । वे कलाविदों की श्रेष्ठ प्रतिभा की सूचक हैं।

प्रतिमा की सूचक है।

प्रतिमा की सूचक है।

प्रतिमा की सूचक है।

प्रतिमा की सूचक हो।

प्रतिमा की सूचरा कला की अनुपम देन हैं। उनमें नाना

प्रकारकी सजावटपाई जाती हैं आभूपण-संभारोंसे सन्नतांगी

रगिणियों के सुख मय जीवन का अमर वाचन एक बार

ही इन स्तम्भों के दशंन से सामने आ जाता है। अशोक

वकुल, आश्र और चम्पक के उद्यानों में पुष्य भंजिक

कीड़ा में प्रसक्त, कन्दुक, खड़गादि नृत्यों के अभिनय में

प्रवीण स्नान और प्रसाधन में संलग्न पोरांगनाओं को

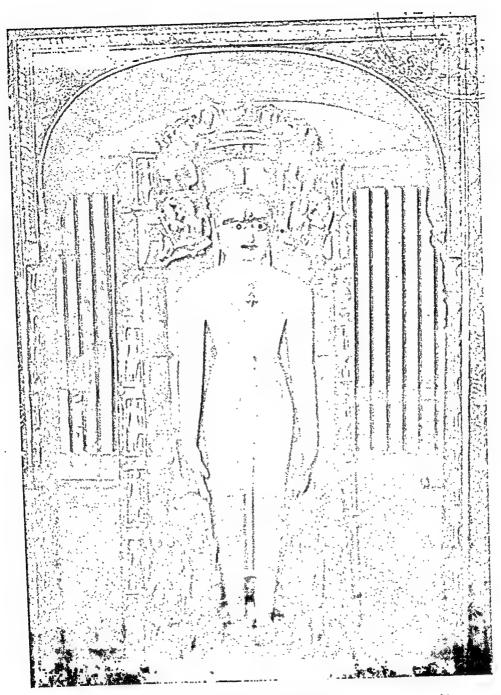
देख कर कीन मुग्च हुए विना रह सकता है? भक्तिभाव

से पूजा के लिए पुष्पमालाओं का उपहार लाने वाले उपा
सक वृन्दों की शोभा और भी निराली हैं। सुपर्ण और

किन्नर सहश देवयोनियां भी पूजा के इन श्रद्धामय कत्यों

में वरावर भाग लेती हुई दिखाई गई हैं। मथुरा के इस

शिल्प की महिमा केवल भावगम्य है।



श्री क्वेताम्वर जैन मन्दिर (वड़ा) घीवालों का रास्ता, जयपुर में श्री शान्तिनाथ स्वामी की भव्य एवं ग्रति प्रचीन प्रतिमा

	•	

म्राच्यत्त, हिन्दी विभाग, एन. म्रार. ई. सी. कालेज खुरजा

# जैन-संस्कृति

संकृति का सम्बन्ध मानव के भीतिक, आध्यात्मिक, याणिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, दार्शनिक कलात्मक ग्रादि सभी प्रकार के महत्वपूर्ण विकासों एवं जीवन के विविध पहलुग्रों से है। मानव के इन विकासों में परम्परागत संस्कारों का बड़ा हाथ रहता है। इसी कारण संस्कृति का सस्कारों से घिन्ष्टि सम्बन्ध है। इसके ग्रातिरिक्त इन विकासों द्वारा ही किसी समाज की सम्यता का भी पता चलता है। इसी कारण सम्यता को मानच के विकास की समस्त चेष्टाग्रों का बाह्य रूप कहा जाता है ग्रीर संस्कृति उनका ग्रान्तिक रूप है। ग्रतः किसी देश की संस्कृति से उस देश के रहन—सहन, ग्राचार—विचार, रीति–रिवाज, ज्ञान—विज्ञान, परम्परागत ग्रनुभव, जीवनयापन के ढंग, कला—प्रेम, रुचि ग्रांदि का बोध होता है।

भारतीय संस्कृति का निर्माण विभिन्न संस्कृतियों के सिम्मश्रण से हुया है। दिनकरजी का मत तो यह है कि "जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह ग्रादि से ग्रन्त तक न तो प्रायों की रचना है भौर न द्रविड़ों की, प्रत्युत उसके भीतर ग्रनेक जातियों का ग्रंशदान हैं। यह संस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार हुई है एवं उसके भीतर ग्रनेक ग्रोपिधयों का रस समाहित है। " इसका कारण यह है कि यहां पर द्रविड़, ग्रायं, शक, हूण, मुस्लिम, ग्रंगेज ग्रादि कितनी ही विदेशी एवं देशी जातियों का सिम्मलन हुग्रा ग्रीर सभी ने ग्रपनी ग्रपनी सांस्कृतिक विशेषताग्रों हारा भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। परन्तु भारतीय संस्कृति का सबसे वड़ा गुण यह है कि वह समन्वय प्रधान है। इसी कारण यह ग्राज तक ग्रद्धुण एवं एक रूप बनी हुई है। ग्रन्य सभी संस्कृतियां यहां ग्राकर इस ग्रखंड सांस्कृतिक स्त्रोत में ऐसी विलीन हो गई

★ जैनाचार में ऋहिंसा को ऋत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त है। पूर्ण ऋहिंसा मनुष्य की महान साधना है। जैन संस्कृति की इस ऋहिंसा का ही प्रभाव महात्मा गांधी पर पड़ा था क्योंकि इसी कारण ने "पाप से घृणा करो पापी से नहीं" के विचारों को ऋपनाते हुए विश्ववनधुत्व पर जोर देते थे।

कि म्राज उनका स्वतंत्र म्रस्तित्व नहीं दिखाई देता। यह संस्कृति म्रपने इसी गुएा के कारण म्रन्य संस्कृतियों का सम्मिश्रण होने पर भी मां लिक रूप में विद्यमान है, नयो कि संसार की प्राचीन से प्राचीन संस्कृतियां या तो परिय— तित हो गई या सदैव के लिए म्रतीत के गर्ता में समा गई। परन्तु भारतीय संस्कृति की इस पुनीत गंगा में म्रन्यात्य नदी—नालों के समान मिलने वाली संस्कृतियों का सम्मेलन होने पर भी उसने सबको गांगेय रूप देकर म्रपना बना लिया है।

इस भारतीय संस्कृति का स्वरूप वैदिक एवं प्रवैदिक दोनों प्रकार की संस्कृतियों के सम्मिश्रण द्वारा निर्मित हुप्रा है । वैदिक संस्कृति का तात्मयं उस संस्कृति से है जिसका विकास वेदशास्त्रों प्रथवा निगमागमों के प्राधार पर हुपा है श्रीर ग्रवैदिक संस्कृति वह है जो वेद—याग विचारों के ग्राधार पर यहां पह्मवित हुई हैं। इस ग्रवै— दिक संस्कृति के ग्रंतर्गत ग्राग्नेय मंस्कृति, द्रदिट् संस्कृति, जैन संस्कृति, वौद्ध संस्कृति तथा श्रन्य भारतेतर विदेशी संस्कृतियां ग्राती हैं। इन श्रवैदिक संस्कृतियों की ग्रान्तरिक विचारवारा ने भारतीय संस्कृति के विकास में पर्याप्त
योग दिया है, परन्तु इनके विचार ग्राज भारतीय संस्कृति में
ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उन्हें पृयक करके देखना सर्वथा
ग्रसंभव-सा जान पड़ता है। जैन संस्कृति भी ऐसी ही
संस्कृति है, जिसका विकास तो भारत में ही हुया है ग्रीर
भारतीय जन-जीवन को भी जिसने ग्रत्यधिक प्रभावित
किया है, परन्तु जिसके स्वरूप का संगठन कुछ वैदिक
ग्राचार-विचार के विरुद्ध हुग्रा है। इसी कारण इसे
ग्रवैदिक संस्कृतियों की कोटि में गिना जाता है।

भारत में जैन-संस्कृति का प्राद्भवि ग्रत्यन्त प्राचीन काल से माना जाता है। यहां पहले वैदिक युग में यज्ञों की अत्यधिक प्रधानता थी और प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा विश्वास था कि यज्ञों से ही मनोवांछित फल की प्राप्ति हो सकती है। अतः घर-घर यज्ञ होते थे। धीरे-घीरे यज्ञ का विधान इतना विचित्र हो गया कि यजमान लोग पांडित्य एवं विद्वत्ता की प्राप्ति के लिए पंडित एवं विद्वान व्यक्ति की विल देने लगे तथा पश्-विल देना तो ग्रत्यन्त स्वाभाविक हो गया । इसके साथ ही उस समय वर्गों में परस्पर भेद-भाव भी वढ़ने लगा था और शुद्र एवं नीच वर्ग के लोगों के प्रति घृए।। का भाव भी घर करता चला जा रहा था। प्रतएव यज्ञों में नर-बलि एवं पश्-इलि का विरोध करने के लिए तथा वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत पारस्परिक भेद-भाव को दूर करने के लिए उस समय जैन-संस्कृति का स्वरूप झागे झाया। इसके म्रादि प्रवर्त्त क 'ऋपभ' माने जाते हैं, जिन्होंने राजा होते हुए भी राजपाट प्रपने पुत्र भरत को देकर सन्यास घारण किया था। जैनधर्म के २३ तीर्थंकरों में से प्रथम स्थान 'ऋपभ' जीका ही है तथा म्रांतिम पारवानाथ माने जाते हैं. जो महावीर स्वामी की मृत्यु से लगभग २५० वर्ष पूर्व तक विद्यमान रहे । द्वीं सदी ई० पू० में श्री पार्श्व-नाथ हए थे। परन्तु जैन-संस्कृति के प्रमुख प्रचारक इस युग में महावीर स्वामी ही माने जाते हैं, जो २४वें तीर्थं-कर हैं तथा जो इन चौबीसों तीय करों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

जैन संस्कृति में पांच वतों की व्यवस्था की गई है।

इन पांच बतों के बारे में विद्वानों का मत है कि (१) हिंसा न करना, (२) असत्य न बोलना, (३) चोरी न करना श्रीर (४) परिग्रह या सम्पत्ति न रखना-ये चारं वत पार्श्वनाथ के थे। परन्तु महावीर स्वामी ने इनमें पांचवां ब्रह्मचर्यं का बत श्रीर जोड़ा था। इस तरह श्रहिंसा सत्य, श्रस्तेय, श्रपरिग्रह श्रीर ब्रह्मचर्यं नामक पांच महाव्रत मुनि के लिए श्रीर इन पांच पापों के एक देश त्याग ह्प अगुव्रत प्रत्येक गृहस्य के लिए श्रावश्यक बताये गये थे।

जैनाचार में ग्रहिमा को ग्रह्यन्त उच्च स्थान प्राप्त है। पूर्णं ग्रहिसा मनुष्य की महान सावनां है। जैन संस्कृति की इस ग्रहिसा का ही प्रभाव महात्मा गांघी पर पड़ा या क्योंकि इसी कारण वे "पाप से घृणा करो पापी से नहीं'' के विचारों को अपनाते हुए विश्ववन्युत्व पर जोर देते थे। जैन संस्कृति में दो प्रकार के साधक माने गये हैं मुनि और गृहस्य । एक पूर्ण साधक है और दूसरा अपूर्ण साधक। जिसके जीवन में अहिसा पूर्णतः उतर चुकती है वह मूनि या पूर्ण साधक कहलाता है। गृहस्य या अपूर्ण साधक के जीवन में अहिमा पूरी नहीं उतरती। उसकी अनेक ऐसी जिम्मेवारियां है कि वह अपने जीवन में ग्रहिसा को पूरे रूप से नहीं उतार सकेता। यही कारण है कि उसके अभ्यासार्थ पांच अगावत तीन गुणवत और चार शिचा त्रतों का विघान जैन शास्त्रों में पाया जाता है। ये व्रत मनुष्य की लौकिक तरक्की में बाघक नहीं वनते प्रत्युत उसमे साधक वनते हुए उसे पूर्णता की स्रोर ले जाने में सहायक होते हैं।

जैन संस्कृति की एक विशेषता यह भी है कि इसने अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद जैसे दार्शनिक विचार प्रदान किये हैं। जैन दार्शनिक वहुत कुछ विचार करते करते इस निष्कर्ष पर पहुंचे है कि किसी भी बात को बहुत जोर देकर कहना ठीक नहीं, क्योंकि दुनियां में कोई भी वात ऐसी नहीं हैं, जिसे अधिक वलपूर्वक सप्य या वित्कुल ठीक कहा जा सके। सत्य के अनेक पहलू होते हैं और हम जब जिस पहलू को देखते हैं, तब वही पहलू हमें सत्य दिखाई देता हैं। अत: सच्चा दर्शन अनेकान्तवाद हैं, जो सत्य के म्रनेक पहलुम्रों के विषय में सम्यक दृष्टि रखता हैं। इसी तथ्य को जैन दार्शनिकों ने 'स्याद्वाद' के नाम से भी म्रिभिहित किया हैं। स्याद्वाद रूएक समन्वयात्मक विचार पद्धति हैं। यह संसार के समस्त सम्प्रदायों में समभाव की भावना उत्पन्न करता है। साम्प्रदायिक विवादों को निपटाने के लिए यह सर्वोत्तम उपाय है।

इस तरह जैन-संस्कृति में वेदों की सत्ता श्रीर प्रामाणिकता एवं अपीरुषेयता को स्वीकार न करके वैदिक क्रिया-विधियों, यज्ञ-विधियों, यज्ञ-विधानों, ब्राह्मणों के प्रभुत्व ग्रादि का घोर विरोध किया गया है तथा जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं लाभकारों पवित्र नियमों, त्रतों ग्रादि की व्यवस्था की गई हैं। इतना श्रवश्य हैं कि इस संस्कृति में मोज्ञ-प्राप्ति के लिए अत्यन्त कठोर तप एवं संयमपूर्ण जीवन को महत्व दिया गया हैं। इसी कारण इस संस्कृति में लग्न रहने तथा सल्लेखना द्वारा मृत्यु प्राप्त करने को प्रच्छा समभा जाता हैं। इस संस्कृति में वौद्धों की 'मध्यम प्रतिपदा' को अच्छा नहीं समभा जाता। वयों कि वह तो वीच का मागं है और उसके द्वारा मानव योगी की अपेद्धा भोगी प्रविक वन सकता है। इस संस्कृति में तो जन्म—मृत्यु एवं आवाग्मन का मूल कारण कर्म माना गया है। अतएव यहां तपस्या द्वारा कर्म के द्धाय करने तथा कर्मों के आसव को रोकने के लिए अधिक जोर दिया जाता है और इसीसे इस संस्कृति में आत्मशुद्धि पर का अधिक महत्व माना गया है। फिर भी इस संस्कृति के पितृत्र एवं पावन नियम तथा वत मानव—जीवन को उन्नत एवं उदार बनाने में अत्यन्त उपयोगी हैं।

## राग धनाश्री

चेतन उल्टी चाल चले ॥ टेक ॥ जड संगत तें जड़ता व्यापी निज गुन सकल टले ॥ चेतन० ॥१॥ हित सों विरचि ठगनि सौं राचे, भोह पिशाच छले ॥ हंसि हंसि फंद सवारि श्राप ही मेलत गले ॥ चेतन ॥२॥ श्राप निकसि निगोद सिधु तें, ऋाये फिर तिह पंथ दले। होय श्राग जो प्ररगट द्वी पद्दार तले ॥ चेतन० ॥३॥ भूले भव भ्रम वीचि 'वनारसि', तुम सुरज्ञान भले। धर शुभ ध्यान ज्ञान नोका चढि वैठे निकले ते ॥ चेतन० ॥शा

## वद्ध मान महावीर : एक परिचय

ट्या कि ग्राज ग्रशांत ग्रीर पीड़ित है। स्वभावत:, युग भी है। हिंसा, घृता, विद्वेप श्रीर विग्रह के महारोगों से हम धिरे हैं। जीवन के नैतिक मूल्य विनष्ट हो गये हैं। मनुष्य हैं, पर मनुष्यता नहीं है। ग्रंघेरा है श्रीर मार्ग नहीं दीखता है । 'क्या करें ?' प्रश्न है पर उत्तर नहीं है। सोचता हूं, पर क्या सच ही उत्तर नहीं है ? या कि उत्तर है श्रीर हम ही ग्रंघे श्रीर वहरे हैं जो उसे देख ग्रीर सून नहीं पाते? ईसा का स्मरण ग्राता है। कहा था उस मनीपी ने: 'श्रांख होते हुए तुम देखते नहीं, कान होते हुए सुनते नहीं।' यह एकदम सत्य है। ऐसे ही हैं हम । उत्तर है ग्रीर सदा से है; प्रश्न था उसके पहले ही उत्तर था, यह उत्तर, यह मार्ग युग-युग में प्रगट हुमा है म्रनेक रूपों में म्रनेक विधि । म्राज से ढाई हजार सम्वत्सर पहिले यह शाश्वत मार्ग महावीर के रूप में हुया। हिंसा, ग्रशांति, ग्रधमं ग्रीर ग्रराजकता के वीच महावीर मार्ग वनकर म्राए । म्राज फिर वैसा ही कुछ ग्रंघेरा है। कौन जाने उनका जीवन ग्रीर दर्शन ग्राज भी हमें प्रकाश दे सके। इस ग्राशा में ही उनपर विचार करता है।

ढाई हजार वर्ष पहिले, ग्राज से, महावीर जन्मे। घर का नाम वर्दामान था; महावीर तो वाद में वने जब ग्रपने को जीता। यह जीत बड़ी थी, उससे बड़ी ग्रीर कोई जीत नहीं है। ग्रपने को जीतना ही सब कुछ जीतना है। कहा है महावीर ने: 'एक ग्रात्मा के जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।' दुश्मन बाहर नहीं है। वह भीतर ही है; ग्रहंकार में, वासना में वह छिपा है। वह है तो दुख बना ही रहेगा। उसकी समाप्ति पर ही ग्रानन्द है। पर समाप्ति उसकी ग्रासान नहीं है। जन्म-जन्मांतरों में उससे उलमकर ही विजय थी मिलती

★ यह अनेकांतवादी हिन्टकोण महा-वीर के सर्वेसमन्त्रयी दर्शन का आधार है। इस समन्वयवादी उदारता के कारण ही वे लोक पूज्य हुए थे। सब उन्हें स्वीकृत है, सबका आदर है, सबके प्रति अनंत करुणा है। उनका प्रभाव युग पर अभूतपूर्व था।

है। महावीर को भी यह विजय एक दिन में नहीं मिली। ग्रनेक जन्मों का संघर्ष पीछे था। धर्म ग्रन्य कहते हैं कि बहुत जन्म पीछे उनका जीव एक भील के शरीर में था। नाम था पुरूरवा। पुरूरवा ग्रौर उसकी पत्नी शिकार को निकले थे। उन्हें एक भाड़ी में दो ग्रांखें चमकती दिखीं । पुरुरवा ने तीर निकाल कर घनुप पर चढ़ाया। तीर घनुप से निकलने को ही था कि पत्नी ने रोक दिया । कहा: ''वहां शिकार नहीं; कोई वन देवता वैठे हैं।" दोनों वहां गये ग्रौर सच ही भाड़ी में एक मृनि को ध्यानस्य पाया । मुनि समाधि से उठे तो उन्होने कहा: 'भील राज ! इस मोह में क्यों पड़े हो ? तुम चाहो तो लोक को अपना सेवक वना लो !" पुरूरवा ने सारचर्य पूछा: "सो कैसे ?" साधु ने कहा, "कुछ नहीं, जरा सी वात है। ग्रपने को जीत लो। विजय फिर तुम्हारी । इस शरीर को अपना मानना भ्रांति है। यह शरीर यहीं मिट्टी में पड़ा रह जायेगा । जो हंस भीतर है, वह उड़ जायेगा । वही तुम हो । इसलिए तुम ग्रमर हो। शरीर छूटने पर भी तुम रहोगे फिर शरीर के मोह में क्यों पड़े हो। छोड़ो यह दासता।" भील ने कहा; ''ग्राप भूलते हैं। मैं दास नहीं। भीलों का सरदार हूं"। साघु हँसे थे ग्रौर उनसे निकला थाः 'भोले पुरूरवा!

सरदार कहा है ? दो ग्रंगुल की तुच्छ जीभ तो तुभे पना दास बनाये हुए है। जसके स्टाद के लिए तू जीवों प्राण लेता फिरता है। उसकी ग्राज्ञा तू कहां टाल ाता है। फिर बता, तूदास नही है?" पुरूरवा को त्य दीखा--ग्रपनी दासता दीखी। उसके मन में बात ।ग गई। उसकी चेतना के समन्न जैसे एक नया द्वार बुल गया। एक नये संकल्प ने उसे घेर लिया। स्वतन्त्र ोना है। ग्रपना मालिक होना है। ग्रीर पुरूरवा में म्हावीर का वीज पड़ गया । यही पुरूरवा बा<mark>द</mark> में न्हावीर हुग्रा । वीच में **ग्रनेक जन्मों की उतार च**ढ़ाव की कथायें हैं। लम्बा संघर्ष है ग्रीर तब प्राप्ति है। नर प्रयास व्यर्थ नहीं जाते हैं । हिंसक पुरूरवा—न कुछ पुरूरवा, महावीर वन जाता है, सर्वज्ञ, ग्रात्मज्ञानी। सबका पूज्य स्रौर सबका मार्ग–दृष्टा । सतश्रम 🛮 उपादेय है । यह श्रम ही सच्ची संपत्ति हैं । यह श्रम ही पुरूरवाको महावीर तक ले स्राया । महान् उद्योग महान् पद तक ले म्राता है। श्रम पर यह म्रास्था ही श्रमण संस्कृति का मूलाधार है । मानवारमा के विकास की संभावनायें अनंत हैं प्रयास भर साथ हो तो दास ही प्रभु वन जाता है; श्रात्मा ही परमात्मा वन जातो है।

महावीर राजा के घर जन्मे। सव कुछ था, सव सुख की सामग्री थी। सामग्री दिखी पर उसमें उन्हें सुख न दिखा। क्या थी कमी ? पर कुछ भी भाया नहीं। कुछ भी उन्हें उलभा न सका। सव था, पर उसकी चएए मंगु-र्ता स्पष्ट थी। संसार में सुख का ग्राभास था, सुख न था। वे विवाह योग्य हुए। मां ने विवाह का ग्राग्रह किया तो महावीर ने कहा:—''मां, क्या कहती हो ग्राग्रु का क्या भरोसा—काया का क्या भरोसा। ग्रभी हैं, ग्रभी न हो। इससे जीवन व्यर्थ करने को मेरे पास समय कहां है ? मुभे तो अपने को जीतने के पराक्रम में लगना है।'' यह विचार यह वैराग्य भाव गहरे उनके मन में वैठता गया। जीवन का दुख साफ था; उसकी माया में खोना संभव ही कैसे था? कहा महावीर ने, 'जन्म का दुख है, जरा का दुख है रोग ग्रीर मरए। का दुख है। संसार दुख हम हो है।'' इस दुख से ऊपर कैसे उठू? उसे कैसे पाऊं

जो दुख नहीं है, श्रानन्द हैं, मर्त्य नहीं है श्रमृत है ? यह चिन्ता घर कर गई। सत्य का श्रज्ञान उन्हें काटने लगा। श्रज्ञान से ऊपर उठे विना श्रानन्द नहीं पाया जा सकता है। वस्तुतः तो श्रज्ञान ही दुख है श्रीर श्रज्ञान है घना, इतना घना कि हम कीन हैं यह भी पता नहीं है! एक मानसिक क्रांति उनके भीतर होने लगी। वह विचारने लगे, ''मैंने श्रपने जीवन का इतना समय व्यर्थ ही गवां दिया...श्रव समय खोने को नहीं हैं......जीवन है वहुत श्रल्प, जैसे श्रोस की वूंद कुशा की नोक पर थोड़ी देर ही ठहरी रहती है, उसी तरह यह जीवन है......श्राज है श्रीर कल नहीं...फिर बीता समय कभी लीट कर नहीं श्राता है इसलिए श्रव श्रविलम्ब श्रपने को जानने श्रीर जीतने के पराक्रम में लगना ही उपादेय है।''

महावीर ने माता-पिता से सत्य ज्ञान, ब्रात्म ज्ञान की खोज में जाने की ग्राज्ञा मांगी। तपश्चर्या के जीवन में वे प्रविष्ठ होना चाहते थे। माता-पिता को मोह ने घेरा, म्राज्ञा न दी। महावीर विना म्राज्ञा के ही चले नहीं गये। चुप नाप भी निकल जा सकते थे, पर वह उन्होंने नहीं किया। वे किसी की भी दुख न देना चाहते थे। किसी उत्तम कार्यं के लिए भी नही। उसमें भी वे प्रेम ग्रीर ग्रहिसा का मार्ग लोजते थे। सो वे ग्रीर कुछ दिन रुके। पर यह रुकना ऊपरी ही था। भीतर से तो वे जा ही चुके थे। निर्लेप भाव से वे घर पर ही रहने लगे। घर ही उन्हें वन हो गया क्योकि ग्राध्यात्मिक परि-वर्तन जिस मन में होता है, वह तो वदल ही गया था। इससे ही स्थान वदलने का ग्रति-प्राग्रह उन्होने न किया। मां वाप जव न रहे तो उन्होंने वड़े भाई से माजा माँगी। भाई ने कहा, ऐसे दुख में हमें न छोड़ो, बुछ दिन ग्रौर ठहर जाम्रो।' सो वे दो वर्ष भीर ठहरे। इसमें उनवी सत्याग्रही वृत्ति के दर्शन होते है। इतना संयम ग्रार धीरज उनमें या।

तीस वर्ष की ग्रवस्था में वे मगृही वने । ताद-वन (भोग विलास) को छोड़कर वे तपोदन के हुए | मब छोड़ा कि ग्रपने को पायें | सारी सम्परित ग्रपनी उनके उनको दे टाली जिनको उसकी ग्रावश्यकता थी। योग- साधना ग्रीर तपश्चरण प्रारम्भ हुग्रा । परिचित से ग्रप-रिचित, जात से अज्ञात और जन से निर्जन की ग्रीर उनका प्रयाण हुया। लद्य था। मन, वचन, काय की चंचल वृत्तियों पर विजय पाना । कारण, ऐसे ही ग्रपने को जीता जा सकता था। इनके ही कारण दासता है, दूख है ग्रीर जन्म-मर्गा है। इस ग्रात्म-विजय के लिए विकृति का परित्याग ग्रावश्यक था। सो उन्होंने विकृति को छोड़ा ग्रीर प्रकृति की मुद्रा को ग्रहण किया। भीतर से, बाहर से जो प्रकृत है, उसका ही होना उनका नियम वन गया। अब वे दिगम्बर तपस्वी हो गये। पूर्ण अपरि-ग्रह साधा, तन के कपड़े भी छूट गये। यह अपरिग्रह कपर ही न या। असली छोड़ना तो अन्तर में है। अपरि-ग्रह यानी अनासक्ति। ग्रासिक है तो बाह्य परिग्रह के स्रभाव में भी मन स्रपरिग्रही नहीं होता है। इससे अप-रिग्रह के लिए ग्रनासिक ग्रनिवार्य शतं हैं, ग्रन्तर से रस का जाना मावश्यक हैं। वाहर छोड़ने से भीतर नहीं छूटता, पर भीतर छूट गया तो वाहर ठहराने को क्या रह जाता है। जैसे पके पत्ते वृद्ध से छूट जाते है, वैसे ही वाह्य परिग्रह ऋड़ जाता हैं। महावीर ने कहा भी है:-वस्त्रादि स्थूल पदार्थ परिग्रह नहीं है । वास्तविक परिग्रह तो पर-पदार्थं पर मूर्छा-म्रासक्ति है।" उनका अन्तरंग इस साधना में निर्मल होने लगा शांति उतरने लगी, सत्य साञ्चात् का दिन करीद ब्राने लगा । वे एकांकी, निस्पृह, शांत, पाणिपात्र यतिपति हो गये। शीत, उप्ण वर्पादि ऋतुम्रों के प्रचंडरूप से वे तिनक भी विचलित न होते थे । वह दुई पं-सावना थी । स्रनेकानेक उपसर्ग स्राये । कल्पना थर्रा जाय ऐसे कष्ट ग्रज्ञानियों से उन्हें मिले । पर सव उनने सहा क्यों कि सहना ही तो साधना थी। इस ग्रिंग से निकलकर ही तो वे निखरा सोना वन सकते थे। कप्ट इसलिए वास्तव में उन्हें कष्ट न थे। हमें उनका वर्णन कंपा देता है पर साधक महावीर के लिए वह कुछ भी न था। वह सब अनिवार्य था, कर्मफल था और इससे उनके सामने कोई प्रश्न उपस्थित न करता था। काया को पहुंचाया गया कष्ट जैसे कष्ट ही न था, जैसे वह इप्ट या। उससे होकर ही मार्ग जाता था, सो वह भी प्रिय था, वह भी ग्रानन्द था । हमें यह निर्मम दीख सकता

है। उसमें केवल छोड़ना तपना ग्रीर कष्ट सहना दीव सकता है क्योंकि उसके भीतर के श्रानन्द की उपलिय हमें सहज गोचर नहीं होती है। पर उन्हें वह निश्चय ग्रानन्द था। वह ही ग्रानन्द है। त्याग ही ग्रानन्द है क्योंकि उससे ही उस स्वर की प्राप्ति है जिसके ग्रभाव में सब दुख है, पीड़ा है और मृत्यु है। सम्राट श्रेणिक विम्वसार की भी यह दुर्द पंतप कष्ट मय दीखा होगा। उन्होंने महावीर से पूछा था: "युवक ये ग्राप.....राज्य वैभव था... फिर ग्राप त्यागी क्यों वने ? इस वयस में प्रत्येक ग्रानन्द-भोगता है...फिर ग्रापने यह कप्ट का.....रयाग का मार्ग क्यों पकड़ा ?" महावीर ने उत्तर में कहा था: श्रे शिक ! लोक की यही तो भूल है-कि वह भोगों में...इन्द्रिय वासनायों की दुष्ति में ग्रानन्द मानता है लोक के सारे उपद्रव इसी भूल से होते हैं......जो मानव होकर भी मनन करना नहीं जानते वही विषय वासनाम्रों की पूर्ति में मानन्द पाने का घोका खाते हैं जो सार को सार ग्रीर ग्रसार को ग्रसार मानते हैं, वही सार को पाते हैं। लोक में रस्सी या लोहे के वंघन दिखते हैं परन्तु वह दृढ़ वन्चन नहीं हैं। वस्तुत: हढ़ वंघन इंद्रिय-भोगों में ग्रासक्त होना, वासनाम्रों में वंधना है.....भटंकन है उनमें प्राप्ति नहीं है...। इससे सुख भोग में नहीं, त्याग में है। संसार में आसक्त प्राणी सुख को नहीं पा सकता है वनोंकि वह वासनाम्रों का दास होता है।...दासता में ग्रानन्द कहां ? इससे, श्रे णिक ! ग्रात्म-स्वातंत्र्य ही सुख मूल है ।"

यह तप द्वादश वर्ष चला । महाचीर इस म्रात्म-यज्ञ से निखरकर पूर्ण पुठप वने । वन्धन मुक्त हुए । निर्मृत्य कहलाए । मन पर अब कोई गांठ न थी । सरल ग्रीर सहज स्वरूप में वे स्थित हुए थे । तम कट गया था ग्रीर प्रकाश का अवतरण हुआ था । ऋजुकूला के तट पर मोहनीय कर्म का च्चय करके उन्होंने वीतरागता प्राप्त की । समभाव ग्रीर समहिट्ट उन्हें मिली । मन पर उनके अब न राग था, न विराग था, अब वे वीतराग थे । जड़ता का परिहार हो गया था, पुद्गल के मोह-स्पर्श से विमुक्ति हो गई थी । इस प्रकाश में उन्होंने जाना कि ग्राहमा ही स्व है । शेष पर है । ग्रीर इस सत्य का ग्रज्ञान ही एक- मात्र शत्रु है। ग्रात्मस्थित, स्थितप्रज्ञ होकर सर्वज्ञ ग्रीर सवदर्शी जिन वे कहलाए । जिन, क्योंकि उन्होंने ग्रपने को जीता ग्रीर शत्रुता को जीता। यह नहीं कि फिर उनके शत्रु न रहे पर यह कि उनके मन में शत्रुता न रही। वैर ग्रीर विग्रह का वीज तक उनकी मनीभूमि में जड़ से उखड़ रहा है। यह उनकी ग्रात्म सात्रना कोरी तत्व-साघना ही न थी, प्रेम साघना थी। इससे ही इस मंथन से जो ग्रमृत निकला वह थी ग्रहिसा । ग्रहिसा यानी प्रेम ग्रहिंसा गानी कूर्वानी, ग्रहिंसा यानी ग्रास्तिकता । ग्रपने स्वरूप तक ग्रीर सत्य तक पहुंचने का इसके सिवाय कोई ग्रीर मार्ग नहीं। ग्रहिंसा का ग्रर्थ है दूसरों का मूल्य भी अपने बरावर ही मानना । अहिंसा संपूर्ण जीवन के प्रति एक सद्भावना है। यह विशुद्ध प्रेम है, अनन्त करुणा श्रीर ग्रपार मैत्री भावना है। महावीर के ग्रमृत वचनों में हम पढ़ते हैं। "जीवन सब को प्रिय है, सब ही जीना चाहते हैं, ग्रतः किसी को जरा भी दुख न दो।" दुख देकर दूसरों को हम कभी भी सुखी नहीं हो सकते हैं। दूसरों भी दिया गया दुख दोगुना होकर हम पर ही वापिस लीट आता है। महावीर ने अहिंसा के परम धर्म को वड़ी पूर्णता तक पहुंचाया है। इसकी वड़ी मनोवैज्ञानिक श्रीर सूचम व्याख्या की है। हिंसा दो प्रकार की है। द्रव्य हिंसा ग्रीर भाव हिंसा । भावहिंसा ही जड़ में है। हिंसा का विचार भी करना पाप-कर्म बांघना है। मन में उसका भाव उठाना ही पतन के लिए पर्याप्त है। इससे ग्रहिसक को अपने आपको सबके प्रति इतने असीम प्रेम से भरना म्रावश्यक है कि स्वप्न में भी उसे दूसरों को दुखी करने का विचार न उठ पाये। समग्र जगत के प्रति दुर्भाव के स्रभाव की इस स्थिति के विना कोई भी स्रांतरिक शाति को नहीं पा सकता है । यही ज्ञान है । हिसा ग्रज्ञान में ही संभव है। ज्ञानी हिंसक नहीं हो सकता है क्यों कि वह जिसे अपने भीतर देखता है, उसे ही श्रीरों के भीतर भी पाता है। महावीर के शब्दों में। "ज्ञानी का सार-ज्ञान यही है कि वह किमी की किचित् भी हिंसा न करे। 'म्रहिसा सर्वोपिर है'-यही विज्ञान है।" वे कहते थे कि 'जो अपने को अपिय है, वह दूसरों को भी अपिय भायेगा'- इस सत्य की उपेक्षा करके जो भी व्यवहार मनुष्य करता है, वह सब पापाचार है।" महाबीर ने इस पापाचार को मुख्यतः पांच प्रकार का वतलाया है: (१) हिंसा, (२) ग्रसत्य, (३) चीरी, (४) कुशील ग्रीर (५) परिग्रह।

इन पांच से ऊपर उठकर ही महावीर ने अपने को पाया था। पाया था कि इनसे मुक्त होकर ग्रात्मा शुद्ध हो जाती है। यह शुद्धग्रात्मा ही परमात्ना है परमात्मा कोई अलग परसत्ता नहीं है। वह [मुभसे भिन्न नहीं है। आपसे भिन्न नहीं है। मैं ही वह हूं। अशुद्ध होकर जीव हूं, अमुक्त हूं। शुद्ध होकर मुक्त हूं ग्रीर प्रभु हूं। महावीर की इस उद्घोपणा में वड़ा ग्राश्वासन है । मनुष्य पर वड़ी ग्रास्या है। वे ब्रात्म स्वातन्त्र्य को जीवन का लद्य मानते थे, इसमें ईश्वर की कल्पना को भी वे वाघा नहीं वनने देना चाहते थे। इससे ही उनने मनुष्य को ईश्वर से मुक्त किया और अपने पैरों पर खड़े होने की सलाह दी। अपने बन्धन के लिए मैं ही उत्तरदायी हूं, अपनी मुक्ति के लिए भी। कोई अन्य इसमें कुछ भी नहीं कर सकता है। सब विवरूप मेरे सामने हैं, चुनने को मैं पूर्ण स्वतन्त्र हूं ग्रीर जो मैं चुनूं गा वही में हो जाऊं गा। प्रत्येक जीव स्वयं अपना भाग्य निर्माता श्रीर भोक्ता है। मनुष्य अपने वर्म निरन्तर ग्रपना ही निर्माण करता चलता है। इससे ग्रत्यन्त सावधानी से रहने भौर कमं करने की भावश्यकता है, कारण, जो हम ग्राज करेंगे वही हमारा कल होने को है। महाबीर से पूछा गया या, 'भन्ते। कैसे रहें जिससे पाप-कर्म का बन्धन न हो ?" तो महाबीर ने कहा था, "ग्रायुष्मन । विवेक से चले, विवेक से खड़ा हो, विवेक से बैठे, विवेक से सोये, विवेक से भोजन करे, श्रीर विवेक से ही बोले तो पाप-कर्म नहीं बंघता है।... पापों मे ग्रात्मा की निरन्तर रक्षा करते रहना च।हिये...ग्ररिट्त ब्रात्मा संसार में भटका करती हैं...मुरिद्धन ब्रात्मा मुक्त हो जाती है।" इस निरन्तर जागहकता ग्रीर मुरद्रा का भार प्रत्येक का अपने ऊपर है, कोई इने बांट नहीं सनता है। प्रत्येक को अपना मार्ग स्वयं ही धौर प्रकृति ही तय करना है।

महावीर का दर्शन विशुद्ध ग्रात्म-दर्शन है। मनुष्य शरीर ही नहीं है। शरीर में है पर शरीर पर ही समान्त नहीं है। शरीर से पार और प्रथक उसकी ग्रसली सत्ता है। इन्द्रभृति को ग्रात्मा की सत्ता के संबंध में शंकित देख उन्होंने कहा थां, "निश्चय जानो कि ग्रात्मा है। उसका सर्वथा न कभी ग्रभाव हुग्रा है, न है ग्रीर न होगा।... यद्यपि स्थूल नेवों से ग्रात्मा दिखाई नहीं देती क्योंकि वह रूप रस-गंय-वर्ण रहित है...फिर भी देह से वह विज्ञान-मयी चेतना भिन्न हैं...बह देह की, पंचभूतों की उपज नहीं है...पांचों तत्वों में कोई भी चेतना नहीं है ग्रीर ग्रचेतन—जड़ पदार्थों चेतना का उद्भव कैसे हो सकता है?...जो है जगत में उसका नाश नहीं है ग्रीर जो नहीं है वह हो नहीं सकता है।....फिर पंचभूतों के ग्रंशों का ही पिरणाम ग्रादि चैतन्य भाय हो तो वह ग्रखंड कैसे होगा! बह तो उतने ही ग्रंशों में बंट। होगा.....परन्तु यह मनुष्य का ग्रनुभव नहीं है...वह एक है ग्रीर ग्रखंड है...वह एक है ग्रीर ग्रखंड है...वह ग्रखंड पदार्थ ग्रात्मा है।"

महावीर ने जीवन ग्रौर जगत सत्ता की वड़ी सूदम ग्रीर वैज्ञानिक व्याख्या की है। उनका सिद्धान्त एक विज्ञान की भांति कार्य कारण सूत्र पर ग्रावारित है। वे कहा करते थे, "कमं चय करना है तो कमों के पैदा करने वाले कारणों को हुं हो। ग्रीर उनको छेद कर ग्रचय यस का सचय करो।" महावीर का दर्शन दार्शनिक जिज्ञासा से प्रविक जीवन की उत्कर्प चेप्टा में से प्राप्त हुम्रा है, इससे कोरी वौद्धिक तारिवक व्याख्या का आग्रह उसमें नहीं है, जीवन दुख है, दुख के पार होना है, इसलिए दुख के पार ले जाने वाला मार्ग ही महत्वपूर्ण ग्रौर विचारणीय है। इससे मृष्टि कैसे बनी, किसने बनाई, क्यों बनाई म्रादि प्रश्नों को महावीर ने वाद दे दी है। मृद्धि तो है ग्रनादि, वे कहेंगे, इससे उसके कर्ज का प्रश्न नहीं है। प्रश्न केवल यह है कि यह सृष्टि जो दुख ग्रीर उलकत से भरी है, यह जो निरन्तर भव-बाघा है, उससे निस्तार कैसे भिले । संसार जो अन्वन है उसमें से जीव ग्रपना मोस्न कैसे साधे । महावीर द्वारा जगत-सत्ता को सात तत्वों में विभाजित करने के पीछे भी यही भाव परिलक्षित होता है। उनके सात तिरव हैं: (१) जीव, (२ ग्रजीव, (३) ग्रासव, (४) वंघ, (५) संवर,

(६) निर्जरा, श्रीर (७) मोत । जगत् जीव श्रीर ग्रजीव में विभक्त है। जड़-तत्व ग्रीर चेतना दोनों स्वरूप में गुसात्मक रूप से भिन्न और प्रथक हैं। ग्रासन का ग्रयं है चेतना पर कर्म-मल का ग्राना। कर्म-ग्रायाति का न:म ही ग्रास्त्रव है। प्रत्येक कर्म ग्रपने साथ ग्रपना 'बंध' लाता है। कर्म करके ही इति नहीं है। कर्म तो जा चुका होता है पर उसका संस्कार छट जाता है । ये संस्कार— ये कर्माणु-ग्रात्मा के साथ चलते हैं। इनसे ही उसके कार्भाण शरीर का निर्माण होता है। मृत्यु में भौतिक शरीर गिर जाता है पर कार्माण शरीर बना रहता है। यह कर्म-वंघ ही जन्म जन्म में भटकता है। कार्माण शरीर के विसर्जन के लिए ग्रास्तव का रोकना ग्रावश्यक है। इससे महावीर का 'संवर' तत्व निकलता है। संवर श्रर्थात् रोकना। कर्म-मल विसर्जन के दो पहलू हैं, (१) नये कर्पाणुओं को आने से रोकना और (२) संचित कर्माराष्ट्रीं को वाहर करना । 'संवर' से पहले का अर्थ है 'निजंरा' से दूसरे का। समग्र कर्म संस्कारों से श्रातमा कव पृथक हो जाती है तो इस अवस्था का नाम ही 'मोच' है। मोच कोई स्थानिक घारणा नहीं है, मोच ग्रात्मा की स्वरूप ग्रवस्था है। ग्रपने में ग्राकर ही ग्रात्मा मुक्त हो जाती है। महाबीर वाणी में कहा गया है, 'तपस्या के द्वारा वंघे कर्मों की निर्जरा से ब्रात्मा मुक्त हो जाती है ..... कर्म ही वन्यन है। मन, वचन, कार्य द्वारा यदि जीव संवर पाले तो पाप कर्म नहीं वंचते ग्रीर तपस्यां से संचित कमों का नाश हो जाता है। इस प्रकार नये कर्मी ( ग्रास्नव ) के रुक जाने से ग्रीर पुराने कर्मी के चय ( निर्जरा ) हो जाने से संसार भ्रमण का अन्त हो जाता है .... निसंदेह, कर्मद्रय से ही दुखद्मय होता है ... दुखत्त्य से वेदना चय होती है श्रीर वेदना-चय से सव दुखों की निर्जरा हो जाती है... और इस तरह जीव मुक्त होकर शुद्ध बुद्ध परमात्मा स्वरूप को पा लेता है।

महावीर ने जो कहा वह कोई नया सत्य न था और फिर वस्तुत: सत्य नया-पुराना होता भी कहा है ? उन्होंने वहीं कहा जो सनातन है और सदा से है। वे कोई नया धर्म स्थापित करने न ग्राये थे। वे धर्म को नहीं, धर्म में

खोयी निष्ठा को पुनस्थापित करना चाहते थे। सत्य तो एक ही है, वह अनेक कैसे हो सकता है। देखने की हिष्टयाँ भिन्न हो संकती हैं, पहुंचने के मार्ग ग्रलग हो सकते हैं पर इससे वह अलग नहीं हो जाता है जिस तक कि पहुंचना है। महावीर के प्रति विश्व इस आत्यतिक रूप से असंप्रिदायिक और अनेकांतवादी जीवन-दृष्टि दान के लिए सदा ऋगी रहेगा। उन्होंने कहा मताग्रह पाप है। मैं सही हूं ग्रीर दूसरा गलत है, यह दृष्टि हिंसक श्रीर ग्रहंकारी हैं। मैं भी सही हो सकता हूं, दूसरा भी 'सही हो सकता है। यह भी सही हो सकता है, वह भी सही हो सकता है। उनका यह ही के स्थान पर 'भी' पर जोर तत्व चितन के जगत में एक महाच क्रांति है। सत्याग्रह का साधक मताग्रही की हो सकता है। सत्य भ्रनेक विधि दीखेगा, निरूपण भी उसका अनेक रूप से होगा। एक मत न। आग्रह, हर अनेक का असरकार है, इसलिए प्रनजाने वह संत्य का तिरस्कार बनता है। इससे उन्होंने किसी का विरोध नहीं किया है, खंडन नहीं किया है, संत्य जैसा दीखा है उसका पक्षात रहित ही निरूपण किया है। सत्य ही उन्हें महत्वपूर्ण था, सत्य के संबन्ध में प्रगट विचार नहीं । उन विचारों पर हककर विरोधे वैमनस्य होता है। विचार सीमित है, भाषा सीमित है, दृष्टि सीमित है, इसलिए निश्चय ही, श्रसीम सत्य उनमें पूरा पूरा संमाता नहीं है। अज्ञात शत्रु से महावीर ने कहा था, "मनुज्य की हिष्ट परिमित श्रीर सीमित है-वह कथंचित् ही वस्तु की देख सकती है। वस्तु का सर्वांग ज्ञान उसे युगपत नहीं होता है और वह उसका विघान करने में असमर्थ है...वस्तु अनंत धर्मात्मक....वह परि-वर्तन की रंग भूमि है, निरन्तर वहने वाला प्रवाह है... वह इन्द्रिय बोध, बुद्धि कल्पनाओं और वचन बलापों से बहुत ग्रधिक है। वह वर्तमान में वर्तता हुग्रा भी, भूत~ भविष्यत् दोनों को ग्रपने गर्भ में समाये हुए है। वह केवल ज्ञान-गम्य है उसका अनंतवां भाग वृद्धिगम्य है उसका भी धनन्तवां भाग शब्द गीचर है।" इसमे शब्दों पर विवाद व्यर्थ है। विचारों पर मताग्रह व्यर्थ है। सत्य को बौद्धिक विश्लेषण से नहीं, ग्रात्मिक अनुभूति से ही पाया जा नकता है।

यह अनेकांतवादी हिन्दकोरा महावीर के सर्व-समन्वयी दर्शन का आघार है,। इस समृत्वयवादी उदारता के कारण ही वे लोक पूज्य हुए थे। सब उन्हें स्वीकृत हैं, सबका आदर है, सबके अति अनेत कुरुणा है। उनका प्रभाव युग पर अभूतपूर्व था। जो निकट आया सो उनका हो गया। दूर दूर तक उनके जीवन को सुगंधि पह ची। वे लोक के लिए जीवन के दुखों से भार ले जाने वाले तीर्थं वन गए। सर्वं ग्रात्म कल्याएकारी तीर्थं का प्रवर्तन उनके द्वारा हुमा। तीर्थ का मर्थ है, 'जिसके द्वारा तिरा जाये'। इससे ही वे तीर्थंकर कहनाये। प्राचार्य समन्तभद्र ने उन्हें 'सर्वोदय तीर्थं' कहा है क्योंकि उनके हृदय के द्वार सबके लिए खुले थे। कोई जाति-पांति का भेद न या, स्त्री-पुरुष' की भिन्नता न थी। सत्र आमिति थे सव उनकी करुणा के समान पात्र थे। उनकी छाप सव पर पड़ी जिसके चिन्ह आज भी एकदम मिट नहीं गये हैं हम जो माज हैं, हमारी संस्कृति जो माज है, वह उनके विना ऐसी नहीं हो सकती थी। सोचता हुं कभी, नमों था इतना अनुभूत उनका प्रभाव ? कहां से यह प्रालीकिक शक्ति उनमें माई थी ? उत्तर खोजने दूर नही जाना पड़ता है, महावीर की दिव्य प्रतिमा आंखों में खड़ी हो जाती है। म्राज भी वह शांति देती है, पवित्र करती है। उनके प्रभाव का कारण स्पष्ट हो जाता है, उन्होने वही कहा जो किया था। उनके विचार और माचार से मन्तराल न था। विचार और कमं एक था। विचार ग्रपने में मृत है, ग्राचार में उतर कर ही वह जीवन्त वनता है। महावीर का ग्रभूतपूर्व प्रभाव इसी तथ्य में निहित है। उपदेश नहीं, प्रादर्श-उदाहरण ही कार्यकारी होता है। वह जो अपने को वपाता है अपने को जीवता है, सत्य जिसे वीदिक ही नहीं, अनुभूतिगत होता है, निश्चय ही उसकी विचाराशारा देश ग्रीर काल में निस्तीम प्रभाव डालती है। इस अर्थ में महावीर दूर होकर भी हमसे दूर नहीं हैं। उनका प्रभाव माज भी जीवित है, उनकी प्रतिमा श्राज भी हमारे हृदयों में बैठी हुई है। ऐसा नहीं लगता है कि काल की प्रपेक्ता से ये हमसे दूर हो गये हैं, पर कारों ! उनके प्रभाव को हम प्रपने जीवन में भी उतार पार्वे, उनके त्यान, उनकी घ्रहिसा, उनकी समन्यय साधना को, तो इतना निश्चित है कि वे माज भी उलभन, मन्पर श्रीर दुख से हमें बाहर के जा नकते हैं।

#### Ram Chandra Jain

Hony. Director, Institute of Bharatalogical Research, Sriganganagar.

# Fitth Vow of Vardhamana Mahavir: its Causes

The first (those under first Tirthankaras) Saints were simple but slow of understanding, the last saints prevaricating and slow of understanding, those between the two simple and wise, hence there are two forms of laws."

Thus said Gautama to Kesi on his question, "The Law taught by the great sage Parsva, recognises but four vows, whilst that of Vardhamana enjoins five. Both laws pursuing the same end, what has caused this difference?"

Gautama's answer may be a complete truth but this does not satisfy the modern scientific scholar. Scholars have accepted that Parsava was a great historical personage and Mahavira came 250 years after htm. There must have been great socio-historical forces at work during this period that brought this revolutionary change converting the nature of simple and wise people into prevaricating and slow.

Aryo-Brahms had finally subjugated the western parts of Bharata after their victory in Dasrajna war Circa 1150 B.C. Thay had settled in the region of It was the general social atmosphere of moral decadence that influenced the judgement of Mahavira to independently propound the vow of Brahmacharya.

Brahmacharya, according to Vardhamana, was not the study of Vedic or any other literature or the art of priesthood. It was a conduct of life. Brahmacharya is victory over attachment. It is complete abstinence from sexual intercourse. Nay, it is much more. It is complete control over matter.

- Editor

Saraswati and Drsadvati valleys which they renamed Brahmavarta. Eminent scholars maintain that the Aryo-Brahms, who later came to be known as Vedic people, were associated with great acts of violence in war and in peace which the original people of Bharata strenously opposed. The violence aspect of Vedic culture is rightly given prominence but its another aspect, the aspect of sex-relationship, has not even been given due recognition.

We find three strata of sex-relationship of the Vedic people in Rigveda and later Vedic literature. Firstly, unlicensed communal sex-relationship between man and woman during their nomadic semi-barbarous state continuing up to 1150 B.C., secondly unlicensed free sex-relationship after they adopted the settled patriarchal family state till Circa

<sup>1.</sup> Sacred Books of the East, Volume 45, 1835, Uttarudhyayana Sutra, 23 26 Page 122,

<sup>2.</sup> Op. Cit, Utt, Su. 23. 23-24 Page 122,

750 B.C.; and thirdly sex-freedom under regulated family State till circa 600 B.C.

When the Aryans and their successors, the Aryo-Europeans, the Aryo-Asians, the Aryo-Hittites, the Aryo-Iranians and the Aryo-Brahms, were in the nomadic state; they developed the the patriarchal system as the son was of greater importance to daughter for subjugating winning wars and adversaries. The Aryan people from the very beginning had prejudices against the womanhood. The best utility of the woman was to produce children' and specially sons to strengthen their physical might. Vedic people always cherished the birth of a son and that was a great occasion for joy and festivity. They deprecated the birth of a daughter<sup>2</sup>.

The Aryans in their earlier stages were organised in tribal collectives. They had a collective system of production which they called Yajna. Idea of relationship like father, mother, son, daughter etc. was absent and men and women had free sexual intercourse with one another in the presence of all. They took part in mass sexual intercourse in the presence of fire, invigorated by the quaffing of plenty of Soma juice or liquour<sup>3</sup>.

Yajna seems to have meant in these remote times an orgy of promiscuous sexual intercourse by the side of the alter itself. Yajna means procreation, without any relationship of father and mother, in context of social sexrelationship.

They usually organised popular festivities called Samana. Yaska explains it as an epithet of Yosa (योपा) in the sense of 'Unanimous'4. He gives योपा the meaning of a young woman tracing it to 🗸 पु 'to mix' literally 'mixing with a male"5. The sense here clearly is that all males and females met there together with one mind, with unanimity. There was no distinction of father and daughter, mother and son, brother and sister but there was only one distinction of man and woman but both having unanimity of plan and purpose. But Yaska appears to be wrong in taking the principal word as 'Samana'. This may as well be 'Samana'. This fits in well with the historical context. It may be that during the 7th centuries B. C. when Yaska flourished, people might have begun to deride the primitive Samana institution which might have forced him to play intellectualism with grammar. 'Samana' is a proper noun, not an epithit of qiv

<sup>1. (1)</sup> Rigveda 1.91.20; 1.92.13; 3.1.23; 10.42.45; 10.85.25.

<sup>(2)</sup> Atharvaveda 3.32.2; 5.35.11

<sup>2.</sup> Atharyaveda 6.11.3.

<sup>3.</sup> P. D. Karmakar, The Asvamedha. Its original signification, A. B. O. R. I. vol. 30 Page 341, 343.

<sup>4.</sup> Siddheswar Varma, Etymologies of Yaska, 1953, Page 66.

<sup>5.</sup> Op. Cit, Page 82.

signifying 'Communal Festival' where all partaking members of the community were of one mind. Young and old women rushed forth to Samana with joy and felicity to find lovers and to enjoy with their old lovers.

This state of sexual-relationship is very correctly reflected in the two epithits signifying this state of affairs. This relationship is summed up in the words Jara<sup>2</sup> and Jaya<sup>3</sup>. Jara means a male human being who is the lover of any woman in the society. This word does not carry the sinister meaning of a voluptuous unsocial element in this age. The sinister meaning was later on attached to this word. Jaya was not used in the sense of Patni or married wife. Any woman of society who bore children from her lover the Jara was called Jaya. This clearly establishes that men and women, without any distinction, could make merriment with each other with mutual consent without social disapproval or blasphemy. Love bears throughout the stamp of an undisguised natural sensuality.

Women in this communal context, were known as Yosas (योपा). More beautiful damsels amongst them were known as Usas. Usa in Rigveda is depicted

as brilliant and attractive maiden dressed in variegated colours, ever joyful dancing with her breasts open, effulgent in pearless beauty, radiant with her lover, charming and resplendants. They did not belong to the Hetaera class of society as suggested by Pischel and Geldner<sup>6</sup> but that was the general state of the social organisation. What came to be looked down in later times on the division of society into the Noble and the Hated approbated and revered in the undivided state of society. Urvasis were best among Usas. They could not bind themselves to any one particular man. They belonged to the whole society or Gana, Urvasi, the Ganike was the mother of the illustrious Sage Vasistha7 but his fatherhood is ambiguous and doubtful. Urvasis were also used to ensnare the effective enemy leaders as in the case of Non-Aryan Pururava. Sex-relationship of the Vedic people, in their earliest stage, was of the type of unrestrained and free communal sex enjoyment.

Aryo-Brahms after their conclusive victory in Dasrajna War had settled in the Saraswati-Drasadvati region. They had earlier come in contact with a

<sup>1. (1)</sup> Rigveda 2.36.1; 4.58.8; 6.75.4; 7.2.5.

<sup>(2)</sup> Atharvaveda 2.36.1.

<sup>- 2.</sup> Rigveda 1.66.8; 1.117.18; 1.134.3; 1.152.4; 9.32.5.

<sup>3. (1)</sup> Rigveda 1.105.2; 1.124.7; 3.53.4; 4.3.2; 4.18.3; 9.82.4; 10.10.7; 10.17.1: 10.71.4 .

<sup>(2)</sup> Atharvaveda 8.76.3-5; 19.42.2; 3.30.2; 6.60.1.

<sup>4.</sup> A Weber, The History of Indian Literature, 1261, Page 38.

<sup>5.</sup> Rigveda 1.22.10; 2.29.1, 1.92.4.

<sup>6.</sup> V. M. Apte, Vedic Age, 1957, Page 391.

<sup>7. (1)</sup> Rigveda 7.33.11.

<sup>(2)</sup> S R. Shastri; Women in the Vedic Age, 1954, Page 63.

similar culture in Iran two centuries ago: but in the nomadic state, they did not assimilate much of that culture. The impact of the original Bharatiya culture was very effective on them after they took to settled life. Families on the patriarchal pattern were established. Aryo-Brahms or the Vedic people were in possession of a vast domain of land, prosperous in agriculture and industry with a very high state of culture and The wholesale massacre civilization. of the original people of Bharat on battle fields left numerous widows as prizes of war whom they took as their slaves and concubines. Indra led the process. He took to concubinage the widow of Puru Purukutsa, the leader of the Ten-Republics confederacy, Purukut sani Narmada who afterwards gave birth to a levirate son Trasadasyu from Indra<sup>1</sup>.

The Vedic people were great intellectuals. They readily understood that their old tribal collective way of life and socio-economic institution of Yajna could not endure in their original form in the altered circumstances. Their first reaction to the influence of the spiritual Bharatiya culture was that they

disintegrated their tribal life and took to family life. Communal production and procreation had also to be given up but they did not give up their basic concept of collectivity. Kingship was created and all families were made subject to it. Yajna was the highest and best duty of the King and hence socio-economic life of the people was subordinated to the institution of Yajana. Thus the direct social, economic and public life became ritualised.

The conquerers changed their institutions to suit the changed circumstances but the state of their sex-relationship continued to be the same, rather in an aggravated form. tence of the widows of Aryo-Brahms adversaries accelerated the process. With the establishment of the institution of family, the institution of Marriage -was also evolved. But the old tradition of communal sex-relationship could not die in one day. Polygamy<sup>1</sup> and Polyandry existed side by side. Women, widows or having their husbands living, bore levirate children as Trasadaysu and Upamasravas by Niyoga custom.4 Unmarried maidens bore children's and had paramours.

<sup>1.</sup> Rigveda 4.42.8-9.

<sup>2.</sup> Rigveda 1.62.11; 1.71.1; 1.104.3; 105.8; 1.112.19; 1.186.7; 6.53.4; 7.18 2; 7.26 3 10.43.1; 10.101.11.

<sup>3.</sup> Rigveda 1.167.4 to 6; 8.29.8; 10.85.37-38.

<sup>4. (1)</sup> Rigveda 10.40.2; 4.42.8-9, 10.33.6-7.

<sup>(2)</sup> Atharvaveda 10.18.8

<sup>(3)</sup> R. C. Jain, Origin of Kuru Tribe, read before History Section of the Oriental Conference.

<sup>5. (1)</sup> Rigveda 2.15.5;

<sup>(2)</sup> Atharvaveda 8.6.13.

Unmarried girls were immoral<sup>20</sup> and married women went astray<sup>21</sup>. The maidens and the married women had their lovers but they were not looked askance by society.<sup>1</sup>

Incestuous intercourse between father and daughter has been recorded in Rgveda (10.61.5-7) but that appears to be the memory of a faded ancient social event. But sexual intercourse between brother and sister has not yet died out though it was in the state of fast decadence as is evidenced by Yama-Yami dialogue (Rigveda 1010).

Though the practice of promiscuous mass sexual intercourse in public was discontinued; its memory was still cherished in this period. After the slaying of Horse in Asvamedha; the chief queen had to lie down with the dead horse in a state of sexual intercourse. She was accompanied by three other queens and four hundred attendants including maidens (कुमारी), women discarded by their husbands (परिचक्ता) and oversexed amazon type of women (बाबाबा). There may or may not have been mass sexual intercourse

with them but at the least, this clearly establishes that the ancient practice was ritualised and still remembered with joy and felicity.

Women were fast losing their independance. They were reduced to the status of chattel and were owned and disposed of by man like chattel, They could be given away as sacrificial fees to the priests alongwith gold and cattle. Abhyarartin and Vasistha got two damsels each in Dana or gift3. Risi Sobhari got 500 Vadhus tn gift. Word 'Vadhu' (वधू) has a significant pointer in this context. Vadhus are those women who are carried away by force or with consent and made wives or concubines. Vadhu in the sense of a married wife is a post-Mahavir growth. Anga gave 10,000 female-slaves to his priest Aitareya<sup>5</sup>. Rsi Aruni<sup>6</sup> possessed Dasis. Aswins presented fair-skinned women to black Kanya7. Rsis and others guests could get the daughter and the wife of the host for their temporary sexual use8. Women were getting to be the victims of the best of the men in power, the kings, the priests and their henchmen. The

<sup>1.</sup> Rigveda 1.124.7; 4.5.5; 8.35.3.

<sup>2.</sup> Rigveda 1.134.3; 9.32.5.

<sup>8.</sup> Rigveda 8.91.4; 2.29.1; 8.17.7;

<sup>4.</sup> Atharvaveda 8.6.7.

<sup>5.</sup> R D. Karamakar, op-Cit, Page 342.

<sup>6.</sup> Rigveda 6.27.7; 7.18.22-23

<sup>7.</sup> Rigveda 8.19.36.

<sup>8.</sup> Aitereya Brahmana 8 22

<sup>9.</sup> Brhadoranyaka Upanisad 6.2.7;

<sup>10.</sup> Rigveda 1.116.23; 1.117.7-8; 8.85.3-4; 8.50.10

<sup>11.</sup> J. J. Meyer, Sexual life in Ancient India, 1952, page 512 (507 to 518).

moral decadence had set in and women were degraded to a worse position than they enjoyed in the early primitive state of communal life. We find great confusion in sex-relationship in the age.

Rigvada was redacted Circa 1000 B.C. This age culminated in the redaction of later Samhitas. Tenth Mandal of Rigveda and Brahmanas, happened Circa 750 B. C. The new culture had been established by violence and it was through violence that it solidified its power. Ritualisation of sacrifices symbolised the highest stage of violence. This violence brought in human degradation preparing field for slavery of womanhood. Parsva the came on the historical scene in this age in the foot-steps of Munis and Sisnadevas of the pre-Riquedic and Riguedic fame. He mainly directed all his spiritual energies against the forces of violence. He gave to humanity the call for the re-establishment of the order of non-violence. He was very much successful in reducing the quantity of violence in Vedic way of life. Vedic society reacted to this nonviolent onslaught by adopting a further change in their way of life. They created three-fold Ashrama System: i.e. Brahmacharya, Grihastha and Vanaprastha. Sanyasa was added later on after the Mahavira age. This regulated family state is the lest but the most important period of sex-relationship circa 750-600 B.C.

Word Ahimsa or non-violence is not found in Samhitas, Brahmanas and Aranyakas. It is found only twice and only in one pre-Mahavira Upanisad; the Chhandojya Upanisad. They indicate that Vedic Risis had begun to appreciate Ahimsa. Vedic violence in sacrifices had become limited in scope and they began to be confined to specially ordained places and occasions. Inhuman and ghastly violence to life had retraced back many of its steps.

But the forces of fast decaying sexrelationship could not be kept in check. Parsva had preached Chujjama Dhama which did not specifically mention a vow regarding sex-relationship. It was included in the fourth vow of Aparigraha: the connotation of the epithet Aparigraha being 'Attachment' (मुच्छा परिगगहो)² which includes attachment to property and sex both. But after the death of Parsva no outstanding personality of great eminence arose to fight aganist the evil of moral decadance. Yajnavalkya reflected the popular state of affairs in saying that no one cares whether a wife is unchaste or not3.

A doubt may be raised that when there was so much moral decadence in the age of Parsva; why did he not fight this evil and give a specific vow of Brahmacharya? His age was marked by the general prevalence of sacrifices in their fullest glory. Brahmavarta witnessed the scenes of great and

<sup>1.</sup> Chhandogpa Upanisad 3.17.4; 8.15 1

<sup>2.</sup> Dasvaikalika Sutra 6 21

<sup>3.</sup> Satapatha Brahmana 1.3.1,21

numerous Asvamedhas. Vedic people were perpetuating great violence to human beings and beasts in the name of culture. Yaina was their chief weapon. The whole atmosphere was surcharged with violence. The period was marked by mass animal sacrifices on large scale. Degeneration in sexrelationship was only a necessary corollary of the violent Yajnas. It was only a branch of a big tree. Parsva attacked the principal evil. He might have thought that the branch will fall with the fall of the tree as Mahatma Gandhi thought that the Princely State would fall with the fall of British India Empire. He was so successful in uprooting the violent Yajnas that they became a memory of the past and the priests of Brhadaranyaka Upanisad bemoaned the fading away of Asvamedhas performed by the Pariksitas of old'. It was befitting of a supreme leader that he did not fight on more than one front and channelised all his energies to principal and main front. It paved the way for Mahavira's success against this sex evil.

The old order of sex-relationship in practical and ritualised form continued

as before. Vedic people had consolidated their power through Tri-Ashrama system. The institution of Brahmacharya evolved and glorified. It ordained a young boy to live with his master for a certain number of years and learn proficiency in the Art of priesthood. Brahmachari was a pupil, a religious student or student of sacred wisdom2. It is not without significance that the word Brahmacharya is not used in the kernel of Riqueda. The Vedic tribal collective was undivided in the earlier stages and there were neither Vernas nor Ashramas. It was only Brahma or Brahma or the tribal collective and everybody acted according to the injunctions of that Brahma. But when Brahma got disreputed, a class had to be created to safeguard the interests of priesthood aud hence we find students for Vedic studies, the art of priesthood.

The discipline of Brahmachari<sup>3</sup> does not include any rule regarding sex-relationship. But one curious rule is included there and it is this—"If a Brahmachari does not look at a naked woman, he obtains the beauty that is in

<sup>1.</sup> Brhadaranyaka Upanisad 3.3.1-2

<sup>2. (1)</sup> Rigveda 10.109.2 to 5

<sup>(2)</sup> Atharvaveda 6.108.2; 19.19.8; 6.133.3 5.10.3 to S and 12 to 17; 5.19.7 and 12 to 15

<sup>(3)</sup> Taittiriya Sambita 3.1.94; 6.3.10.5.

<sup>4)</sup> Chhandogy Upanisad 4.4.1 and 3; 4.10.1; 8.5.1 and 3; 8.7.3; 8.11.3

<sup>(5)</sup> Brhadaranyaka Upanisad 5.2.1; 6. 2.4.

<sup>3. (1)</sup> Anharvaveda 11.5

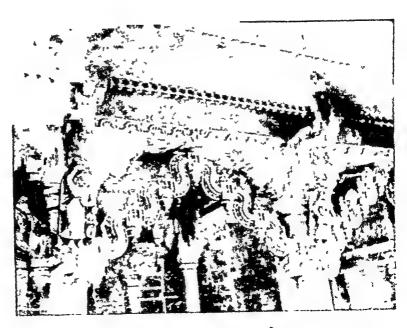
<sup>(2)</sup> Taithiriya Samhita 6.3.10.5

<sup>(3)</sup> Satpath Brahmana 11.3.3.1

<sup>(4)</sup> Gopatha Brahmana 1.2.1 to 9



ऊंडा मन्दिर डूंगरपुर का समोसरण की चतुर्मुखी प्रतिमा



संघीजी का मंदिर सांगानेर



the medium''. This is a rule purely for materialistic benefit. The beauty of a woman may help the Brahmachari in his further years to enjoy more and more carnal pleasures, otherwise the beauty of a maiden is not needed. This is no injunction against sexual intercourse. We find lapses of pupils with the wives of their masters and the sin was considered so trivial that it could be expiated by the recitation of a few mantras.2 A sacrificial ritual presided over by such a priest required a pair to be united within the sacrificial ground.3 It appears quite certain that strict celebacy was not a part of discipline of a Brahmachari.

When Vardhaman Mahavira appeared on the historical scene; he found sexcompletely relationship shattered. What was more intolerable to him was the state of complete degeneration in the whole of Northern India brought by a foreign ideology of violence and exploitation. Woman who is equal partner of man was being exploited for the lust of man. She had been reduced to the status of slavery to this extent that she was also taken prisoner in war and publically auctioned like a Chattel, The case of Chandanabala is in point. She along with her mother was taken prisoner after her father Dadhivahana, King of Champa, was killed in battle.

The conquerer Satanika, king of Vatsas wanted to rape the chastity of her mother who instantaneously committed suicide on the spot. Chandanabala was publicly auctioned.4 After this event Mahavira attained purest knowledge.5 His first sermon also included the fifth vow of Brahmacharya along with fourfold vows of Parsva, i. e. Non-Violence, Truth, Non-stealing and non-Attachment or Aparigraha. It was this historical and social setting that led Mahavira specifically enunciate the vow Brahmacharya to be followed by Chaturvidhasangha. Hermann Jacobi maintains that men of upright disposition and of quick understanding would not go astray by observing the four vows literally i. e. by not abstaining sexual intercourse. was decay of the morals of the monastic order.5 Jacobi did sufficiently pay heed to the censequences of the vows of non-violence and non-attachment. A monk strictly observing these two vows could not indulge in an act of violence and attachment which necessarily accompany the act of sexual intercourse. His argument is mechanistic and unreal. The influence of Vedic sex atmosphere had very likely brought in laxity in some saints and lay followers of Parsva and this state also as a part of historical back-

<sup>1.</sup> M. Bloomfield, Op. Cit, Page 111

<sup>2. (1)</sup> Chhavdojya upanisad 5.10.9

<sup>(2)</sup> Macdonell and Keith, Vedic Index, 1958, volvme 2 Page 76.

<sup>3.</sup> Taithiriya Samhita 7,5.9.2

<sup>4.</sup> Kalpa Sutra, Sutra 96.

<sup>5.</sup> H. C. Roy Chowdhery, Political History of Ancient India, 1950, Page 109.

<sup>6.</sup> Sacred Books of the East, volume 45, Page 122 FN3

ground might have influenced the judgement of Mahavira. If the laxity, as suggested by Jacobi, would have been the sole consideration, Mahavira could have set it right by rules of internal discipline alone. But it was the general social atmosphere of moral decadence that influenced the judgment of Mahavira to independently propound the vow of Brahmacharya.

Brahmacharya, according to Vardhaman was not the study of Vedic or any other literature or the art of priest-hood. It was a conduct of life. Brahmcharya is victory over attachment. It is complete abstinence from sexual intercourse. Nay, it is much more. It is complete control over Matter,

- 1. (1) Uttaradhayans Sutra 32 12; 16.10
  - (2) Dasavaikelika Sutra 8.59. 8.60.



## डा सुमतिचन्द

एम. ए (गिणित) दर्शनशास्त्री, पी-एच. डी. ग्रमरोहा

# आचार्य कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण

भा रतीय दर्शनों में विवेचन की तुलनात्मक पद्धति का अच्छा स्थान है । भारतीय दार्शनिक विचारों के पारस्परिक भ्रादान-प्रदान पर ग्रधिक विश्वास करते थे। यही कारण है कि प्रत्येक भारतीय दार्शनिक अपने ही मन्तव्य का प्रतिपादन करता हम्रा हिण्टगत नहीं होता है, किन्तु ग्रन्य दर्शनों की मान्यताग्रों की भी समीचा करता हुया दिलाई देता है। ग्राचार्य कुन्दकुन्द ने भी इसी तुलनात्मक पद्धति के अनुसार अन्य सिद्धान्तों की समीचा की है, स्रौर उनके गुण-दोषों का उद्भावन करते हुए स्वकीय मन्तव्य की स्थापना की है। श्राचार्य कुन्दकुन्द के ब्रध्यात्म शास्त्रों का ब्रध्ययन करते समय पाठकों की हिष्ट प्रनायास ही ग्राचार्य शंकर के श्रद्धैत वेदान्त की म्रोर म्राकुष्ट हो जाती है। दोनों ही म्राचार्यों ने मध्यात्म रूप परमतत्व के सम्बन्ध में प्रचलित विसंवादों को दूर करने का प्रयत्न किया है। दोनों ही श्राचार्यों की मूल कृतियों पर एक वड़ी संख्या में टीकाएं उपलब्ब होती हैं। ग्राचार्य कुन्दकुन्द की प्रसिद्ध कृति समयसार की मंग्रेजी टीका की भूमिका में प्रोफेनर चक्रवर्ती लिखते है, समयसार के प्रसिद्ध टीकाकार ग्राचार्य ग्रमृतचन्द्र सुरि श्राचार्य शंकर के समकालीन थे। दोनों श्राचार्यों के सिद्धान्तों की समानताएं तथा शारीरिक भाष्य में भाषा की समानताएं इस तथ्य को पुष्ट करती हैं कि ग्राचार्य श्रमृतचन्द्र सुरि श्रीर श्राचार्य शंकर एक दूसरे के विचारों से परिचित अवश्य थे। आचार्य शंकर एक स्थल पर स्वयं लिखते हैं कि उनका सम्पर्क एक द्रविड झाचार्य से हमा

\* करता हो तथा चाहे कितना ही तप करता हो। शुद्धात्मा के लच्य को सद्व हिट के सामने रखना नैतिक या मोच-मार्गीय चेतना का सर्वस्य है। इस हिट का अभाव होते ही जीव मोचमार्ग के अपने चरम उद्देश्य से अष्ट हो जाता है। निश्चय नय इसी चरम लच्य के सापेच वस्तु की व्याख्या करता है।

था। सम्भवतः वे द्रविड़ ग्राचार्यं ग्रमृतचन्द्र सूरि ही हैं।

मानार्य शंकर परम ब्रह्म को एक मानते हुए विश्व की व्यास्था करने के लिए सत्ता की विरूप कल्पना करते हैं। परमब्रह्म की सत्ता पारमायिकी और मपञ्चारमक संसार की सत्ता व्यावहारिकी तथा प्रातिभासिकी बहुलानी है। एकहप पारमायिक सत्ता का व्यावहारिक रप से या प्रातिभासिक हप से प्रतिभासित होने का कारण माया है जो स्वयं ग्रसत् है और ग्रसत् को ही जन्म देती है। यहां तक कि पारमायिकी हिन्द से ब्रह्म का सत्, चिन् ग्रीर ग्रानन्द हप कल्पना बरना भी ग्रयचार्य है। ग्राचार्य कुन्द-कुन्द ने ग्रात्मतत्व की व्याख्या के लिए केवल निश्चय ग्रीर व्यवहार नयो का ही ग्राध्य नहीं लिया है, किन्तु पद्मतीत तत्व की भी कल्पना की है। निश्चय नय से साधारणत्या उनका ग्रिभप्राय शुद्ध नय से हैं। ग्रानुद्ध निश्चयन्य की कल्पना भी जैन दर्शन में पाई जाती हैं, किन्तु प्राचार्य ब्रह्मदेव ग्रशुद्ध निश्चय नय को व्यवहार नय ही बहुने हैं।

१. समयसार, गाया १४६.१५०, ग्रीर १५१ ।

२. द्रव्य संग्रह वृत्ति. पृ० ८६।

शुद्ध नय ग्रात्मा को पूर्णंतया कर्मोपाधि से रहित शुद्ध हप में ही देवता हैं। ग्रात्मा का वाह्य वस्तुग्रों से, शरेर से, पौरदिलक कर्मों से ग्रीर उसकी कोधादि ग्रशुद्ध पर्यायों से सम्बन्ध व्यवहार नय से स्थापित किया जाता है। विस्मतम व्यवहार नय के भी ग्रेनेकों स्तर हैं जो स्थूलतम से सूद्धमतम व्यवहार की ग्रोर बढ़ते हुए मालूम होते हैं। ग्रात्मा में ज्ञान दर्शनादिक गुणों की कल्पना भी व्यवहार नय से है, निश्चय से ग्रेमेद रूप एक ग्रात्म तत्व का ही ग्रहण होता हैं। विज्ञ ग्राचार्य कुन्दकुन्द व्यवहार नय को ग्रमुतार्थ, तथा शुद्धनय को मुतार्थ कहते हैं जे, तो उनका सिद्धान्त ग्राचार्य शंकर की पारमाधिक ग्रीर व्यावहारिक सत्ता के ग्रत्थिक समीप ग्रा जाता है। ग्रह्म के स्थान पर मोहनीय कर्म को रख देने से दोनों सिद्धान्तों में पर्याप्त समानता ग्रा जाती है।

स्याद्वाद जैन दर्शन की ज्ञान मीमांसा का एक महत्वपूर्ण ग्रंग है। वस्तु को तादात्म्य सम्बन्ध से ग्रनेक धर्मों
का ग्राधार मानकर विवचा के कारण ग्रपेक्षावाद का जन्म
होता है। ग्रपेक्षावाद का प्रारम्भ सन्नूप धर्मों के ग्राधार
पर होता है। जब हिल्ट विशेष से किसीं धर्म को ग्रिमिधेय
बनाया जाता है तब शेष धर्मों का ग्रमाव इष्ट नहीं होता
किन्तु उनको गौंण बना दिया जाता है। हिल्टकोण वद—
लते ही दूसरे धर्म प्रकट हीते दिखाई देते हैं। यही
कारण है कि वस्तु को किसी धर्म विशेष के साथ सर्वया
एकात्मक मानना एक दोष पूर्ण प्रत्यय है। ग्राधार्य सम—
स्तभद्र कहते हैं कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं ग्रीर सापेक्ष
नय वस्तु को सिद्ध करने वाले होते हैं। य ग्रनियमित
रूप से प्रवित्त नहीं होते। नयों के विभाजन (divisions) ग्रिनयमित नहीं है, उनके पीछे विभाजन का

सिद्धान्त (principal of division) ग्रवश्य होता है। स्वाद्वाद विभिन्न दृष्टियों से वस्तु का विवेचन करता है। चूं कि प्रत्येक विवेचन एक हिट विशेष से शासित होता है. ग्रतः वह वस्तु का पूर्ण विव-रण नहीं दे सकता। इन ग्रांशिक विवरणों को केवल पूर्ण वस्तु स्वरूप के सापेचा मिथ्या कह सकते हैं। जहां तक सीमित हांट्टकोएा से सम्यन्य है ग्रांशिक विवरण ग्रसत्य नहीं कहे जा सकते । ऐसी स्विति में पूर्णज्ञान के हिटकोल से ग्रांशिक सत्यों के प्रतिमध्यस्य भाव ही मंगन प्रतीत होता है। यह मध्यस्य वृत्ति नय पन्नों के कपर वस्तु के पूर्णस्वरूप की श्रोर इशारा करती हैं, जिसके सापेच सभी नय मिध्या कहें जा सकते हैं। उपाध्याय यशोविजय लिखते हैं कि वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहें जाने का ग्रधिकारी वहीं है जो स्याद्वाद का ग्रालम्बन लेकर सम्पूर्णं दर्शनों में समान भाव रखता है । वास्तव में मव्य-स्य माव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य हैं, यही घर्म वाद है। ग्राचार्यं ग्रम्तचन्द्र सूरि मध्यस्य भाव पर वल देते हुए कहते हैं कि व्यवहार ग्रीर निश्चय को जानकर जो शिप्प मध्यस्य होता हैं वही उपदेश का पूर्णफल प्राप्त करता है।

ग्राचार्य कुन्दकुन्द ग्रीर ग्राचार्य शंकर दोनों ही ग्राने व्यवहारवाद तथा मायावाद को ग्रसत् ग्रीर मिथ्या कहते हैं । विचारणीय विषय यह हैं कि उनका ग्रसत् ग्रीर मिथ्या से क्या ग्रिभित्राय हैं । ग्राचार्य शंकर के लिए व्यावहारिकी सत्ता पारमाधिकी सत्ता के सापेच ही ग्रसत् हो सकती हैं । सत् ग्रीर ग्रसत् के प्रत्यय परस्परा पेच हैं । यदि व्यवहारिकी सत्ता स्वयमेव निरपेच रूप से ग्रसत् हैंहो तो विश्व की व्याख्या का प्रश्न ही समाप्त हो जाता

१. समयसार, गाया ३२, ४४ से ६०।

२. समय सार, गाया ७।

३. समय सार, गाया १३।

४. पंचा घ्यायी श्रध्याय १, श्लोक ५०८।

५. श्रात्म मीमांसा, श्लोक १०८ ।

६. पुरुषायं सिद्धयुपाय, गाया = ।

है। माया ग्रीर माया जन्य प्रभावों को सर्वथा ग्रसत् कहने से उनकी सत्ता किसी भी स्तर पर सिद्ध न होगी। जव तीनों प्रकार की सत्ताओं में सत्ता-सामान्य हो तो मानना ही पड़ेगा, ग्रन्यथा व्यावहारिकी ग्रीर प्रातिभासिक सत्ताओं को सत्ता ही नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार ग्राचार्य कुन्दकुन्द का व्यवहार नय सर्वथा असत् श्रीर मिध्या नहीं हो सकता, उसका असद्भाव शुद्ध नय की सापेद्यता में निहित हैं। यदि ग्रात्मा को एकान्ततः शुद्ध मान लिया जाय तो ग्राचार्य कुन्दकुन्द स्वयं सांख्यमत का प्रसङ्ग ग्राने की आपत्ति उठाते हैं। नय-प्रयोग से सदैव आंशिक सत्य की ही उपलब्धि होती है तथा नय-प्रयोग निष्प्रयो-जन श्रीर निराधार भी नहीं होता, श्रन्यथा नय-प्रयोग का कोई नियामक ही नहीं रहेगा और सुनय तथा कुनय का भेद मिट जावेगा। त्र्यवहार नय भी तो एक नय है। सभी नयों के समान उसकी स्थिति भी स्वीकार करनी चाहिए। यदि निश्चय नय के सापेन्न व्यवहार नय असत् हैं ती व्यवहार नय के सापेच निश्चय नय भी श्रसत् होना चाहिए, नयों की सत्यता पारस्परिक सापेच्नता में है. निरपेच नय मिथ्या हो जाते हैं।

डा॰ देवराज विट्ठलेशोपाध्याय के मन्तव्य का निर्देश करते हुए लिखते हैं कि शंकराचार्य के ग्रह तवेदान्त में माया का प्रसङ्ग इसलिए ग्राता है कि मनुष्यों की ग्रास्था संसार में कम हो जाय तथा उनमें वैराग्य-भावना का प्रादुर्भाव हो सके। २ क्या ग्राचार्य कुन्द-कुन्द भी संसारी जीवों पर करुणा करके वैराग्य-बुद्धि को ग्रनुप्राणित करने के लिए व्यवहार को ग्रसत् ग्रीर मिथ्या कहते हैं? व्यवहार नय के वाक्यों को ग्रसत् कहे जाने पर ऐसे प्रश्नों का उठाना ग्रावश्यक प्रतीत होता है। हम कोष।दि हप जिन मनोवैज्ञानिक तथ्यों का ग्रनुभव करते

हैं वे किस प्रकार ग्रसत् ग्रीर मिथ्या हो सकते हैं ? यदि श्रात्मा अपनी निभाव पर्यायों से सर्वया भरपृष्ट रहता है तो वह पूर्णतया ग्रविकृत है, ग्रतः उसके लिए ग्राचार शास्त्र (ethics) का उपदेश व्यर्थ है। इसके ग्रतिरिक्त ऐसा मानने पर हम वस्तु के सापेच निरपेच स्वरूप का निषेघ करेंगे श्रीर केवल निरपेक्त पक्त का ही पक्तपात करेंगे। जिस प्रकार वस्तु नित्य-म्रनित्य, भेद-म्रभेद, ग्रीर एक अनेक रूप है, उसी प्रकार वह सापेच-निरपेच भी है। <sup>3</sup> म्रात्म तत्व में निहित विभावशक्ति की सार्थकता निमित्त स्वीकार करने में है। यदि निमित्त सर्वथा श्रिकिञ्चतकर सिद्ध होता है तो विभाव शक्ति की कल्पना व्यर्थ हो जावेगी । शुद्ध नय से म्रात्मा में विभाव शक्ति का दशंन ही नहीं हो सकता, अतः केवल शुद्ध नय से निमित्त का अकिश्वितकरत्व सिद्ध होता है। शुद्ध नय वंवल एक है और इसलिए वह केवल ग्रांशिक सत्य का निरुपए करता है । वस्तुतः स्वरूप शुद्ध नय के भी परे हैं । वास्तव में जब द्रव्य संक्रमण या गुरा संक्रमण सम्भव नही है, ४ तो कार्यकारण सम्बन्ध में पारस्परिक निमित्तता ही सार्यक प्रतीत होती है । अन्ततोगत्वा कार्यकारण के सिद्धान्त का सही रूप निमित्त कारण ही है। यदि इस सम्बन्ध का निषेध कर दिया तो सभी अर्थ परस्पर असम्बद्ध श्रीर विच्छित्र हो जावेगे श्रीर निरपेद्यता हप ही पद्म का ग्रहण करने से एकान्त का दोप ग्रा जावेगा। <sup>४</sup> विभाव शक्ति और निमित्त कारण के सम्बन्ध में पं० राजमल्ल लिखते हैं कि उन गुणों में स्वयं वैभाविकी शक्ति है। वह जीव की संसार प्रवस्था में श्रपने कारगों से विकृत हो जाती है। <sup>६</sup> यदि गुण-शक्तियों की कल्पना व्यावहारिकी है तो विभाव शक्ति की कल्पना भी व्यावहारिकी है घीर इसीलिए गुण-शक्तियों की पारमाधिक एकता में सद्रप

१. समय सांर, गाया १२३।

२. पूर्वी ग्रौर पश्चिमी दर्शन, १० १७ ।

३. म्राप्त मीमांसा, श्लोक ३७, ४८, २८, ३३, ।

४. समय सार, गाथा ३८४।

५. श्राप्तमीमांसा, इलोक ७३।

६. पंचाध्यायी हितीय भाग, श्लोक ६४६ ।

वैभाविकी शक्ति भी सम्मिलित है। गुएए-शक्तियों की कल्पना सर्वथा मिथ्या नहीं हो सकती वयोंकि ऐसा करने से अभेदैकान्त सिद्ध हो जावेगा। जीव और पुद्गल परस्पर निमित्त को स्वीकार करते हुए स्वयमेव परिएामन करते हैं। १ उनके स्वकीय परिएामन में पारस्परिक निमित्तत्व अभि प्रेत है, अन्यया पारस्परिक निमित्तत्व की चर्चा भी नहीं उठनी चाहिए थो। हिन्द विशेष से निमित्त सम्बन्ध का निषेध कर लिया जाता है, किन्तु यह केवल म्रांशिक सत्य है।

म्राचार्य कुन्द-कुन्द के नय विभाजन के पीछे उनका एक विशेप दृष्टिकोगा है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ समय सार स्राचार शास्त्र या नीति शास्त्र (ethics ) की एक म्रद्वितीय रचना है जिसमें नीति शास्त्र के गूढ्तम रहस्यों का उद्भावन हुम्रा है। सम्पूर्ण कृति म्रात्मकल्याण की तीव भावना से ग्रोत प्रोत है। समयसार का प्रत्येक वावय म्रात्मकल्याण के उद्देश्य को सम्मुख रखकर लिखा गया है। इसका ग्रयं यह होता है कि ग्राचायं कुन्द कुन्द के नय-विभाजन के पीछे ब्रात्मकल्याएं का उद्देश्य विभाजन सिद्धान्त ( principle of diversion ) के रूप में स्वीकृत है, स्रतः साचार्य कुन्द कुन्द के नयों सौर हिष्ट-कोएा को नीति शास्त्रीय (etbical ) कहा जा सकता है। द्रव्यायिक ग्रीर पर्यायायिक नय ग्रथवा ग्राचार्य उमास्वामी के सप्तनय तत्वशास्त्रीय नये (metaphysical ) नय हैं । उनका विधान 'यथावद्रस्तु निर्णीति : सम्यग्ज्ञानम्' का लद्य सामने रखकर किया गया है। म्रात्मकल्याण की सापेद्यता में वे वस्तु का कथन नहीं करते, किन्तु यथावस्थित वस्तु का ग्रांशिक विवरण देते हैं। नय, चाहे वे तत्व शास्त्रीय हों या नीति शास्त्रीय परमार्थ का ग्रांशिकज्ञान ही दे संकते हैं, अतः सभी नयों के परे एक परमार्थं की कल्पना करनी ही पड़ती है।

ग्राचार्य कुन्दकुन्द का व्यवहार नय ग्रीर ग्राचार्य जमास्वामी के तत्वार्थ सूत्र में विशास व्यवहार नय एक नहीं हैं। ग्राचार्य विद्यानन्द स्पष्ट लिखते हैं कि तत्वार्थ सूत्र का व्यवहार नय द्रव्यार्थिक नय है, उसका तादारम्य ग्राचार्य कुन्दकुन्द के व्यवहार नय से नहीं हो सकता। ग्रशुद्ध निश्चय नय ग्राचार शास्त्रीय ग्रादर्श (etbical ideal) को ग्रपना लद्द्य नहीं बनाता हैं, ग्रतः उसका व्यवहार कोटि में ग्रा जाना ग्रावश्यक है। इस प्रकार ग्राचार्य कुन्द कुन्द ग्रपने व्यवहार नय से जिन वातों का कथन करते हैं ग्रीर उन्हें ग्रसत् या मिथ्या वतलाते हैं, वे सम्भवतः ग्राचार्य 'उमास्वामी के व्यवहार नय से मिथ्या ग्रीर ग्रसत् नहीं हैं।

ग्राचार्यं कुन्दकुन्द के नयों को ग्राचार शास्त्रीय या या नीति शास्त्रीय कहने का ग्रर्थ यह होता है कि उनका विघान जीव-कत्याए। का लह्य सामने रखते हुए हुआ है। नैतिक चेतना ( moral censciousness) आदर्श को सदैव भपने सामने ग्रर्थ इस रखना है। यह झात्म-हिष्ट ही नहीं, बिल्क शुद्धा-त्म दृष्टि है । यही भ्राचार्य कुन्दकुन्द का भूतार्थ है, यही निश्चय नय है । जो मुनि निश्चयनय में लीन होते हैं वे मौद्दा पाते हैं। 3 प्रपनी ज्ञातमा को अबद, अस्पृष्ट, अन-न्यक. नियत, ग्रविशेप तथा असंयुक्त समक्तना शुद्ध नय है। ४ जो जीव अपनी आत्मा को शुद्ध समभता है वह शुद्धारम का लाभ करता है, श्रीर जो अशुद्ध समस्ता है उसे अशुद्धारमा का लाभ होता है। प्रत्येक प्राणी के जीवन का लक्ष्य शुद्धारम तत्व की प्राप्ति हैं; म्रतः जो इस लद्दन के प्रति सदैव सजग रहता है उसे अवश्य ही इन्ट सिद्धि होनी चाहिए। जो व्यक्ति इस सर्वोच्च लस्य के सम्बन्व में विपरीत या अमपूर्ण दृष्टि रखता है उसे शुद्धातमा का लाभ कभी भी नहीं हो सकता, चाहे वह

१. पुरुषार्थं सिद्धयुपाय, गाया १२, १३।

२. तत्वार्थ श्लोक कार्तिक, १, ३१, ३।

३. समय सार, गाथा २६०।

४. समय सार, गाथा १६।

५. समय सार, गाया १७६।

कितने ही वत, नियम ग्रीर शील को घारण करता ही तथा चाहे कितना ही तप करता हो। १ शुद्धात्मा के लक्य को सदैव दृष्टि के सामने रखना नैतिक या मोच-मार्गीय चेतना का सर्वस्व है। इस हिष्ट का अभाव हं ते ही जीव मोचमार्ग के अपने चरम उद्देश्य से अब्द हो जाता है। निश्चय नय इसी चरम लद्द्य के सापेद्ध वस्तु की व्याख्या करता है। लक्ष्य का महत्त्र जीव के लिए ही है, पुरदल।दिक म्रजीव द्रव्यों का कोई लद्द्य नहीं हुम्रा करता, भ्रत: नीति शास्त्र का मुख्य विवेच्य नैतिक लद्य के सापेत्त ग्रात्म द्रव्य ही है। ग्राचार्य कुन्दकुन्द की कल्या-णमयी वचनावली इसी लच्य को समझ रखकर प्रवर्तित होती है। व्यवहार नय की इतनी उपादेयता तो वे स्वयं स्वीकार करते है कि विना व्यवहार के निश्चय हिंदर की उपलब्धि नहीं हो सकती । २ व्यवहार नय के कथन मोस मार्ग में अनुपकारी होने से अप्रयोजनीय सिद्ध होते हैं अतः उनको म्रसत् या मिथ्या कह दिया जाता है। यह भी एक दृष्टि विशेष है। जीव का नैतिक लद्द्य शुद्धात्मा नहीं, बल्कि अपनी ही ग्रात्मा का शुद्ध स्वरूप है। उसे किसी दूसरी धातमा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं करना है, पर-ग्रात्माग्रों के शुद्ध स्वरूग को तो वह प्राप्त कर हो नहीं सकता। उसका शुद्ध स्वरूप शक्ति रूप से उसकी ही आत्मा में अन्ति हित है, अतः उसकी ही आत्मा का शुद्ध स्वरूप उसके लिए चरम लद्दय वन जाता है। लद्दय निदेंश उसी के लिए हो सकता है जो लच्य को प्राप्त न हुमा हो । इस प्रकार नीति-शास्त्रीय हिटकोण में दो घटकों का समावेश होता है-जीव की वर्तमान अशुद अवस्था और उसी की शुद्ध अवस्थारूप चरम लक्ष्य। निष्कपं यह निकलता है कि प्रत्येक जीव श्रपनी ग्रात्मा के स्वरूप को लद्द्य बनाकर, न कि अपनी आत्मा की वर्त-मान स्थिति के वारे में म्रम में पड़कर, म्रात्मलाभ के लिए प्रयत्नशील हो । नैतिक चेतना के उपरोक्त दो घटकों में से केवल प्रथम का ग्राश्रय लेने से सांस्य समय की सिद्धि

į;

हो जाती है। अप्रीर केवल द्वितीय का ग्राध्यय लेने से जीवन में उद्देश्य हीनता का दोप आता है। यही कारण है कि उपयोगिता की दृष्टि से नयों का ग्राश्रय लेते हुए परमार्थ-सिद्धि का आदेश दिया गया है। हीन स्थान में ग्रवस्थित जीवों को प्रतिद्वाग लद्य की ग्रोर चेतन ग्रीर सज रखने के लिए उसके शुद्ध-स्वहप का ध्यान अनेकों वार दिलाया गया है ग्रीर हीनस्थानों को मिध्या तथा म्रनुपादेय बताया गया है । तत्व शास्त्रीय हप्टि से संसार की प्रक्रिया में न केवल दो द्रव्यों का विलक्त पूरे छह द्रव्यों का उपयोग अपेक्णीय है, अन्यया शेप द्रव्यों की कराना में वैयर्थ्य दोप ग्रा जावेगा । यदि द्रव्यों में परस्पर द्रव्य-संक्रमण या गुण-संक्रमण नहीं होता, तो उनमें पूर्ण ग्रसम्बद्धता भी नहीं हैं। संसार-प्रक्रिया को सम्भव बनाने के लिए सभी द्रव्यों में एक प्रकार का सम्बन्ध होता है जिसे निमित्त सम्बन्घ कहा गया है । विश्व की रचना में अन्ततः केवल इसी प्रकार का ही सम्बन्ध सम्भव है। नित्यानित्य, भेदाभेद, ग्रीर एकानेक रूप यस्तु सापेच-निरपेक्त भी है। यदि एक दृष्टि से वस्तु निरपेक्त दिखाई देती हैं तो दूसरी हृष्टि से सापेस । वह सर्वथा सापेस या निरपेच नहीं है, श्रीर न सर्वथा सापेचता श्रीर निरपेचता से शुय हैं। जिस प्रकार वस्तु में नित्य, ग्रनित्य, भेद. स्रभेद, एक, धनेक स्रादि धर्मा का समन्वय होता है, उसी प्रकार उसमें सापेच और निरपेच घर्मों का भी समन्वय होता है।

सभी जीवों का चरम लह्य शुद्धातमतस्व की प्राप्ति है। हमारी क्रियाग्रों ग्रीर कर्मों का माप दएड का यही चरम लह्य हैं। हम ग्रपने कर्मों के शुभत्व, श्रशुभत्व भीर शुद्धत्व का निर्ण्य इसी चरम लह्य के सापेल कर सबते हैं। शुद्धातमा भी ग्रनेकान्त-स्थिति का उल्लंघन करने में ग्रसमर्थं हैं। शुद्धातमा में भी नित्य-ग्रनित्य, एक-प्रनेक, भेर-ग्रभेद सामान्य-विशेष ग्रादि धर्मों की सदबस्या हैं। यदि शुद्ध तत्व को केवल नित्य, एक, ग्रभेद पौर सामान्य

१. समय् सार, माथा १६३।

२. समय सार, गाया = 1

३. समय सार, गाथा १२३।

रूप ही मान लिया जाय तो यह एकान्त दृष्टि होगी श्रीर ग्रह्रौत वेदान्त के एकाङ्की ब्रह्म स्वरूप से उसका भेद करना दुष्कर होगा। ग्रात्मा का त्रिकाली स्वभाव उसकी श्द ग्रश्द ग्रादि सभी ग्रवस्थाग्रों का सामान्य धर्म हैं। उसकी उपलव्धि सभी जीवों को स्वत: सिद्ध है । म्रात्मा के शुद्ध रूप की संरचना केवल सामान्य तत्व से नहीं होती किन्तू वह अन्य अर्थों के समान सामान्य विशेपात्मक ही है ! श्दात्मा का भी व्यावह।रिक (ग्राचार्य उगास्वामी के दृष्टिकोण से) ज्ञान होता है और वह शुद्धारम लाभ के मार्ग में बादक नहीं हो सकता, उससे तो हमें श्दात्मा का ही विशेष बोध होता है। इसके विपरीत शुद्धात्मा को केवल नित्य, एक, अभेद और सामान्य रूप समभना उसके एकांश को ग्रहण करना है। इस प्रकार के ग्रांशिक ज्ञान म्राचार शास्त्रीय ( ethical ) हृष्टि से महत्व का हो सकता है, किन्तु तत्वशास्त्रीय दृष्टि से उसे श्रपूर्णही कहना पड़ेगा।

निश्चय ग्रीर व्यवहार नयों से ग्रात्मा के कर्तृत्व भोकृत्व ग्रादि घर्मों की व्याख्या करता है। ये घर्म चरम लच्य के ही अंग हैं और हमारे समय आदर्श के रूप में में ग्राते हैं | दूसरे शब्दों में हमें ग्रपनी ग्रात्मा में इन धर्मी की वैसी सिद्धि करनी है जैसी कि शुद्धातमा में मिलती है। पुग्दल या कर्मों के ब्राश्रय मे होने वाली इन घर्मा की सिद्धि हमारे लिए उपादेय नहीं है, ग्रत: उसके मोचमार्ग में मप्रयोजनी भूत होने से उसको मिथ्या या असत् कह दिया जाता है। व उपरोक्त दृष्टिकोण हमें अपनी व्यवहार क्रियाओं को समभने का एक नया मार्ग देता है। हीन स्थान में अवस्थित जीवों को किसी न किसी प्रकार की व्यवहार क्रिया का म्राश्रय लेना ही पड़ता है। इन्हीं व्यव-हार क्रियाओं के मध्य से गुजरता हम्रा जीव अपने शदा-रमतत्व की ग्रीर ग्रभिमुख होता है। जो क्रियाएं उसकी इस अभिभुखता में सहायक सिद्ध होती हैं उनको उपादेय कहना ही चाहिए। व्यवहार-क्रियाओं की उपादेयता तभी

सिद्ध हो सकती है जब कि उनका प्रचलन शुद्धारम रूप चरम लद्य से शेरित हमा हो । वे क्रियाएं जिनके प्रच-लन के पीछे चरम लह्य की प्रेरणा का ग्रभाव है, नैतिक दृष्टि से हीन क्रियाएं हैं तथा अनुपादेय, त्याच्य ग्रीर मिध्या है। निश्चय नय व्यवहार क्रियाग्रों का सर्वया लीप करता हुन्ना दिखाई नहीं देता, किन्तु वह इस बात पर वल देता है कि उन क्रियाओं के पीछे चरम लद्य की चेतना अवश्य विद्यमान हो। ऐसी कियाओं पर नैतिक निर्णय शुभ ग्रीर ग्रश्म न होकर शुद्ध ही होता है प्रयवा उन क्रियाओं में म्रांशिक रूप से शुद्धि मा जाती है। इसी कारण कहा गया है कि जिस ग्रंश से जीव सुहप्टि होता है उस ग्रंश से उसे वन्घ नहीं हुग्राकरता। <sup>२</sup> इस शुद्धि को दृष्टिगत करते हुए ग्राचार्य कुन्दकुन्द स्वयं कहते हैं कि जिस प्रकार अरितभाव से मद्य पीने वाले व्यक्ति पर म,दक प्रभाव नहीं होता है उसी 'प्रकार द्रव्योपभोगों को भोगने वाले ज्ञानी को वन्य नहीं होता है।3

शुद्ध दृष्टि से हमारी ग्रात्मा का स्वरूप वही है जी हमारे चरम लत्य का स्वरूप है। चरम लद्द्य का प्रत्यय नीतिशास्त्र या ग्राचार शास्त्र का प्रमुख मंग है, बिना लद्य-निर्देश के किसी भी प्रकार का .नीतिशास्त्र सम्भव नहीं है। चरम लच्य ग्रात्मा के शुद्ध स्वरूप की ग्रोर सङ्कीत करता है, उसे वर्तमान स्थित की प्रपेक्ता नहीं हैं। चरम लस्य का निदेश ग्रादर्श का निदेश है, ग्रादर्श वर्तमान स्थिति से भित्त होना ही चाहिए। यह नैतिक दिष्ट ( ethical point of view ) से ब्रात्मस्तरूप विवेचन है। तत्वशास्त्रीय हप्टि नैतिक हिष्ट से भिन्न है, यह तथ्य वाचक है ग्रीर यथावहस्तु का निर्णय करती है। इस हब्टि से सभी सुनयों को समान स्थान मिलता है। नीति भीमांसा ग्रीर तत्वमीमांसा दोनों हो नय पत्तों के परे वस्तु स्थिति को अनेकान्त स्वरूप मानती है। इस अनेकान्त तत्व की व्याख्या नयों द्वारा ग्रांशिक रूप में होती है, नय पद्म ग्रनेकान्त वस्तु में से

१. समय सार, गाथा १३।

२. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, गाथा २१२।

३. समय सार, गाथा २०८ ।

ही उत्पन्न होते है। नय ज्ञान इसी अनेकान्त वस्तु का आंशिक ज्ञान है, इसमें पूर्ण वस्तु की व्याख्या न करने से अपूर्ण होने का दोष आता है। हिन्ट विशेष या अपेज्ञा का प्रयोग करने पर नयज्ञान में असंगति नहीं आती है। नय विभाजन के अनेकों प्रयोजन हैं जिनमें से दो प्रयोजन

नीतिशास्त्रीय (metaphysical) ग्रीर तत्व शास्त्रीय हैं। ग्राचार्य कुन्दकुन्द प्रथम प्रयोजन को ग्रपनाते हैं ग्रीर ग्राचार्य समन्तभद्र दूसरे प्रयोजन को। हिष्टकोणों के इस मौलिक भेद को ग्राधिगत करने पर हमें एक विशेष प्रकार का समन्वय प्राप्त होता है।

## राग कान्हरौ

मानस जनमु वृथा तैं खोयो ॥ टेक ॥ करम करम करि ग्राइ मिल्यो हो निद्य करम करि करि सु विगोयो ।। मानस० ॥१॥ विसेस सुघा रस पायो भाग सी लै चरननि की मल धोयो। चितामनि फेंबयौ वायस को कुंजर भरि भरिईंधन ढोयो ॥ मानस० ॥२॥ तृपा प्रीति वनिता की भूलि रह्यों वृप तैं मुख गोयो ॥ हेत विषय-रस सेये सुख धिरत कैं कारन सलिल विलोयो।। मानस॰।।३।। मद मदिरा रह्यो प्रमाद ग्रह कंदर्प सर्प्प विष भोयो। 'रूपचंद' चेत्यो न चितायो मोह नींद निश्चल हुवै सोयो ॥ मानस॰ ॥४॥

#### सोमेश्वर सिंह

उदय प्रताप कालज वाराणसी

# रामकथाकार कवि स्वयंभू और उनका 'पउम चरिउ'

को जनुशिएत किया है। संस्कृत, पाली, प्राकृत,
अपभंश तथा ग्रावुनिक भारतीय भाषाओं के रचियताओं
ने परम्परागत रूप से राम के चरित पर ग्रावारित
पुराग्, काव्य, श्रास्थान, नाटक, श्रास्थायिका, चम्पू
ग्रादि की रचना की है, तिमल, तेलगू, मलयालम,
तथा श्रनेक विदेशी भाषाओं के किवमंनीपियों को इस
चरित की मोहकता ने श्राक्षित किया। हिन्दू, बौद्ध,
जंन सबने राम के जीवन को ग्रपने श्रपने ढंग से ग्रपनाया।
इन राम कथाकार किवयों में वाल्मीकि, विमलसूरि,
स्वयंभू श्रीर तुलसीदास युग प्रवर्तक मनीपियों के रूप
में सर्वदा स्मरग् किये जाएँगे, जिनके विशाल व्यक्तित्व
के श्रागे उनके सम सामयिक ही नहीं, दो चार शताब्दियों
बाद तक ग्रानेवाले परवर्ती राम साहित्यकार किवयों का
व्यक्तिस्व नग्ग्य सा दीखता है।

कुछ दिनों पूर्व तक तुलसी के 'रामचरित मानस' का ग्रध्ययन करते हुए विद्वानों की हिष्ट सीचे वाल्मीकि की 'रामायण' पर ही जाकर टिकती थी। वाल्मीकि ग्रीर तुलसीदास का सीघा सम्बन्ध स्थापित करते हुए कुछ लोगों ने यह भी कह दिया था कि तुलसीदास वाल्मीकि के ही अवतार थे। <sup>9</sup> इबर, वीसवों शदी के दितीय दशक से ही ग्रनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने जैन-भएड। रों से प्राचीन साहित्य की खोज प्रारम्भ कर दी रवयंभू ने इस काव्य में मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का अनुभूति पूर्ण चित्रण किया है। राम को उन्होंने तुलसीदास की भांति देवत्य के गुणों से युक्त न करके मानव के रूप में ही रखा है, अतः मानवीय गुणों और निर्वलताओं के चित्रण का उन्हें पर्याप्त अवसर मिला है।

स्रोर ग्राज प्राकृत स्रोर स्रपभंश के स्रनेक ऐसे ग्रन्य उपलब्ध हो गए हैं जिनके स्रध्ययन से साहित्य का इति-हास ही नहीं, श्रालोचना का माप-दएड भी बदला दिखाई दे रहा है। इन्हीं सन्वेपएगें के फलस्वरूप विमल सूरि कृत 'पउम चरिउ' (प्रकृत) स्रोर स्वयंभू कृत 'पउम-चरिउ' (ग्रपभंश) दो ऐसे महाकाब्य मिले हैं जिन्होंने राम-साहित्य के स्रध्ययन की दिशा ही बदल दी है।

'पउमचरिउ' का श्रवलोकन करने के बाद महापंडित राहुल सांकृत्यान ने श्रत्यन्त उच्छवसित होकर उसे हिन्दी का प्रथम महाकाव्य और स्वयंभू को हिन्दी का सबसे वड़ा महाकवि घोषित कर दिया। र श्रन्य श्र<sup>नेक</sup> विद्वानों ने भी राहुल जी की इस घोषणा का समर्थन किया। <sup>3</sup> 'पुरानी हिन्दी' के चेत्र-विस्तार के मोह में

१. किल कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीकि तुलसी भयो।

२. काव्यघारा-ग्रवतरिएका पृ० ५०

३, श्री कामताप्रसाद जैन–हिन्दी जैन साहि्त्य का संक्षित्त इतिहास, पृ३ ८

अंगभंश की रचनाओं को भी समेट लिया गया। 'देशी भाषा' के प्रयोगों को देखकर ही अमवश अपअंश श्रीर हिन्दी को सर्वथा एक समभ लिया गया। अपभंश का भाषा और साहित्य के रूप में पृयक ग्रस्तित्व ही नहीं माना गया । राहुल जी ने संस्कृत, पाली और प्राकृत को सुवन्तों ग्रौर तिङन्तों की हष्टि से एक बताते हुए ग्रपभ्रंश भाषा में ग्रसाघारण परिवर्तन की सूचना दी। उन्होने कहा कि "यहां आकर भाषा में असाघारण परिवर्तन हो गया। इसका ढ़ांचा ही बिल्कुल बदल गया, उसने नये सुबन्तों तिङन्तों की सृष्टि की, श्रौर ऐसी सृष्टि. की है, जिससे वह हिन्दी से ग्रभिन्न हो गई है और संस्कृत-पाली प्राकृत से अत्यन्त भिन्न ।"। राहुल जी का यह ऐति-हासिक उद्घोष तथा अन्य अनेक विद्वानों के प्रारम्भिक प्रयत्न श्लाच्य हैं. जिनके प्रकाश में पंडितों ने अपभ्रंश भापा में सूबन्तों स्रीर तिङन्तों के इस ससाधारण परि-वर्तन के साम।जिक, ऐतिहासिक, घार्मिक एवं भाषा वैज्ञानिक कारणों का पता लगा लिया है और अपभ्रंश ग्रीर हिन्दी को पृथक भाषाग्रों के हप में घोषित कर दिया है। इस प्रकार की भाषा गत प्रथकता से महाकवि स्वयंभू की महानता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। महान रचनायें चाहे किसी भी भाषा में हों, वे सर्वदा रवयिता की महानता का उद्घोप करती रहेंगी, अस्तु, महाकवि स्वयंभू अपभ्रंश भाषा के प्रथम महाकाव्यकार कवि के ह्प में सर्वदा प्रख्यात रहेंगे। उनको प्राप्त रचनाग्रों के म्राधार पर मर्मज दिहानों को यह घोषित करना ही पड़ा कि स्वयंभू अपभांश भाषा के महाकवि धौर श्रीचार्य थे?। राहुल जी ने यह भी अनुमान लगाया कि तूलसी

वावा ने स्वयंभू रामायंगा को जरूर देखा होगा। उनकी समक में "तूलसीवावा ने क्वविदन्यतोऽपि, असे स्वयंभू रागायएा की भ्रौर ही संकेत किया है" । राहुल जी के कयन का इतना प्रभाव अवश्य हम्रा कि त्लसीदास के 'मानस' का अव्ययन करने वाले विद्वान सीघे वाल्मीकि की घोर न देखकर स्वयंभू के 'पडम चरिउ' की घोर भी देखने लगे। 'मानस' के अव्ययन के लिए पंडितों को संस्कृत 'रामायएा' की अपेन्ना अपभ्रंश की इस रचना में, भाषा, भाव, काव्य रूप, कथानक रुढि मीर प्रभित्राय ( motifs ) म्रादि की द्रष्टि से म्रिविक निकटता का अनुभव हमा। इस निकटता के कारण ही राहुलजी ने यह अनुमान लगाया कि तुलसीदास ने स्वयंभू-रामायण को अवश्य देखा होगा। पर, इस कथन की प्रामाणिकता के लिए कुछ विद्वान श्रीतिरिक्त उत्साह-वश यह भी सिद करने लगे कि तुलसीदास ने प्राकृत- ग्रपभ्रंश भाषा के राम-काव्यों को अवश्य ही देखा या अन्यया वे प्राकृत ( अपभ्रंश ? ) भाषा के कवियों का स्तवन वयों करते ? ग्रपनी उक्ति के समर्थन में उन्होंने 'मानस' की निम्न-लिखित चौपाई उद्धृत की है--

जे प्राक्तत कवि परम सयाने ।

भासा जिन हरिं-चरित वखाने ।

भये, श्रहहिं, होइहंइं श्रागे ।

प्रनवडं सवहिं कपट सब त्यागे ।

यहां यह विचारणीय है कि तुलसीदास ने 'प्राकृत किव' से सीवे प्राकृत-प्रपन्नंश भाषाधों के हरिचरित गायक किव विमल सुरि, स्वयंभू प्रादि की मोर संवेत

१. काव्यधारा-ग्रवतरिएका पृ० ६

२. पं. नाथूराम प्रेमी-जैन साहित्य पीर इतिहास ( द्वितीय संस्करण ) पृ० १६६

३. 'मानस' के प्रारम्भ में ही तुलसीदास ने सिखा है कि-'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं ववचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनायगाया
भाषा निवद्धमितमञ्जूलमातनोति ॥'

४. काव्यधारा-ग्रवतरिएका पृ० ५२।

५. रामचरित मानस, बालकांड।

किया है या इसका कुछ ग्रन्थण भाव है। तुलसीदास के पूर्व होने वाले प्राकृत ग्रीर ग्रपभंश के श्रवतक ज्ञात हरिचरित गायक कवियों में विमलसूरि (पउम चरिउ) स्वयंभू (पउम चरिउ) पुष्पदन्त (महापुराण) ग्रीर रइष्ट्र (वलद्द चरिउ) ही ग्रियक प्रसिद्ध हैं। तुलसीदास ने 'मानस' में ज्यास ग्रीर वाल्मीकि प्रादि देवभाषा के हरि चरित गायक कवियों को 'कविषुंगव' ग्रीर 'कवि कोविद' कहकर उनका सादर नमन किया है। शिक्तु ग्रपभंश ग्रीर प्राकृत के उपर्युक्त कवियों का उन्होंने कहीं नाम नहीं लिया है। व्यास, वाल्मीकि ग्रादि देवभाषा के कवि थे। इनको तुलसीदास ने कलियुग के पूर्व का किय कहा है, इनकी वंदना करने के वाद उन्होंने उन कलियुगी कवियों को भी प्रणाम किया है, जिन्होंने भाषा में हरिचरित का बखान किया है—

# किल के किवन करडं परनामा । जिन्ह वरने रघुपित गुन श्रामा ।

तुलसीदास के पूर्व अथवा बाद में होने वाले कलियुगी किव कौन है, इसी का संकेत प्राकृत किव के रूप में किया गया है। 'प्राकृत' किव शब्द का विशेपण है। यहां इसका प्रयोग नुलसीदास ने साधारणत्व का बोध कराने और किव पुंगव, किव कोविद व्यास वाल्मीिक ग्रादि से विभेद प्रदर्शित करने के लिए ही किया हैं। इस विभेद-प्रदर्शन में नुलसी-दास का ग्रपना कोई ग्राग्रह नहीं है, वरन् तत्कालीन पुरातनवादी पंडितों की 'भाषा किवयो' के प्रति ग्रवहेलना मूलक विचारधारा की ग्रोर ही उन्होंने यहां संकेत किया है। यदि 'प्राकृत' से भाषा विशेष का भाव ग्रहण किया जाय तो 'मानस' में ग्रनेक स्थलों पर प्रयुक्त प्राकृत जन र प्रकृत महिपाल अग्रादि शब्दों से किस किस अर्थ का वोध होगा ? तुलसीदास स्वयं कित्युगी कि है। वे नस्रता ज्ञापन करते हुए अपने को वालकि से अधिक नहीं करना चाहते। क्योंकि काव्य प्रवंघ का सम्मान विद्वन्मंडली में न हो सके, वैसे वालकि है, ऐसे किव का सारा श्रम व्ययं है। वालकि ब्रीर प्राकृत किव समानार्थक ज्ञात होते हैं, इनका 'समानापन' केवल मात्र इसी वात में है कि अपनी 'भदेस भिणिति' को भी राम के कीर्तिगान के अलंकृत कर सकें।

यद्यपि 'प्राकृत कवि' कहकर तुलसीदास ने संघे प्राकृत भाषा के कवियों की ग्रोर संकेत नहीं किया है तथापि देवभाषा से इतर 'भासा कवि' होने के नाते प्रकारान्तर से वे भी 'प्राकृत कवि' के चेत्र में ग्राही जाते है । सम्भवतः 'देवभाषा' के प्रतिरिक्त 'भाखा' में पवित्र रामचरित का वर्णन तत्कालीन पुरातनतावादी पंडितों को ग्राह्म न था। इसी काररण तुलसीदास का भी वहुत विरोध हुमा मौर सम्भवतः प्राकृत-म्रपभंश के राम काव्यों के अधिक प्रचारित न होने का भी यह एक मुख्य कारए। थां। प्राकृत, ग्रपभ्रंश हिन्दी ग्रादि भाषाग्रों को प्रारम्भिक ग्रवस्था में, भाखा, सामान्य भाषा, प्रामीए या देशभाषा ग्रादि नामों से ही ग्रभिहित किया गया है। तुलसीदास ने इन भाषा कवियों को ही प्राकृत कवि के रूप में देखा है। उन्होने ग्रपनी 'भाषा' पर संस्कृत की र्छींक देकर 'मानरा' की तत्कालीन पंडितों की ग्रहमन्यता का शिकार होने से बचा लिया, किन्तु प्राकृत और मप-भ्रंश राम काव्यों को-जो सर्वथा जैन रचनाएं हैं-सम्प्रदाय-गत विरोध होने के कारण उन पंडितों ने समाज के विस्तृत-चेत्र में ग्राने से रोका। यह दूसरी बात है कि जैन धर्म के मानने वाले प्राचीन विद्वानों की, अपनी

व्यास म्रादि किव पुंगव नाना । जिन्ह सादर तिर चरित वखाना । चरन कमल वंदछं तिन्ह केरे । पुरवहु सकल मरोरथ मेरे ।' 'वंदउ मुनि पद कंजु, रानायन जेहि निरमयछ । सरवर सुकोमल मंजु, दोषरहित दूषगा सिहत ।।' रामचरित मानस, वालकांड ।

२. कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।

३. यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमिन कोसल राऊ।

कृतियों के अर्जन सम्प्रदायों के हाथों में न पड़ने देने की कट्टरता भी उनके सामाजिक प्रसार में पर्याप्त बाघक रही। सनातनघर्मी पंडितों के विरोध के कारण ही महाकि वृष्पदंत ने खीभकर व्यास और वाल्मीिक के प्रति अपना रोप भाव व्यक्त किया है । इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के कारण महाकि स्वयंभू का 'पउम चरिउ' भी समाज के विस्तृत चेत्र में न आ सका। तुलसीदास ने उसे देखा हो या न देखा हो, इससे स्वयंभू और तुलसीदास की प्रतिष्ठा में कीई अन्तर नहीं आता।

नालमीक कृत 'रामायण' ही है। डा० वेवर, दिनेशचन्द सेन ग्रीर डा० ग्रियसंन ग्रादि ने बौद्ध घम्मपद की टीका ग्रीर सुत्तनिपात टीका में विणित शाक्यों ग्रीर कोलियों की उत्पत्ति ग्रीर विमाता के द्वेप ग्रादि कथाग्रों के ग्राघार पर निर्मित 'जात कहुवएणाना' के 'दशरथ जातक' को ही राम कथा का मूल माना है। डा० हरमन याकीवी ग्रीर एम० विटरनित्स ग्रादि ने इन बातों का खंडन-मंडन किया है। डा० कामिल बुल्के इन तथ्यों पर विचार करते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रामायण की रचना के पूर्व त्रिपिटिक के रचनाकाल में रामकथा सम्बन्धी स्फुट ग्राख्यान काव्य प्रचलित हो चुका था र किन्तु रामायण पर परोच्न प्रभाव के सम्बन्ध में उतना निश्च-यात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता।

विमल सूरि ने अपने 'पडमचरिज' में कहा है कि

मैं उस पद्मचरित ( रामचरित ) को कहने जा रहा हूं, जो नामावली निवद्ध था भौर ग्राचार्यों की परम्परा से चला आ रहा है। ' अगिएतानुयोग के ग्रन्थ 'तिलोय पणित्तं में त्रिशष्ठि शलाका महापुरुषों की नामावली तो दी ही गई है, पद्मचरित सम्बन्वी पात्रो की नामावली भी उसमें मिल जाती है। 'तिलीय पणति' से विमलसूरि की राम कथा से सम्बद्ध पात्रों की नामावली मिली, मौर इन पात्रों की कथायें ग्राचार्य परम्परा से मिली , ४वमा यह सम्भव नहीं है कि विमलसूरि ने जिस म्राचार्य-परम्परा की ग्रोर संकेत किया है, उसने वाल्मीकि कृत रामायण की कथा को भी ग्रात्मसात कर लिथा हो। लोक प्रचलित ग्राख्यानों के रूप में भी विखरी हुई रामकवायें उन्हें मिली होंगी। पुष्पदन्त के निकट व्यास वाल्मीकि ग्रादि पूर्णंतया परिचित थे। रामायण के पात्रों के सम्बन्ध में गलत घारगाओं के प्रचार का दोप उनके सिर मह कर ही पूष्पदन्त ने रामकथा का उद्घार करने का प्रयास किया। डा० पी० एल० वैद्य के अनुसार व्यास भीर वाल्मीकि सारे रामकथाकार जैन कवियों के लिए परिचित थे। उन्होंने राम-लद्दमण के जीवन पर नवीन प्रकाश डालने के लिए ही रामचरित काव्यों की रचना की थ।

विमलसूरि ग्रीर स्वयंभू ग्रादि की रामकयाग्रों पर वाल्मीकि कृत रामायण की कथा का प्रभाव स्पष्ट हिट-गोचर होता है, यद्यपि इन कवियों ने अपने सम्प्रदाय गत सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए बहुत कुछ परिवर्तन भी किया है। 'रामायण' को ग्रादि काव्य के हम में स्वीकार

२. राम कथा, पृध्ध

४. पं॰ नाथूराम प्रेमी-जैन साहित्य ग्रोर इतिहास पृ॰ ६६

१. 'वम्मीय वासु वयिगिहि एाडिउ श्रण्णागु कुम्मग्गक्कवि पडिउ ।' पुष्पदंत-महापुरागा, हितीय भाग, (१० ६ ३ ११] पृ० ३६६

३. नामाविलय निवद्धं श्रायरिचपरंपरागयं सन्वं। वोच्छामि पउमचरियं श्रहागु पुन्वि समासेगा।। (पउम वरिय १-५)

<sup>5.</sup> It is clear from this statment that jain poets, one and all, who tried their hands on the story of Ramayan, have been acquainted with the Versions of न्यास and बाल्मीकि, and think that they gave an altogather new interpretation on the lives of राम and लहमण पुष्पदंत का महापुराण, भाग २, दिप्पणी प० ५४६

ग्रीर श्वेताम्वर सम्प्रदायों में मिलती जुलती थीं। ग्रागे चलकर इस सम्प्रदाय की मान्यताग्रों ग्रीर स्थापनाग्रों को उक्त दोनों सम्प्रदायों ने ग्रात्मसात कर लिया। यही कारण है कि ग्राज न तो यापनीयों का साहित्य ही पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है न उनके मन्दिर, शिल्प, कला ग्रादि से सम्बद्ध विवरण हीं मिलते हैं। यह संध सहिष्णुता, समन्वय, सदाचार ग्रीर सदाशयता का पोषक था। स्वयंभू में नम्रता, उदारता, ग्रीर साम्प्रदायिक तटस्थता का जो भाव दिखाई देता है, वह बहुत कुछ इसी सम्प्रदाय की विशेषताग्रों के कारण।

स्वयंभू की उपलब्ध रचनाग्रों में कहीं भी उनके रचनाकाल का निश्चित उल्लेख नहीं किया गया है। न तो इन्होंने ग्रपने काल के किसी ऐसे प्रसिद्ध शासक का नाम 'दिया है ग्रीर न ऐसी ऐतिहसिक घटना का ही उल्लेख किया है जिससे उनके रचना-काल ग्रीर स्थान का निश्चत पता लग सके। 'पउम चरिउ' की ग्रनेक संधियों के ग्रन्त में उन्हें घनञ्जय का ग्राश्रित कहा गया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के ग्रनुसार पउम चरिउ के प्रारम्भ में ही स्वयंभू ने कहा है कि मैं रयडा के कहने से इस काव्य को रचना कर रहा हूं। '' राहुलजी ने 'रयडा' को घनंजय का विशेषण मान कर स्वयंभू को रयडा (राजश्रेट्टी?) घनञ्जय का ग्राश्रित कहा है। ' फिर रामायण (पउम चरिउ) के विज्जाहर कांड के ग्रन्त में वींसमों संवि की पुष्पिका में 'धुवरायराय अ' पाठ का ग्राधार लेकर उन्होंने राष्ट्रकूट राजा घुव घारा

वर्ष (सन् ७८० से ७६४) का अनुमान लगाया है और यह वताने का प्रयास किया है कि रयडा घनज्जय इसी राष्ट्रकृट राजा के अमास्य थे।

पाएडुलिपियों के जिन पाठों के ग्राधार पर राहुनजी ने उपयु के विचार प्रकट किए हैं, डा॰ भयाणी उन्हें नहीं गानते । उन्होंने 'रयडा वुत्तु' ग्रीर 'घुत्रराय राय' के स्थान पर क्रमशः 'रहुावद्ध ४' ग्रीर 'घुत्रराय वत ४' पाठों को ही शुद्ध माना है । 'रहावद्ध' शब्द रहुा छंदोबद काव्य रूप की ग्रीर संकेत करता है ग्रीर 'घुत्ररायवत' या 'घुत्ररायधोव' से झ्त्रराज का बोच नहीं ही पाता ।

'रिठुऐमि चरिउ' की पुष्पिकान्नों में स्वयंभू को घनलह्या का झौर त्रिभुवन स्वयंभू को वन्दह्या का आश्रित कहा गया है। इन आश्रयदाताग्रों के सम्बन्ध में इतिहासों से कुछ भी प्रकाश नहीं मिलता। पुष्पदन्त के महापुराण में भी ऐसे ही ध्यनि-साम्य-मूलक नाम सम्मैया डंगैया, सन्तैया झादि आए हैं। इसी प्रकार 'सम्बा' या 'स्रव्या' युक्त स्त्रीवाचक नामों का भी उत्लेख है। इत नामों के झाधार पर डा० भयाणी ने यह अनुमान लगाया है कि स्वयंभू ने भी उसी भूभाग में रहकर अपनी रचना की होगी जहां पुष्पदन्त ने अपता महापुराण लिखा था। पुष्पदन्त का सम्बन्ध मान्यवेट से बताया जाता है। स्वयंभू का सम्बन्ध भी इसी कन्नड़-भापी देत्र से रहा होगा। डा० भयाणी का यह भी अनुमान है कि स्वयंभू स्त्रीर उनके आश्रयदाता किसी उत्तरी देत्र —सम्भवत: बरार से इस देत्र में आए होगा ७ वीं शती में कर्नाटक स्रीर

पढमो संधि २-११ पृ०४)

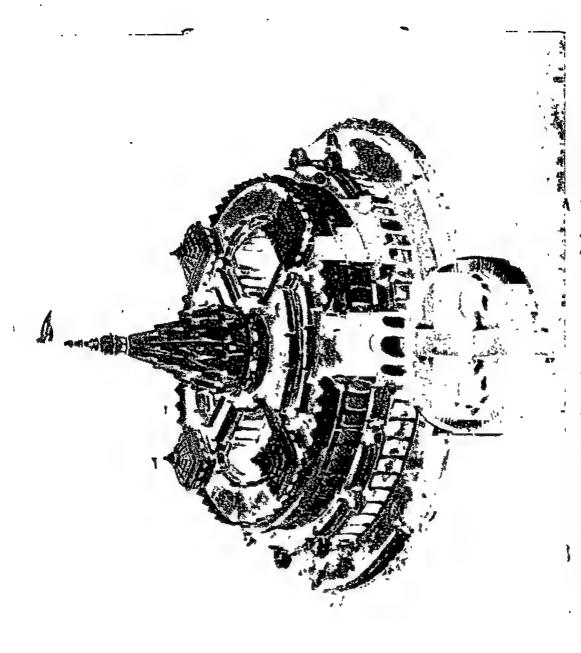
१. वेवेसाउ तो, वि गाउ परिहरिम । वरि रयडा वुत्तु कच्चु करिम । (हिन्दी काव्यधारा पृ० २२)

२. वही, पाद-टिप्पग्गी, पृ० २३।

३. घुवराय राय व त इय भुग्रप्परात्तिरात्तीसु यासा पायेसा । (वही, पृ० २३)

४. ववसाउ तो वि एाज परिहरिम । विर रङ्डावद्धु कच्चु करिम । (पडम चरिउ, प्र० भाग, पृ० ५)

५ इस पास के सम्बन्ध में डॉ॰ भांयाँगी स्वयं संदिग्ध स्थिति में हैं। पुस्तक के ग्रंत में तो उन्होंने 'धुवरायवत इयनु ग्रप्पणित्तिगती सुयागु पाढेण' पाठ दिया है किन्तु भूमिका भाग के परिशिष्ठ १ में 'धुग्रराय घोव तइनुग्र पणित्ति गात्ती सुयागु पाढेगा?' पाठ दिया है।



पदमपुरा (बाड़ा) में निर्मित होने वाले भव्य एवं कनापूर्ण जैन मंदिर का नमूना

,		-	

वरार के राजनीतिक ग्रीर सांस्कृतिक सम्बन्धों ग्रीर राष्ट्रकूट राजाग्रों के इतिहास के ग्राधार पर डा॰ भाषाणी ने ग्रपने मत की पुष्टि की है, ै पं॰ राहुल संकृत्यायन ने स्वयंभू का देश कोशल (मध्यदेश ?) माना है। उनका कहना है कि 'राष्ट्रकूट राजा ध्रुव धारावर्ष सेना के साथ कन्नीज ग्राया था। जान पड़ता है कि उसी के ग्रामात्य रचड़ा के साथ स्वयंभू दिल्ला गए । इसी ग्राधार पर उन्होंने स्वयंभू के समय का ग्रनुमान भी ७६० ई॰ या उसके ग्रासपास लगाया है 3।

'पउम चरिउ' ग्रीर 'रिट्टणोम चरिउ' की पांडुलि—
पियों में कहीं कहीं कुछ तिथियां ग्रंकित हैं। 'पउमचरिउ'
में युद्ध कांड ७७वीं सिन्ध में समाप्त हो जाता है। ७८वीं सिन्ध से उत्तर कांड प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु ७८वीं सिंध के ग्रन्त में युद्ध कांड की समाप्ति के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि युद्ध कांड ज्येष्ठ मास में कृष्ण पच्च की प्रतिपदा दिन सोमवार की पूर्ण हुग्रा। हें इसी प्रकार 'रिट्टणोमिचरिउ' का युद्ध कांड ६२वीं सिन्ध में समाप्त होता हैं। यहीं इसकी समाप्ति की तिथि दी गई है कि 'यह फालगुन नचत्र के तृतीय दिन मंगलवार को समाप्त हुग्रा। उत्तर कांड के प्रारम्भ की सूचना भी दी गई है कि 'यह मूंल नचत्र के दसवें दिन' रिववार को प्रारम्भ हुग्रा। यहीं यह सूचना भी दी गई है कि 'रिट्टणोमि-चरिउ' की ६२ संधियों को लिखने में किव को ६ वर्ष तीन माह ग्रीर ग्यारह दिन का समय लगा। '

इन तिथियों के साथ सन् या सम्वत्सर का उल्लेख

कहीं नहीं है। डा॰ भयाणी ने सन् ७०० और सन् ६५० ई॰ के मध्य की उन तिथियों को एकत्र करके कुछ विचार किया है जिनके साथ उपयुक्त तिथियों और दिनों का मेल बैठ जाता है। किन्तु स्वयं डा॰ भयाणी की हिट्ट में ही उक्त प्रयास का कोई उपयुक्त फल नहीं मिला है। इन तिथियों के सम्बन्ध में कुछ वातें अवस्य ही विचार-णीय है।

पहली वात तो यह कि 'पडमचरिउ' में केवल एक स्यान पर केवल युद्ध कांड की समाप्ति पर तिथि का उल्लेख है। प्रन्य कांडों की समाप्ति की तिथियों का उल्लेख नहीं है। दूसरे, जब ७७वीं संघि से ही युद्ध कांड की समाप्ति हो जाती है तो ७५वीं संधि के प्रन्त में युद कांड की समाप्ति का उल्लेख वयों किया गया? 'रिठ्ठणोमि चरिउ' में ६२वीं संधि के ग्रंत में युद्ध कांड की समान्ति भीर उत्तर कांड के प्रारम्भ की तिथियां दी गई हैं। यहीं ६२ संधियों के लिखने में लगने वाले समय का उत्लेख भी किया गया है। ग्रन्यत्र किसी कांड की परिसमाप्ति के साथ कोई तिथि नहीं मिलती। प्रश्न यह है कि उन दोनों पुस्तकों में केवल एक एक स्यान पर ही तिथियों का उल्लेख क्यों किया गया है ? हमें तो ऐसा लगता है कि ये तिथियां लिपिकारों द्वारा लिपिकाल के सम्बन्ध में दी गई है, यद्यपि लिपिकाल के सम्बन्ध में भी ये अध्री ही हैं।

ये तिथियां पुष्पिकाम्रों के रूप में उल्निप्तित हैं। डा॰ भयाणी ने इन्हें त्रिभुवन स्वयंभू का लिखा हुन्ना कहा

६. पडम चरिउ, प्र० भाग की भूमिका, प्० ११-१२।

७. हिन्दी काव्यधारा, पृ० २२--२३।

न, वही, पु० २२।

१. जुज्मं कंडं समत्तं। ज्येष्ठ वदि १ सोमे।

२. सोमे सुयस्त य वारे तइया-दिय हम्मि फग्गुरो रिक्खे। सिउ-गामिरा य जोए समागाियं जुज्भं कंड व। (?)

३. दियहाहिवस्स वारं दसमी दियहम्मि मूलगावखत्ते। एयारसम्मि चन्दे उत्तर कण्डं समांढतः।

४. छःवरिसाइँ तिमासा एयारस वासरा सयम्भुस्स । वारावइ संधिकररो वोलोगों इत्तिग्रो कालो।

है। किन्तु पुष्पिकाओं में पाई जाने वाली ग्रनेक वातें ऐसी है जिनके ग्राधार पर उन्हें स्वयंभू का लिखा तो कहा ही नहीं जा सकता, त्रिभुवन स्वयंभू का लिखा होने में भी सन्देह है।

अपभ्रंश काव्यों में संचि, कांड या सर्ग की समाप्ति पर पृष्पिकायों या प्रशस्तियों के ग्रंकन की परम्परा सी ज्ञात होती हैं। महाकवि रइघू के 'वलहद्द चरिउ' की प्राप्त पांडुलिपि में भी प्रत्येक संघि के ग्रंत में प्रशस्ति दी गई है। ये प्रशस्तियां प्रतिलिपिकार द्वारा अपनी ग्रोर से लिखी जात होती हैं। 'पउमचरिउ' ग्रीर 'रिठूणोमिचरिउ' की पृष्टिपकाम्रों के प्रति सदेह करने के कई कारण मिल जाते हैं। हो सकता है कि कुछ पृष्पिकाग्रों के रचि-यिता त्रिभुवन स्वयंभू ही हों, किन्तू श्रविकांश में जैसी ग्रनियमितताएँ दिखाई देती हैं, वैसी स्वयंभू या त्रिभुवन स्वयंभ जैसे जागरूक कलाकार से सम्भावित नहीं हैं। इन पुष्पिकाग्रों में संवियों के लिए कहीं पर्व, कहीं ग्राश्वासक कहीं सर्ग ग्रादि शब्दो का प्रयोग किया गया हैं। ग्रयो-ध्या कांड के लिये सर्वत्र 'उज्माकंडं' शब्द का प्रयोग हुन्ना है। किन्तु इस कांड के अन्त में 'अडजमा कंड' पृष्टिका में अंकित है। अवश्य ही यह लिपिकार का प्रमाद है। विद्याघर कांड ग्रीर ग्रयोध्या कांड के ग्रन्त में ग्रमताम्बा ग्रीर ग्रादित्याम्बा की श्रीरणा से उक्त कांडों के लिखने की जो बात श्राई है, उससे हमें ऐसा लगता है कि इनकी प्रेरणा से इन कांडों की रचनां नहीं वरन इन रचनाग्रों की प्रतिलिपियां हुई होंगी। इन वातों के आघार पर हम इसी निष्कर्प पर पहुँचते हैं कि पुष्पिकास्रों के रूप में म्रचिनांश प्रचित्त है। उपरि लिखित तिथियों के सम्बन्ध में भी हमारा यही अनुमान है।

इसी स्वान पर 'पडम चरिड' के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'कइराएं' शब्द के सम्बन्ध में भी हम एक ग्राशंका व्यक्त करना चाहते हैं। 'कविराज' शब्द का प्रयोग टीकाकारों ने स्वयंभू के लिए कहा है। अर्थान् स्वयंभू ने इस विशे-पता का प्रयोग प्रपने लिए किया है। डा॰ भयागी के विचार से भी यह स्वयंभू का ही विशेषणा है। उन्तयं प्रपने लिए प्रयुक्त 'कविराज' शब्द में जिस ग्रहं भाव का प्रत्यचीकरण हम करते हैं उसकी ग्रव्यावहारिका का जापन उसके बाद की पंक्तियों में ही हो जाता है। स्वयंभू ने नम्रता जापन के लिए ग्रपने की चिपटीनाक ग्रीर विरल दांत वाला तो कहा ही है, ग्रपने को महान कुकि कहने में भी उन्हें संकोच नहीं होता। ''बुह्यण सयम्भु पइं विराणवइ, मईं सरिसंच ग्राग्णु एगहि कुकह।" कहने वाला ग्रति विनम्न कि प्रारम्भ में ग्रपने को किवराज घोपित कर देगा, यह बात कुछ ग्रनुपयुक्त सी लगती हैं। सम्भव है कि 'कइराएं' शब्द का प्रयोग कि ने रिवपेण के लिए किया हो।

महाकिव स्वयंभू के समय का निश्चित ज्ञान न होने के कारण उनके काव्यों में उल्लिखित पूर्ववर्ती कियों श्रीर श्राचार्यों की प्रामाणिक तिथियों के श्राधार पर कुछ श्रनुमान किया जाता है। स्वयंभूछंदस में श्राने वाले जैत- श्रजैन ५६ किवयों की सूची प्रेमीजी ने दो है। इनमें से श्रिषकांश का समय ज्ञात नहीं है। 'पउम चरिउ' श्रीर 'रिठुणोमि चरिउ' में प्रसंगवश पांचमहाकाव्य (रघुवंश, कुमार संभव, शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय श्रीर भट्टि- काव्य) श्रीर पिंगल, भरत, दंडी, भामह, व्यास, ईशान किव, श्रीहर्प, श्रीर रिविषणाचार्य श्रीद किवयों श्रीर श्राचार्यों के नाम श्राए हैं। इनमें श्राचार्य रिविषण सबने वाद में श्राते हैं। उन्होंने श्रपने पद्मचरित की रचना विष् सं० ७३४ में की थी। पंडितों का विश्वास है कि स्वयंभू विव सं० ७३४ के पश्चात् विसी समय हए होगें।

महाकवि पुष्पदंत ने अपने महापुरागा में स्वयंभू ना

१. पउम चरिड, ६० भाग, भूमिका प्०६।

२. पुरा रविषेणायरिय -- पसाएं -बुद्धिए ग्रवगाहिय कइराएं। (प० च०, प्र० भाग, पढमो संघि, २-६ प० ४)

३. पडम चरिंड, प्र॰ भाग, भूमिका, पृ॰ २८-२९

४, जैन साहित्य ग्रीर इतिहाम (द्वि॰ सं॰) पृ० २०८

नामोल्लेख किया हैं। महापुराण की रचना वि० ते० समृद्ध-प्रेमु ब केंग्यिकारों एवं काव्य-शास्त्रकारं ग्राचायों ने १०१६ में हुई थी। इस तरह स्वयंपू वि० सं ७३४ ते प्रेमिक प्रकार से स्वयंपू का नाम स्मरण किया है। सं० १०१६ के मध्य में कभी पैदा हुए होंगे। प्रेमीजी का 'पउम चरिज', रिठ्ठ एमि चरिज ग्रीर स्वयंभू छंदम्

१०१६ में हुई थी। इस तरह स्वयंभू वि० सं ७३४ से सं० १०१६ के मध्य में कभी पैदा हुए होंगे। प्रेमीजी का कहना है कि स्वयंभू रिवर्षणाचार्य से बहुत बाद में नहीं हुए होंगे। उनका अनुमान है कि वे हरिवंश पुराण के कर्ता जिनसेन से कुछ पहले ही पैदा हुए होंगे। यदि वे जिनसेन के बाद पैदा हुए होते, तो रिवर्षण की भांति उनका नाम स्मरण भी उन्होंने अवश्य किया होता। जिनसेन के हरिवंश पुराण की रचना वि० सं० ५४० में हुई थी। अतः प्रेमीजी के अनुसार स्वयंभू का समय वि० सं० ७३४ से वि० सं० ५४० के मध्य माना जाना चाहिए।

कहना नहीं होगा कि प्रेमीजी का यह अनुमान भी केवल मात्र अनुमान ही है, अभी यह प्रमाण-सिद्ध नहीं हैं। तथापि इन अनुमानों के आधार पर ही यह माना जाने लगा हैं कि स्वयंभू आठवीं शताब्दी में पैदा हुए थे।

परवर्ती ग्रपभंश-किवयों ने काव्य एवं काव्य-शास्त्र के चेत्र में स्वयंभू को प्रकाश स्तम्भ के रूप में स्वीकार किया है। पुष्पदंत सेलेकर १६वीं शती तक के महाकाव्यकार कियों को स्वयंभू के महाकाव्यों ने प्रभावित किया है। 'स्वयंभू छंदस' ने हेमचन्द को प्राकृत एवं ग्रपभंश छंदों की व्याख्या में सहायता दी। यही कारण है कि स्वयंभू के वाद ग्राने वाले पुष्पदंत, हरिषेण (६८७ ई०) कनकामर, हेमचन्द, नयनन्दी. चीर, श्रीचन्द्र, धनपाल, रइधू ग्रादि

'पउम चरिउ', रिठुऐमि चरिउ ग्रीर स्वयंभू छंदम् के ग्रितिरिक्त 'पंचमी चरिउ' ग्रीर 'स्वयंभू व्याकरए' भी स्वयंभू के लिखे कहे जाते हैं। ग्रेतिम दोनों ग्रंप ग्रभी तक ग्रप्राप्य है। यों तो 'रिट्टऐमि चरिउ' ग्रीर 'स्वयंभू-हंदस्' का भी विशेष महत्व है किन्तु महाकिव के रूप में स्वयंभू की ख्याति का मुख्य ग्राधार उनका 'पउमचरिउ' ही है। इसी पुस्तक के ग्राधार पर वे ग्रपन्न श के वात्मीकि कहे जाते है।

है। १-विद्याघर कांड (२० संघि), २-म्रयोध्याकीड (२२ संघि), ३-मुन्दर कांड (१४ संघि), ४-मुद्ध कांड (२१ संघि) ग्रीर ५-उत्तर कांड (१३ संघि) १। इनमें प्रथम =३ संधियां स्वयंभू की लिखी कही जाती हैं।

'पउम चरिउ' को रामायण और पुराण भी कहा गया है। पुस्तक की अन्तिम प्रशस्ति में इसे 'रामायण पुराण' नाम दिया गया है। 'जिनरत्नकोश' में भी इसे 'रामायण पुराण' ही कहा गया है। इस प्रंथ की कुछ पुष्टिकामों में इसे 'पद्मपुराण' के नाम से भी अभिहित किया गया है। १ दबीं और दश्वीं सिंघ की पुष्टिकामों में इसे 'रामदेव चरित' और दश्वीं सिंघ की पुष्टिका में 'रामचरित' भी वहा गया है। स्वयंभू ने स्वयं इसे रामा-यण काव्य³, रामायण अग्रेर राघवचरित वहा है।

सिरि विज्जाहर कंडे संघीयो हुंति वीस परिमार्गा। उज्भा कंडिम तहा वावीस मुखेरा गराणाए। चउदह सुंदरकंडे एक्काहिय वीस जुज्भ कंडेय। उत्तरकंडे तेरह संघीयो खवड़ सब्वाउ ॥

१. जैन साहित्य ग्रीर इतिहास ( द्वि० सं० ) पृ० २१-११

<sup>.</sup> २. पडम चरिउ की ग्रंतिम प्रशस्ति में त्रिभुवन-स्वयंभू ने कांडों ग्रीर संधियों का परिगणन किया है—

<sup>्</sup> ३. 'पुरा अप्याराज पायडमि रामायरा कार्वे ।' प० चरिन्न, -१-१-१० ।

४. 'रावण-रामहुं जुज्कु तं णिसुराहु रामायरा।' वही, २३-१

प्र. जं सयले वि तिहुयगो वित्थारेज, आरम्भिज पुगा राहवचरिज । वही, २३-१-६ ।

विषय के ग्राधार पर उन्होंने इसे रामकया भी कहा है।

इन विभिन्न नामों को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि 'पडमचरिउ' एक ग्रोर तो चरित काव्य' है ग्रीर दूसरो ग्रोर 'क्या' ग्रोर 'पुराएा' भी। तुनसीदास के 'रामचरित मानस' में श्रोता-वक्ता के तीन तीन जोड़े देखकर कुछ विद्वानों ने इसे पुराएा भी कह डाला है। इस कथन से पडितों में रोप की परिव्याप्ति भी हुई है। 'मानस' को पारिभापिक रूप में पुराएा तो नहीं कह सकते किन्तु उसकी शैली पर पौराएिक शैली का प्रभाव ग्रवश्य है। इसे पौराएिक शैली में लिखा हुग्रा महाकाव्य कह सकते है। स्वयंभू के पडमचरिड को तो कथा काव्य ग्रीर पुराएा सब कुछ कहा गया है।

#### पुरागों का विशिष्ठ स्थान

भारतीय घर्म-न्यवस्था मे पुराणों का विशिष्ठ स्थान है। यहां लगभग समस्त प्रमुख घामिक सम्प्रदायों के अपने म्रलग म्रलग पुराण हैं। पुराणों के माध्यम से जनता की वीदिक जिज्ञासाम्रों की शांति के साथ ही उनके हृदय में ग्रपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रति ग्रास्या उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सम्प्रदायगत घार्मिक सिद्धान्तों के निरूपण के लिए पूराण वड़े हो प्रभावशाली माध्यम रहे होगे। श्रीमद्भागवत पूराण और गरुड पूराण ग्राम भी जनता के बीच श्रद्धां की दृष्टि से देखे ग्रीर पूजे जाते हैं। ग्रनभ्रंश काल में ही ग्रनेक प्राणों की रचना हुई। ग्रमभंश काव्यों के रविवता जैन विद्वानों से पुरागों की प्रभावोत्पादकता ग्रलित नहीं रही होगी। यह भी निविवाद है कि जैन साहित्य वर्म-भावना-निरपेन्न नहीं है। घामिक भावना का निरुपए इनका मुख्य विषय हैं। इन काव्यों के माध्यम से वे ग्रपने वार्मिक सिद्धान्तों के साथ जनता के बीच पहुँचना चाहते थे। 'सामान्य-भाषा' का प्रयोग भी उन्होंने इसी उद्देश्य से किया। ऐसा ज्ञात होता है कि इन धार्मिक सिद्धान्तों को प्रभावोत्पादक ढंग से प्रसारित करने के लिए

ही जैन काट्यों, श्रीर कथा श्रों को भी पुराण कह दिया गया । यों, पडमचरिउ में पूराणों की मांति श्रीता ग्रीर बक्ता के रूप में 'श्रे शिक' ग्रीर गीतम को भी माना जा सकता है, फिन्तू इसका यह अर्थ नहीं कि श्रोता वक्ता के रूप में जिन काव्य ग्रन्थों का प्राणयन हो वे सब पुराण ही मान लिये जाय । श्रोता ग्रीर वक्ता के रूप में ग्रनेककार्यों की रचना हुई हैं। कहीं शुक-शुकी संवाद के रूप में कोई रास या चरित काव्य लिखा गया हैं तो कहीं किन ग्रौर कवि पत्नी के वार्तालाप के रूप में कोई कथा काव्य। गुरु-शिष्य, शंकर-पार्वती या मृग-मृगी सम्वादों के स्प में लिखे जाने वाले काच्य वास्तव में काव्य ही है। वास्तविक वात यह हैं कि श्रोता-वक्ता के माध्यम से काव्य रवना काव्य जगत की एक चिर-चरित रुढ़ि हैं। प्रचार ग्रीर प्रसार के घामिक आग्रहों के कारण ही स्वयंभू का 'पडम चरिउ' भी पुराण बन गया, ग्रन्यथा है यह काव्य-ग्रंथ ही।

इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टब्य है कि 'पडम चरिउ' के लिए 'पद्मपुराण' या 'रामायण पुराण' नामों का प्रयोग ग्रधिकांशत: ग्रंथ की पुष्टित हाओं में ही हुन्ना है, जिनके सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि कुछ ती विभुवन-स्वयभू की लिखी होंगी ग्रीर कुछ लिपिकारों के द्वारा जोड़ी गई हैं। स्वयंभू ने स्वयं इसे पुराण नही कहा है। पुष्पिकाग्नों या ग्रंथ जैन-ग्रंथों में 'पडम चरिड' के लिए 'पुराण' नाम की स्वीकृति भी प्रचारात्मक विचार की ही द्योतिका है।

श्रपश्रंश साहित्य में रास, चरित, कया श्रादि की भांति 'पुराण' का प्रयोग भी कान्य-विशेष रूप से चरित कान्य के लिए ही किया गया है। प्रारम्भ में इस शब्द का प्रयोग भले ही प्रचारात्मकता की हृष्टि से पौराणिक प्रभावोत्पादन के लिए हुग्रा हो, किन्तु ग्रागे चलकर इसे चरित कान्यों के नामकरण की एक पद्धति के रूप में ग्रहण कर लिया गया। पद्मपुराण, पाश्वनाय पुराण, पांटव पुराण श्रादि कान्य ग्रंथ ही हैं। इसी प्रकार 'कथा' शब्द

१. वद्धमाण मुह-कुहर विश्विग्गय,

राम कहा-एाइ एह कमागय। वही, १-२-१।

से भी भविसयत्तकहा, विकासवतीव हा, जैसे काव्य ग्रंथों का ही बोध होता है। इस दृष्टि से 'पउमचरिउ' को चाहे पुरागा कहा जाय, चाहे, कथा, यह एक चरित काव्य है जिसमें पद्म ग्रंथांत् राम के चरित का वर्णन किया गया है।

ग्राठवीं श्रीर नवीं शताब्दियों में संस्कृत के उत्तरका-लीन साहित्य की ह्यासोन्मुखता के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे थे। प्राण शक्ति के ग्रभाव ग्रीर रुढ़ियों, किव समयों, ग्रभिप्रायों ग्रीर परम्परा-विहित परिपाटियों के प्रयोग मात्र के कारण साहित्य ग्रत्यन्त नीरस ग्रीर ग्राकर्षण-हीन होता जा रहा था। किन्तु इसी काल में लिखे जाने वाले ग्रप-श्रंश साहित्य में नवीन चेतना ग्रीर जीवंत शक्ति के दर्शन होते हैं। लोकरस से सिचित यह साहित्य एक ठज्जंस्वस प्राणवत्ता के साथ प्रस्तुत होता है। स्वयंम् के के 'पडमचरिउ' में भी इस प्राण शक्ति के दर्शन होते हैं।

स्वयंभू ने इस काव्य में मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का अनुभूति पूर्ण चित्रण किया है। राम को उन्होंने तुलसीदास की भांति देवत्व के गुणों से युक्त न करके मानव के रूप में ही रखा है, अतः मानवीय गुणों और निवंलता के चित्रण का उन्हें पर्याप्त अवसर मिला है। कारुणिक हश्यों के चित्रण में तो वे वेजोड़ हैं। उत्साह, प्रेम, निवंद आदि के चित्रण में तो वे वेजोड़ हैं। उत्साह, प्रेम, निवंद आदि के चित्रण में भी उनकी नवीन सूभों के दशंन होते हैं। इतना होने पर भी वे कथानक रहियों, अभिप्रायों और परम्परागत परिपादियों के प्रहण से वे सर्वथा प्रस्त्रते नहीं हैं। परवर्ती अपभ्रंश साहित्य में तथा हिन्दी के चन्दवरदाई, जायसी, तुलसीदास म्रीर सूरदास ग्रादि महान् कियों की रचनाग्रों में भी हम उनका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में पाते हैं। 'मानस' के प्रारम्भ में जिस प्रकार तुलसीदास ने देवस्तुति, सज्जन

प्रशंसा, खल निन्दा ग्रात्मनिवेदन ग्रादि किया है, इसी प्रकार स्वयंभू ने भी 'पडमचरिउ' के प्रारम्भ में किया है। जैन घर्मानुयायी होने के कारण स्वयंभू ने प्रारम्भ में ऋपभदेव ग्रादि तीर्थंकरों का स्तवन किया है ग्रीर स्मातं वैष्णव होने के कारण तुलसीदास ने गणेश, सरस्वती शंकर ग्रादि देवताग्रों की प्रार्थना की है। ग्रात्मनिवेदन में दोनों कवियों ने अपनी नम्रताकी हद कर दी है। तुलसीदास ग्रपनी 'भिएति' को 'भदेस' कहते हुए ग्रपने को कवित्त-विवेक से सर्वथा रहित कहते हैं। वे कहते हैं कि 'न तो मैं किव हुँ न मेरे वचनों में वैदाध्य है। सारी कलाओं और विद्याम्रों से मैं हीन हूं। काव्य विवेक के लिए प्रत्तरों ग्रीर ग्रथों का ग्रलंकरण, छंद-प्रवन्ध-विधान, भाव, रस, भेद, काव्यगुण म्रादि का ज्ञान म्रावश्यक है। ये सब मुक्त में नहीं है । ठीक इसी प्रकार का ग्रातम-निवेदन स्वयंभू का भी है। पंडितों से निवेदन करके वे अपने को महान् कुकिन घोषित करते हैं। व्याकरण का उन्हें कत्तई ज्ञान नहीं, वृत्ति-सूत्र का वे व्याख्यान भी नहीं कर सकते, प्रत्याहार ग्रीर संधियों में उनकी वृद्धि लगती ही नहीं, विभक्ति, समास, कारक, अलंकार, प्रत्यय, उपसर्ग का ज्ञान भी उन्हें नहीं है। न तो उन्होंने पांचों महाकाव्यों को सुना है ग्रीर न पिगल प्रस्तार तथा भामह दंडी के म्रलंकार शास्त्रों से ही वे परिचित है। फिर भः काव्य रचना वा व्यवसाय वे नहीं छोड़ सकते—

बुह्यण संयम्भु पइं विष्णात्रइ,
मइं सिरसड श्रण्णु गाहिं कुकइ।
वायरणु कयावि गा जाणियड,
गाउ वित्ति सुत्तु वक्लाणियड।
+ + +
गाउ णिसुण्ड पञ्च महायकञ्च,
गाउ भरहु गेड लक्लाणिविसन्व।

( रामचरित मानस, बालकौंड )

१. किव न होउँ निहं वचन प्रवीत् । सकल कला सव विद्या हीत् । ग्राखर ग्ररथ ग्रलंकृति नाना । छंद प्रवंघ श्रनेक विधाना । भाव भेद रस भेद ग्रपारा । किवत रोप गुन विविध प्रकारा । किवत विवेक एक निहं मोरे । सत्य कहहुं लिखि कागज कोरे ।

गाउ बुडिकाउ पिंगल पत्थारु, गाउ भम्मह—दृष्डि— अलंकारु वयसांड तोशि गाउ गाउ परिहरमि। वरि रङ्गावद्धु कत्र्यु करमि। पउम चरिउ (१-३-१ से ६ तक)

यह नम्रता ज्ञापन की रूढ़ि ग्रत्यन्त प्रचलित ज्ञात होती है। लगभग समस्त प्रवंधकार कवियों ने नियमित रूप से इसका प्रयोग किया है। सज्जन प्रशंसा ग्रीर खल निन्दा तो ग्रीर भी ग्रधिक प्रचलित काव्यरूढ़ि है। सज्जनों के सम्मुख प्राना ग्रज्ञात प्रकट करने में स्वयं को कोई संकोच नहीं है क्योंकि सज्जन सदा परोपकारी ग्रीर सद्मागं के प्रदर्शक होते हैं। किन्तु यदि कोई दुष्टता पर उत्तर ग्रावे तो ऐसे खल को 'हत्युत्यिल्लउ' लेने के ग्रितिरक्त स्वयंभू ऐसे नम्न ग्रीर उदार व्यक्ति के लिए भी कोई ग्रन्य मार्ग नहीं है। क्योंकि वे जानते हैं कि ग्रम्ययंना करने से भी दुष्टों का स्वभाव नहीं वदल सकता।

सठु सङ्जन लोयहों किउ विण्ड जं अनुहु पद्रिसिड ऋष्ण्णः । जइ एम विरूसइ कोवि खलु, तहो हत्थुत्थित्लिड लेड छलु । पिसुणों किं ऋष्भित्थिएण जसु को विण सच्चइ । किं छण चन्दु महागहेण कम्पन्तुवि सुच्चइ । (१०१-३-१४)

नम्रता प्रदर्शन के साथ साय यह स्वामाविक ग्रहं कितना गौरवास्पद है।

तुलसीयास ने सज्जनों की भूरि भूरि प्रशंसा तो की ही, मसज्जनों की भी जन्होंने पूर्ण मध्ययंना की है। सज्जन तो सवंगुण सम्पन्न हैं ही, उन्हें जगत का 'जंगम तीर्थराज' कहने में तुलसीयाम ने संकोच नही किया।' साथ ही बिना काज दाहिने वाएं चलने वाले खली की भी जन्होंने सद्माव के साथ स्मरण किया, ' यद्यपि जन्हें यह जात है कि मत्यन्त मनुगम के साथ पाला हुना काण भी निरामिय नहीं हो सकता। '

#### जन हिताय

'राम चिरत मानस' की रचना नुलसीदास ने स्वान्त: सुखाय की किन्तु यह रचना सर्वया जनिहताय सिद्ध हुई। स्वयंभू ने 'पंडमचरिड' की रचना जन माया रण के लिए ही की । इसीलिए वे पांहित्य प्रदर्शन' के लिए भागम—युक्ति' गढ़ने के चक्कर में न पड़कर सामान्य भाषा में रचना करना चाहते हैं। सामान्य भाषा को वे छोड़ ही नहीं सकते, क्यों कि इसके परित्याग ते उनके वचन सुभाषित नहीं होंगे के जन साधारण के लिए लिखे गए, इस रामायण काव्य में स्वयंभू प्रपना सारा व्यक्तित्व—उड़ेल देना चाहते हैं। भ

गोस्वामी तुलसीदास और स्वम्भू में समान रूप से पाई जाने वाली इन काव्य रूढ़ियों को देखकर हमें कदापि यह नहीं सोचना चाहिए कि तुलसीदास ने स्वयंभू का अनुकरण विया होगा। इन काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग अपने श और हिन्दी के समस्त प्रवंधकार कवियों ने किया है। पुष्पदंत, अव्दुरंहमान, रइधू, चन्दवरदाई, जायसी आदि की रचनाओं में इन्हें किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है।

'परमचरित्र' के विभिन्न वर्णनों में भी इन काव्य

सुजन समाज सकल गुन खानी । करउँ प्रनाम सप्रेम सुवानी ।
 मुद मंगल मय सत समाजू । जो जग जंगम तीरथराजू ।

२. वहुरि वंदि खलगन सतिभाएँ । जे विनु काज दाहिनेहुं वाएं।

३. यद्यपि पलिहर्हि अति अनुरागा। कवहुं निरामिस होहि कि कागा।

४. सामण्ण भास छुडु सावडउ छुडु ग्रागम-जुत्ति कावि घडउ । छुडु होन्तु सुहासिय वयसाइंगामिलन भास परिहरसाइं॥ (प० च०, १-३-१० ११)

पुगु अप्यागाउ पायडिम रामायगा कार्वे (वही, १-१-१६)

रूढ़ियों और अभिप्रायों को हूं ढ़ा जा सकता है। सीता (३८-३) और मंदोदरी (१०-२-३) के रूप चित्रणों में उन्होंने कविसिद्ध उपमानों और अभिप्रायों का पूर्णतया प्रयोग किया है। प्रयोध्या और लंका के रिनवासों के वर्णन में सामंतो व्यवस्था का सुन्दर चित्रण हुआ है। पावस (२८-१ से ३) वसंत (२६-५), संघ्या (७२-३) समुद्र (२७-५), नदी (३१-३), वन (३६-१) आदि प्रकृति चित्रणों में भी इन रूढ़िगत प्रयोगों को देखा जा सकता है, जिनका प्रयोग परवर्ती कवियों ने बहुत अधिक किया है।

स्वयंभू में इन रूढ़िगत प्रयोगों का वाहुत्य है, किन्तु उनकी महानता की कसौटी ये प्रयोग नहीं, वरच उनके सूच्म निरीक्षण पर आधारित उनकी भाव प्रवीणता है जिसका विस्तार 'पउम चरिउ' के प्रत्येक कांड में देखा जा सवता है, 'सीता' के सौंदर्य का चित्रण वे रूढ़िगत उपमानों के आधार पर ही करते हैं, पर उसी में उनके निरीक्षण की सूच्मता यत्र-तत्र भलक जाती है-

थिर कलहंस गमण गइ मंथर। किस मक्कारे णिपंचे सुवित्थर। रोमाविल मयरहरु क्लिण्जी। यां पिंपिलि-रिंड्रोलि विलिण्णी।

यहां सीता के लिए कलहंस गमना, कृपमध्या, विशाक्त नितम्बा श्रादि विशेषणों का परम्परायुक्त प्रयोग करते हुए भी रोमावलि को पिपीलिका पंक्ति क समान कहकर कि ने अपने निरीक्षण की सूच्मता प्रकट करदी है। इसी प्रकार पावस ऋतु में मेथों के प्रसार का यर्णन करते हुए स्वयंभू ने परम्परागत रुढ़ियों का पालन तो किया ही है, किन्तु जब वे मेथ प्रसार के लिए साहश्य मूलक भावों को उपस्थित करने लगते हैं तो उनके सूच्म निरीक्षण और भाव प्रसार की मराहना करते नहीं यनती।

स्वयंभू के राम इसी पृथ्वी के यथार्थ मानव है। वे ग्रलीकिकता से सर्वथा निरावृत हैं। उनमें विपत्तियों से सामना करने के लिए शक्ति तो है ही, ग्रापदाग्रों मे

ग्राहत हो जाने पर संसार को करणा विचलित कर देने वाली दुर्ललता भी है। राम और सीता के रूप में पुरुप ग्रीर नारी का वड़ा ही रम्य ग्रीर स्वाभाविक चित्र स्वयंभू ने उपस्थित किया है। पुरुप और नारी के सम्बन्धों का जैसा यथातध्य ग्रीर उदात्त चित्र ग्रीन परीका के समय उपस्थित होता है, वैसा म्रन्यत्र दुर्लभ है। कारुणिक स्थलों पर तो स्वयंभू की लेखनी अवाध करणा स्रोत का सृजन कर देती है। सारा जन समाज करुए। प्लावित हो उठता है। वन गगन के समय राम के लिए माता का विलाप लोकगीतों का सहज सम्भाव्य रस जड़ेल देता है। रावण की मृत्यु पर विभीपण श्रोर मंदोदरी के विलाप, ग्रञ्जना सुन्दरी के लिए पवनञ्जय का विकाय, और लद्मण के आहत हो जाने पर भरत ग्रीर राम का विलाप सारे संसार को विचलित कर देने वाला है। तुलसी के राम की ही भांति स्वयंभू के राम भी भरत-वियोग में शोक विह्वल हो सारी मर्यादायें भूल जाते हैं--

> विर दंति दंते मुस लग्गेहिं, विश्वि मिन्दाविड श्रप्पण्ड। विरि श्वर्य दुक्खु श्राविमड, श्वड विऊड माइत्ति तग्गड। (प० च० ६०१४)

युद्ध कांड में दर्प से पूर्ण वीरता का भव्य स्वरूप देखा जा सवता है। शान्त रस तो जैन घम के नैद्धान्तिक निर्पण का प्रधान तत्व ही है। समस्त घटनाश्रो का पर्यवसान, संसार की च्याभंगुरता के उपदेश के नाथ विरक्ति श्रीर निर्वेद में ही होता है श्रीर सारे प्रभावशानी पात्र जिन घम में दोक्तित हो जाते है।

'पलम चरित्र' का सर्वागपूर्ण अध्ययन सभी नहीं हो पाया है। इसके भाव पत्त और कला पत्त का ममुचित विवेचन हिन्दी साहित्य के अध्ययन में पूर्ण महायक होगा। इस पद्धिवा दद्ध माध्य के प्रव्यदन ने भाव, भाषा, काव्यदप, क्यानक रहि, प्रभिन्नाय धादि के अव्ययन में पूरी नहायता मिलेगी।

# वास्तुस्थापत्य-मूर्ति निर्माण

मितियों की म्राकृति पूनकवर्ग की रूचि के मनुतार प्रमेक प्रकार की हैं, उनमें से जैन मूर्तियों की म्राकृति प्राय: दो प्रकार की मुख्य हैं एक तो खड्गासन वाली मर्थात् खड़ी कायोत्सर्ग वाली ध्यानस्य मूर्ति है मौर दूसरी पद्मासन लगाकर वैठी हुई ध्यानस्य मूर्ति है।

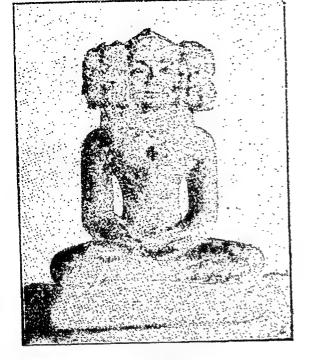
मूर्ति के निर्माण सम्बन्ध के जैनाचार्यो एवं अन्य आचार्यो द्वारा अनेक वास्तुशास्त्र ग्रंथ रचे हुए मौजूद हैं। इनमें मूर्ति निर्माण करने का सारांश इस प्रकार लिखा गया है—

जिस मनुष्य को मूर्ति बनाने की ग्रभिलापा हो वह मूर्ति वनाने वाले शिल्पी को साथ लेकर शुभ दिन और शुभ शकुन देख कर पाषाएग की खानों में जावे वहां शिल्पी शिला की परीचा करे कि-शिला पुल्लिंग है या स्त्रिलिंग या नपुंसक लिंग है, जो देव की मूर्ति वनाने की होवे तो पुल्लिंग शिला और देवी की मूर्ति बनाने की होवे तो स्त्रीलिंग शिला उपयोग में लेवे । नपुंसक शिला कोई भी देव देवी की मूर्ति के लिये लेना नहीं चाहिये किन्तु देवालय, देवपीठ ग्रादि के लिये काम में लाना चाहिये, इस प्रकार शिला की प्रथम वार परी हा होने के बाद उसके ऊपर वास्त्र शास्त्रों में कथित भीपधिमों का लेप करना चाहिये, जिसे शिला के भीतर कोई दाग आदि हो तो कार दीख जाता है, यदि दाग देखने में ग्रावे तो वह शिला मूर्ति निर्माण में काम नहीं लेना चाहिये। विना दाग की प्रशस्त शिला देखने में म्रावे तो पीछे देखना चाहिये कि शिला का माथा मुख, पद श्रौर पैर किस दिशा में रही है, उस पर चिन्ह कर लेना चाहिये, जिससे मूर्ति वनाते समय शिला के माथा के स्थान पर मूर्ति का माया और पैर के स्थान पर पैर वना सके। यदि चिन्ह मूर्ति के अंगोंपांग शास्त्र के नियमानुसार होने चाहिये। आज कल मूर्तियों
का निर्माण प्रायः मनः कल्पित होता
है। जिससे मूर्ति सदोप हो जाती है।
इस प्रकार मूर्ति निर्माण की संज्ञित
अवतरिणका इस लेख में शास्त्रानुसार
लिखी गई है।

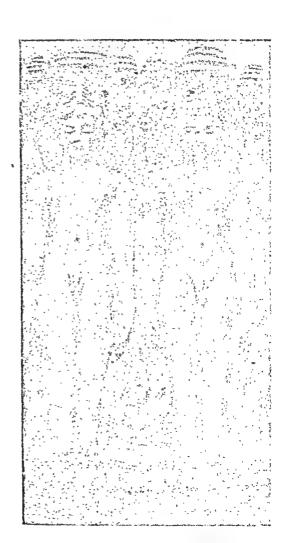
करना भूल जाय तो फिर खान से वाहर निकालने बाद उस समय शिला की यह परोद्धा नहीं हो सकती। यदि शिला के पैर के स्थान पर मूर्ति का माथा वन जाय तो वह मूर्ति फलदायक नहीं होती है।

इस प्रकार शिला परी चा करने के बाद उसकी यामंत्रित किया जाता है कि—'श्रमुक कार्य के लिये श्रमुक शुभ समय में निकाली जायगी।, पीछे सुवर्ण या चांदी के हाथी या वृपभ बना कर के उसके दांत प्रथवा प्रृंग से उस शिला का विदारण (निमित्तमात्र) किया जाता है। बाद शस्त्रों से विदारण करना चाहिये।

जब शिला निकल जाय, तब अच्छे (शुभ) समय
में मंत्रोच्चारण पूर्वक शिला को रथ में रखकर बाजे
गाजे के साथ वड़े महोत्सव पूर्वक शहर में प्रवेश करावे।
उसको शिल्पी मन के शुद्ध परिणाम पूर्वक प्रसन्न चित्त
से मूर्ति वनावे। मूर्ति वनाते समय शिल्पी का मनोभाव
जैसा होगा वैसा ही मूर्ति पर ग्रसर होता है। इसलिए
वास्तु-शास्त्रों में कहा हैं कि—'ग्रन्याय द्रव्य नित्पन्ना मूर्ति
रोरकरी भवेंत्।' ग्रर्थात् ग्रन्यायोपाजित द्रव्य से बनवाई
मूर्ति दुष्काल करने वाली है। मूर्ति वनाने का शिल्पी को
वेतन कोई निश्चित नहीं किया जाता है मगर जब मूर्ति



गंगा पुरातत्वांक में चतुर्म्ख जिनमूर्ति लिखा है परन्तु ग्राठ मुख मालुम होते हैं। (लन्दन म्युजियम में)



कामोत्सर्ग एवं दिगम्बर जिनमूर्ति (लन्दन म्युजियम में )

तैयार कर के मालिक को सींग देवे तब शिल्पि को घन-घान्य से संतोषित करना चाहिये, तब शिल्पि ग्राशीर्वाद देवे कि 'यह मूर्ति ग्रापको घर्म, ग्रर्थ, काम ग्रीर मोच्न के फल को देने वाली होवे'।

इस प्रकार मूर्ति निर्माण का वर्णन वास्तु शास्त्र में लिखा है। मगर इस शास्त्र का प्रचार न होने से उक्त विधि का परिज्ञान नहीं है। जो शिल्प जैसी भी मूर्ति वनाकर देवे वही लेली जाती है। इतना ही नहीं किन्तु मूर्ति का मूल्य भी न्यूनाधिक करना पड़ता है, यह अपमान-जनक ही है, क्योंकि जिस मूर्ति को साचात् परमात्मा देवं मान कर उपासना करते हैं और जिसके सामने नतमस्तक होते हैं उसका मूल्य आंकना कैसे ठीक हो सकता है, मंडन सूत्रधार ने अपने देवता मूर्ति प्रकरण में लिखा है कि—

'शालिग्रामशिलाया यो मूल्यमुद्घाटयेन्नरः। विक्रोता चानुमान्ता च यः परीच्चयानुमोदयेत्।। सर्वे ते नरकं यान्ति यावदाभूत सम्प्लवम् ॥६२॥ ग्रध्याय ५

अर्थात् जो शालिग्राम शिला के मूल्य का उद्घाटन करें, वेचे, वेचने की अनुमित दें और इसकी परीक्षा का अनुमोदन करें, वे सब मनुष्य नरकगामी होते हैं। यदि मूर्ति को ईश्वर तुल्य मानते हैं तो सम्मानपूर्वक वनाना चाहिये; लेकिन शाक भाजी की तरह मूल्य करना कहां तक ठीक हो सकता है जिसके लिए हजारों रुपये खर्च करके देवालय (मंदिर) बनाते हैं ग्रीर जिसकी प्रतिष्ठा में हजारों रुपये व्यय करते हैं तया मिष्ठान भोजन करते हैं ऐसे तो मूर्ति के लिए कृपणता करना किसी भी तरह उचित नहीं है।

पद्मासन (वैठी) मूर्ति समवतुरस्न संस्थान वाली श्रेष्ठ मानी गई है। मूर्ति का विस्तार याने एक जानु में दूसरे जानुतक जो माप होवे, यही माप दाहिने स्कंघ से वांयी जानु तक श्रीर दाहिनी जानु से वांये 'स्कंघ तक तथा श्रासन से केशान्त तक होनी चाहिये यही समचतुरस्र संस्थान कहलाता है। एवं मूर्ति श्रघोमुल वाली, कर्घ्वं मुल वाली श्रीर तियंक मुल वाली भी नहीं होनी चाहिये।

मूर्ति के पापाए में श्याम भ्रादि कोई रेखा या दाग नहीं होना चाहिये, होवे तो वर्ण सकरता मानी जाती है।

मूर्ति के अंगोपांग शास्त्र के नियमानुसार होने चाहिये। आज कल मूर्तियों का निर्माण प्राय: मन: किन्यत होता है। जिससे मूर्ति सदोप हो जाती है। इस प्रकार मूर्ति निर्माण की संदिप्त दो अवतरिणका शास्त्रानुसार लिखी गई है।

#### .श्री बनारसीदास चतुर्वेदी संसद सदस्य, दिल्ली

# त्र्यहिंसाके पुजारी एलबर्ट स्वाइटजर

दिला । हम दोनों स्टेशन की ग्रोर रवाना हुए। यस्ते में मैने उनकी ग्रहिसा का प्रत्यन्न उदाहरण देला। हम दोनों मिलकर उनका एक भारी वंडल ग्रीर एक छड़ी लिये हुए थे। वंडल के एक-एक सिरा दोनों जने पकड़े थे। वर्फ की वजह से सड़क बहुत फिसलनी हो रही थी। हम दोनों भपटते हुए चले जा रहे थे। एकाएक वे रक गये। भटके की वजह से मैं प्राय: गिर-सा पड़ा। उन्होंने इसके लिए मुभसे माफी मांगी, ग्रीर सड़क से एक कीड़े को उठाया। कोड़ा सर्दी ग्रीर वर्फ से ग्रवमरा हो रहा था। उन्होंने .उसे उठाकर सड़क के किनारे, एक भाड़ी के नीचे, सूखी भूमि में रख दिया, ग्रीर वोले यहां हिफाजत से रहेगा। सड़क पर पड़ा रहेगा; तो मर जायगा।"

उपर्युक्त घटना सन् १६२३ में घटी थी ग्रीर यह दीनवन्यु सी० एफ० ऐराड्रज द्वारा ग्रहिसा के पुजारी एलवर्ट स्वाइटजर के विषय में लिखी गई है। स्वाइटजर का जन्म १४ जनवरी सन् १८७५ की हुन्ना था ग्रीर इस समय वह ८७ वर्ष के युवक हैं। भिन्न-भिन्न विषयों के ज्ञाता होने के कारण जनकी गणना संसार के ग्रद्भुत महापुरुषों में की जाती है। जिस प्रकार दिच्एा ग्रफीका के जनरल स्मट्स बड़े भारी सेनाच्यच ग्रीर फीजी विज्ञान के ग्राचार्य थे, ग्रीर साथ ही साथ वड़े राजनीतिज्ञ ग्रीर दार्शनिक भी, ग्रीर जिस तरह ग्रायरलएड के जाजं रसल (ए० ई०) उत्कृष्ट किव होने के साथ-साथ वड़े ग्रच्छे चित्रकार ग्रीर समाज-सेवक भी थे, उसी प्रकार एल्डर्ट स्वाइटजर भी प्यानो वजाने में दुनियां के सर्वश्रेष्ठ कलाकार होने के साथ ही साथ ग्रतिटच्चकोटि के समाज- मेने उन्हें महात्माजी के आश्चर्य-जनक अस्त्र अहिसा की वातें बताई। स्त्राइटजर के वैझानिक भाव. जायत हो गये, और उन्होंने जैन-धर्म और अहिंसा शब्द के वास्तविक अर्थ आदि के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने यह भी पूछा कि भारत के धार्मिक जीवन में इस सिद्धान्त का प्रभाव कितना है।

सेवक ग्रीर धर्म शास्त्र के विश्वविख्यात ग्राचार्य भी हैं।

जब एत्वर्ट स्वाइटजर पांच वरस के थे तभी से उनके पिता जी ने उनको गान विना की शिक्षा देना शुरू कर दिया था। ग्राठ वरस की उन्हों में वे प्यानो वजाने लगे थे। १८६३ में उन्होंने स्कूल लीविंग परीचा पास कर ली। १८६८ में उन्होंने धर्म विज्ञान की परीचा पास की ग्रीर १८६६ में उन्होंने दर्शन शास्त्र की डिग्री ली। इस प्रकार धर्म विज्ञान ग्रीर दर्शन शास्त्र में उन्होंने ऊंची से ऊंची परीचाएं पास कर लीं।

उनकी वाल्यावस्था की कई मधुर घटनाएं प्रसिद्ध हैं। एक वार उनकी माताजी ने उनके लिए श्रोवर कोट सिलवा विया, जो उनके पिताजी के पुराने श्रोवर कोट से वनाया गयो था श्रीर उनसे कहा—'देखो एल्वर्ट, मंने तुम्हारे लिए एक श्रोवर कोट वनाया है श्रीर वह विल्कुल नया मालूम होता है।" एल्वर्ट के गाल लाल हो गए श्रीर उन्होंने कहा— "माताजी, श्राज तो ज्यादा सदीं नहीं है, मुभे ग्रोवर कोट की जरूरत नहीं ।" माताजी ने कहा- 'दिखो काफी कोहरा पड़ा हुआ है, तुम इसे पहन लो।" एल्वर्ट ने कहा-"माताजी, ग्रीर किसी वच्चे के पास तो स्रोवर कोट है ही नहीं, फिर भला ग्रकेला मैं उसे क्यों पहनूं ?" माताजी ने कहा--"ग्रच्छा, इसकी चर्चा कल फिर करेंगे।" दूसरे दिन इसी सवाल पर अपने पादरी पिता जी से उनका भगड़ा हो गया। पिताजी ने उन्हें काफी डाट बताई ग्रीर कहा-"तुम जिद क्यों करते हो ? देखो तुम्हारी माताजी कितना परिश्रम करके तुम्हारे लिए कपड़े तैयार कराती है, भीर तुम्हारा फर्ज है कि उन्हें खुश करने के लिए कम से कम पहन तो लो।" पर एल्बर्ट इस वात से राजी नहीं हुए, क्योंकि वे वह नहीं चाहते थे कि वे ऐसी चीज पहने, जो दूसरे विद्यार्थियों को मुग्रस्सर नहीं । दूसरे दिन उनके पिताजी ने उन्हें घक्का देकर घर से निकाल दिया श्रीर कहा- 'जाग्रो, वाहर जाग्रो श्रीर जब तक तुम म्रपनी यह जिद नहीं छोड़ते, बाहर रही ।" एल्वर्ट धर के वाहर वैठे हुए अपने घुटनों पर हाथ रख कर रोते रहे। यह घटना उनके समस्त जीवन पर प्रकाश डालती है।

### म्रहिंसा के समर्थक

एल्बर्ट स्वाइटजर श्रिंहसा के समर्थक के नाम से मशहूर हैं। सत्याग्रह सिद्धान्त की खूती उन्हें कैसे ज्ञात हुई, वह भी सुन लीजिए। एक दिन उन्होंने देखा कि सड़क पर एक अपमानित यहूदी जा रहा था। गांव के लड़के उसके पीछे पीछे उस पर आवाजों कसते हुए और तंग करते हुए आ रहे थे, मगर वह उनके तानों के उत्तर में मन्द-मन्द मुसकरा रहा था। उसके चेहरे पर एक विचित्र प्रकार की उदारता और शराफत के भाव थे।

स्वाइटजर ने प्रपने संस्मरणों में लिखा है—' उसकी इस मुस्कराहट ने मुफे वश में कर लिया। मैने उसी यहूदी से पहले-पहल यह वात सीखी कि दूसरों के उत्पी— इन की किस तरह शान्तिपूर्वक वर्दाश्त किया जाता है। यह महूदी ही मेरा सबसे घड़ा गुरु हैं।"

उनकी ग्रहिसा का एक उदाहरण ग्रौर भी सुनं लीजिए। एक बार वसन्त ऋषु में वे ग्रपने एक सायी विद्यार्थी हेनरी के साय वन—यात्रा के लिए गए हुए थे। वहां एक पेड़ पर वहुत सी चिड़ियां उन्होंने देखीं। हेनरी ने कहा—''देखो कैसी सुन्दर चिड़ियां इस वृत्त पर हैं, जिनकी चोटी लाल है, पर पीले। देखो एक चिड़िया को तो मैं ग्रभी ग्रभी गिरा सकता हूं।''

ज्यों ही हैनरी ने अपने गुलेल के लिए एक पत्यर उठाया और एल्वर्ट से कहा कि तुम भी एक पत्यर उठाओं। उसी समय गिरजा—घर के घएटे वजने लगे। एल्वर्ट के दिमाग में विजली की तरह एक विचार कींघ गया। वाइविल में लिखा है। "तुम किसी की हत्या मत करो।" वस तुरन्त ही बड़े जोर से चिल्लाए और हाथ से तालियां भी वजाई। इस शोर—गुल को सुनते ही तमाम चिड़ियां पेड पर से उड़ गई और उनका साथी हेनरी भीचका— सा रह गया। हेनरी ने उसे बहुत फटकारा पर एल्वर्ट ने उसका कोई भी जवाब नहीं दिया। उस दिन से एल्वर्ट ने यह सबक सीख लिया कि चाहे कोई कुछ भी कहता रहे, मैं उसकी परवाह न करके अपनी बात पर हड़ रहूंगा उस दिन के बाद वे किसी भी मछली पकड़ने या शिकार करने की पार्टी में शामिल नहीं हुए और न विसी ऐने खेल में, जिसमें किसी जीव की हिंसा हो।

घमं विज्ञान श्रीर दर्शन शास्त्र में ऊंची से ऊंची डिग्री पाने पर भी उन्होंने यह निरुचय किया कि में डाक्टर बनकर श्रिफका के नीग्री लोगों के बीच में काम करूंगा, श्रीर उन्होंने एक मेडिकल काक्षेज में शिक्षा प्राप्त करने का निरुचय कर लिया। उनके साथी—संगियों ने बहुत कुछ मना विया श्रीर जब मेटियल कानेज में दाखिल होने के लिए गए तो वहां के श्राचार्य ने उनकी इस बात पर यकीन ही नहीं किया कि उनके विरुच—विद्यालय का एक महान शिक्षक मामूली दिद्यापियों के साथ टाक्टरी के प्रथम वर्ष में दाखिल होने था रहा है। उन्होंने समम्हा कि स्वाइटजर विक्षित हो गए हैं श्रीर उन्होंने रवाट्टजर साहब ने कहा—मानूम होता है कि प्राप बहुत काम करते रहे हैं. प्राप छुट्टी पर्यों नहीं से नेने ?

ग्रॅगर ग्राप चाहें तो इस बारे में मनोवैज्ञानिक डाक्टर से कुछ वातचीत कर लें।'' यह सुनकर स्वाइटजर साहव बड़े जोर के साथ हंसे ग्रीर बोले—नहीं, नहीं, मैं कोई पागल थोड़ा ही हो गया हूं। मै सचमुच डाक्टरी पढ़ना चाहता हूं। ग्रीर तीस बरस की उम्र में वे डाक्टरी के प्रथम वर्ष में वाखिल हो गए। श्रीर छः बरस तक वह घोर परिश्रम करते रहे ग्रीर इस प्रकार उन्होंने डाक्टरी की परीचा उत्तीर्ण कर ली। उसके बाद वे साल भर तक ग्रस्पतालों में व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करते रहे। सन् १६१३ में वे ग्रफीका के लिए रवाना हो गये ग्रीर तब से लेकर ग्रव तक ४६ वर्ष तक वहीं निरन्तर काम करते रहे हैं। दीनवन्यु ऐएडूज़ ने उनके बारे में लिखा है।

''इस प्रकार तीस वर्ष तक की अवस्था में इस व्यक्ति के पैरों पर सारा संसार दिखाई देत' था, परन्तु उसी समय स्वाइटजर ने एकाएक यह निर्णंय किया कि वे समस्त ख्याति और ऐश्वयं की त्याग कर, अफ़ीका की जंगली जातियों में रह कर, उनका इलाज करके उनकी सेवा करेंगे, श्रीर ग्रपना सारा जीवन उनकी सहायता करने ग्रोर उन्हें ग्राराम पहुंचाने में लगायेंगे । गत सत्ता-ईस वर्षों से वे अकथनीय कठिनाइयों का सामना करते हुए कांगी नदी के तट पर रहते है, और जंगली जातियों की सेवा में निरत हैं। उनकी वीर श्रौर विद्यी पत्नी उनके इस कार्य में उनकी सहायता करती हैं। उन्होने सब प्रकार की विपत्तियां भेली हैं, श्रीर श्रनेक बार उनका स्वास्थ्य भंग हुम्रा है। उन्हें म्रायिक कठिनाइयों का भी कुछ कम सामना नहीं करना पड़ा, क्योंकि सन्होंने यह ठान रखी है कि सरकार या किसी सोसायटी से पैसा नहीं लेगे, बल्कि स्वयं भ्रपने परिश्रम पर निर्भर ५हेंगे। उन्होंने प्रफिका की दो-तीन ग्रादिम जातियों के सम्बन्ध में कित।वें लिखी हैं, जिसमें उन्होंने श्रफिका के जंगलों में ग्रपने जीवन की कथा सुनाई है। ये पुस्तकें मानव-प्रकृति ग्रीर विज्ञान के गम्भीर रहस्यों से परिपूर्ण हैं। इन पुस्तकों की विक्री से, तथा जब कभी - बहुत दिनों बाद-वे यूरोप झाते हैं, तब वहां संगीत का कन्सटं बजाकर जो पैसा कमाते है, उससे अपना, अपने परिवार का तथा ग्रस्पताल का खर्च चलाते है।"

प्रथम महायुद्ध के दिनों में वन्दी बना लिए गएं थे। सर्व जीव दया का सिद्धान्त

१६१५ की बसन्त ऋतु में वे एक छोटे-से स्टीमर द्वारा नदी की यात्रा कर रहे थे। ग्रास-पास वन का दश्य था ग्रीर उन्होंने देखा कि प्रकृति में चारों ग्रीर संघर्ष चल रहा है । पेड-पौघे तथा जंगल के जीवन ग्रंपने जीवन को कायम रखने के लिए परस्पर संघर्ष कर रहे है। उसी समय एक विचार आया "वया हम लोग एक दूसरे का विनाश करके जीवित रह सकते है ?" उस समय उनके हृदय में वड़ी दुविधा उत्पन्न हो गई। वे इस प्रश्न को हल नहीं कर पा रहे थे। दो दिन तक उनका स्टीमर चलता रहा ग्रीर उनका दिमाग भी चक्कर काटता रहा। तीसरे दिन शाम को जविक सुर्यास्त मा बड़ा सुन्दर दृश्य उनके सामने उपस्थित था, एक साथ उनके मस्तिष्क में एक उज्ज्वल विचार उत्पन्न हुग्रा-सर्व जीव दया ( Reverence of life) मानों उन्हें जीवन दर्शन की कुंजी ही मिल गई। तब से वे समस्त संसार में अपने सिद्धान्त के लिये प्रसिद्ध हो चुके है। उन्होंने इस सिद्धान्त का गम्भीर मनन किया है और निश्चित परिणामों पर भी पहुंचे हैं। उनके सिद्धान्त का मार यह है "प्रत्येक प्राणी का जीवन पवित्र है भीर उसकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है।" पर क्या हम हिंसा से पूर्णतया बच सकते है ? एल्वर्ट स्वाइटजर का मत है'' कभी कभी हिसा हमें करनी ही पड़ती है। ग्रपने मरीजों को बचाने के लिए हमें कीटासुग्रों को नष्ट करना पड़ता है। लेकिन बिना किसी कारण के हमें यह अनाचार हरगिज नहीं करना चाहिए । दुनियां में कोई चीज इतनी छोटी नहीं है, कि जो हमारी प्रेम की पात्र न वन सके । सच्चा ग्रहिसावादी किसी पेड़ की पत्तियों को भी नहीं काटेगा। मार्ग में चलते हुए वह कीड़ों-मकोड़ों को अपने पैर के नीचे आने से बचावेगा, यहां तक कि वह रात को खिड़ कियां बन्द करके लैम्प की रोशनी में काम करना पसन्द करेगा, बजाय इसके कि खिड़की खोलकर परवानों को लैम्प पर झाकर जलने दे।" एक बार एक पालसू हिरन ने उनके वर्षों के परिश्रम से लिखित एक ग्रन्थ को ही चवा डाला, पर

स्वाइटजर साहब उस पर विल्कुल नाराज नहीं हुए। सिर्फ इतना ही कहा—''ग्ररे भले मानस, तू नहीं जानता कि तूने गह क्या कर डाला है।''

दीनवन्धु ऐएड्रूज ने अपने एक लेख में लिखा है—
"जब मुफ से स्वाइटजर से भेंट हुई, तो उन्होंने फीरन ही
मेरे समस्त हुदय पर अधिकार कर लिया। मैंने कभी
उनके समान बच्चों की—सी स्वाभाविक सरलता का
आदमी नहीं देखा। सबसे बड़ी मुश्किल यह थी कि वे
अ गरेजी नहीं जानते हैं, और मेरा जर्मन अथवा फेंच
का ज्ञान बहुत अल्प है। खैर, किसी तरह हम लोगों ने
इस मुश्किल को हल किया। हम लोगों की बातचीत शुरू
से आखिर तक गांधीजी के सम्बन्ध में ही थी।

भारत की परिस्थित ने उन पर गहरा प्रभाव डाला था। उन्होंने मुक्त से कहा—''ग्रापका ग्रीर मेरा देश बहुत कुछ—एक-सा है। हम दोनों के देशों की पराजय उठानी पड़ी हैं, ग्रीर दोनों ही के देश ग्राजकल पीड़ित हैं।''

मैने उन्हें महात्माजी के ग्राश्चयंजनक ग्रस्त्र ग्रहिंसा की वातें वताई। स्वाइटजर के वैज्ञानिक भाव जाग्रत हो गये, ग्रीर उन्होंने जैन-धमं ग्रीर ग्रहिंसा शब्द के वास्त-विक ग्रथं ग्रादि के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने यह भी पूछा कि भारत के धार्मिक जीवन में इस सिद्धान्त का प्रभाव कितना है।

मगर थोड़ी ही देर वाद हम लोग घूम-फिर कर पुन: महात्माजी के विषय पर पहुंच गये। सवाल पूछते- पूछते उनकी तिवयत ही नहीं भरती थी। वे वरावर प्रश्न-पर-प्रश्न करते जाते थे। हमारे दुभाषिया महाशय को मेरो वात उन्हें समभाने में विशेष कठिनाई होती

थी। स्वाइटजर को इस वात की वड़ी ख़ुशी थी कि मैं महात्मा के साथ रह चुका हूं, ग्रीर उनके निजी मित्र की हैसियत से उनकी वातें वता सकता हूं। वार-वार वे यही कहते थे-"ग्राप वड़े भाग्यवान है।"

हम लोग वडी रात तक वैठे हुए श्रहिंसा की वातें करते रहें। उन्होंने मुक्तमें कहा कि उनके लीवन का भी सबसे गम्भीरतम सिद्धान्त यही रहा है, श्रीर महात्मा ने भारत के राष्ट्रीय संग्राम का इसे मूल सिद्धान्त बनाकर बहुत ही श्रच्छा किया।

कुछ दिन हुए स्वाइटजर साहव को शान्ति पुरस्कार मिला था।

जैसा कि हम कह चुके हैं, वे ४६ वरस से प्रकरीकन लोगों की सेवा कर रहे है। सहस्रों ही ग्रापरेशन उन्होंने इस बीच में किये है ग्रीर शायद कई लाख रोगियों का इलाज किया है, ग्रीर सबसे बड़ी खूबी की बात यह है कि यह कर्तंच्य उन्होंने किसी परोपकार की भावना से नहीं किया, बिलक वे समभते हैं कि गोरे लोगों ने काले ग्रादिमयों पर जो महान् ग्रत्याचार किये है, उनके प्राय-श्चित स्वरूप ही मैं उनकी कुछ सेवा कर रहा हूं।

कुछ वर्ष पहले मैंने पढ़ा था कि संसार में प्रभु ईस!
ससीह के तीन अनुयायी सबसे महान माने जा सकते हैं—
एत्वर्ट स्वाइटजर, दीनवन्यु ऐएडू ज और कागावा । इनमें
से दीनवन्यु ऐएडू ज के साथ वर्षों तक काम करने का
मौका मुक्ते मिला था और जापान के कागावा के दर्शन भी
मैंने किये थे । मेरे मन में अभी एक लालसा वाकी है
यानी कभी ग्रहिसा के पुजारी एल्वर्ट स्वाइटजर के घरणस्पर्श करने की ।

#### डा० सत्यदेव चौधरी

प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,

# जैन-का॰य में कल्पना-सौन्दर्य

न काव्य' शब्द से तःत्पर्य है, जैन-कवियों द्वारा ग्रर्ध-मागधी तथा अन्य प्राकृतों में प्रग्रीत महाकाव्य ग्रीर मुक्तक रचनाएं। इन कवियों में कालक्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम स्वयम्भू का नाम उल्लेखनीय है श्रीर इनके उपरान्त प्रख्यात कवियों में पूष्यदन्त, धनपाल घक्कड़, नयनन्दी, कनकामर, यशःकीर्ति, हेमचन्द्र, सोम-प्रभ सुरि ग्रादि का । इनके प्रवन्ध-काव्यों में कथा-विकास. प्रवन्य काव्यत्व, जैन सिद्धान्तों की ग्रनुस्यृति ग्रादि का निर्वहरा किस प्रकार हुया है, ग्रथवा उनके मुक्तकों में धार्मिक एवं लौकिक चर्चाग्रों को किस रूप में स्थान मिला है, प्रस्तुत निवन्त्र में इन सब का उस्लेख न कर केवल कल्पना सौन्दर्य पर ही प्रकाश डाला जाएगा, जिसके स्रभाव में कोई रचना केवल पद्यात्मक वन कर रह जाती है ग्रीर जिसके सद्भाव पर ही कवि-कमं प्रमुखतः ग्राधा-रित है। इसका ही घपर नाम भामह-सम्मत 'वक्रोक्ति' है जिसे वह लोकवार्ता से विभिन्न मानता है, ग्रीर जिसे दग्डी स्वभावोक्ति से पृथक मानता है। यही कल्पना ही घ्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य तया रस का आवारभूत तंत्व है ।

(१)

#### कल्पना सौन्दर्य

जैन-काव्यों में कल्पना-सौन्दयं श्रिषकांशत: संस्कृत के गद्यात्मक एवं पद्यात्मक काव्यों में प्रचलित अलंकारों द्वारा प्रस्तुत हुआ है। इनमें से कुछ ऐसे हैं जो मूलत: व:ह्य चमत्कार पर आश्रित है, जैसे-अपन्हुति, परिसंख्या, विरोवाभास, सहोक्ति आदि। कितपय उदाहरण लीजिये-अयोध्या के अन्तः पुर की नारियों के अंगों का वर्णन करते हुए स्वयम्भू कहते हैं—'क्या यह उनका मुख है,! नहीं, नहीं, यह तो चन्द्र विम्ब है, क्या ये उनके अधर हैं? जैन-कियों ने मृलतः धर्मप्रधान काव्यों की रचना करते हुए भी उन्हें कोरा धर्मोपदेशक प्रन्थ नहीं बना दिया। काव्यधर्म के प्रमुख तत्व कल्पना की सुरक्ता करते हुए इन्हें वाग्वैदग्ध्य के वल पर चमत्कृत किया है-यह अलग प्रश्न है कि ऐसे स्थलों से ये अनुस्यूत नहीं है। वस्तुतः यह समुचित भी हुमा है अन्यथा मूल विपय के प्रति अन्याय होने काभय रहता।

नहीं, नहीं, यह तो पनव विम्वफल हैं। कि ग्राणगु, गां गां चंदविम्व। कि ग्रहरउ गां गां पनक-विंघु।।

पजमचंरिज ६६।२१

'भविसयत-कहा' की एक नारी पात्रा का रूप चित्रण करते हुए धनपाल धनकड़ आए।भट्ट की शैली में विरोधाभास के ग्राधार पर उस सद्गुण सम्पन्ना को भी सदोपा वताते चले जा रहे हैं—

न्नसिरिव सिरिवत्त सजल वरंग वरंगणिव । मुद्धवि सिवयार रंजणसीह निरंजणिव ॥ भ० क० ११-६-१२

'ग्रसिरि' ( ग्रश्नी ग्रर्थात् निर्धन होते हुए भी वह सिरिवत्त ग्रर्थात् श्रीमती थी । 'वारांगना' (वैश्या, पत्ते— श्रोष्ठ स्त्री) होते हुए भी वह सजल वरांग थी ग्रर्थात् उसके सुन्दर ग्रंग स्वेद—समुज्ज्वल थे । वह मुग्धा (मूर्खा) होते हुए भी सुविचारतशीला मुग्धा नायिका थी । निरंजन होते हुए भी रंजन शोभा—युक्ता थी ग्रर्थात् उसने ग्रांखों में ग्रंजन नहीं लगाया हुन्ना था, तो भी वह मनमोहक सौन्दर्य शालिनी थी। इसी प्रकार परिसंख्या ग्रलंकार के निर्वाह में भी किन को शैलीगत निशेषता की ही शरण में जाना पड़ता है—करकंड का हाथ ध्या ( घन ) देने के लिये फैलता है, न कि प्राणिनघार्य घनुप द्वारा नागा चलाने के लिये—

घर्णु देवएं पस्रइ जासु करु गाउ गाणि है व्वइं घरइ सरु। करकंड चरिउ १।४।४

इसी प्रसंग में वागाभट्ट की ही एक अन्य शैली का अवलोकन की जिये। पुष्पदन्त किसी वियोगिनी की हृदय—दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'उस वियोगिनी को मलयानिल प्रलयानल के समान लगता था, भूषण सन के बन्धन के समान प्रतीत होते थे, × × वसन को वह ज्यसन समकती थी और चन्दन उसके लिये विरक्तांनि के ई धन के समान था।

इसी प्रकार सहोक्ति अलंकार के जमत्कार में भी किव को कल्पना की अपे ज़ा शब्द चयन की आवश्यकता अधिक रहती है। युद्धभूमि का यह दृश्य देखिये—इघर रए। भूमि में सूरों (शूरवीरों) का अस्त हुआ और उघर सूर्य का। इघर गजों का काला मद फैला और उघर अन्धकार। इघर गजों के गएडस्थलों से मोती विकीर्ण हुए और उघर नचन्न उदित हुए। इघर निजयी राजा का घनल यश बढ़ा और उघर शुभ्रचन्द्र।

इन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि इन ग्रलंकारों का सौन्दर्य ग्रधिकांशत: शब्दचयन पर निर्भर है ग्रीर कल्पना-तत्व इसी सघन शब्दजाल के नीचे दव कर रह जाता है, किन्तु जितना भी वह इस जाल से बाहर फूटता सा ग्रमिव्यक्त होता है, वह एक ग्रोर कवि की कल्पना-शक्ति का परिचायक होता है और दूसरी और इस प्रकार की शैलियों द्वारा चमत्कृत होने वाले पाठकों की सुवि— ज्ञता का।

(२)

इन अलंकारों के उपरान्त दूसरी कोटि में वे अलंकार आने चाहिएं जिनमें उक्त अलंकारों की तुलना में शब्द चयन की अपेद्मा इतनी नहीं रहती, जितनी किन-कल्पना की। यद्योप ऐसे प्रयोगों में भी किन को खींचतान करनी पड़ती है किन्तु वह स्थून कम होती है और धान्तरिक अधिक। आन्तिमान और रूपक अलंकारों के निम्न निद-शंनों से इस कथन की पुष्टि हो जाएगी। चन्द्रमा छिटका हुआ है किन्तु सघन वृद्यों के तले घना अन्धकार हैं। वृद्यों के छिद्रों में से फिर भी चन्द्रकिरएों फूटी पड़ रही हैं और उस भू-भाग को शवत बना रही है। पुष्पदन्त 'आन्तिमान' अलंकार का आधार केते हुए कल्पना करते है कि इसी श्वेतता को एक और विल्लो दूब समभक्तर पीना चाहती है और दूसरी और मयूर इसे श्वेत सर्प समभ कर कई बार भड़प कर पकड़ना चाहता है।

इसी प्रकार रूपक ग्रलंकार के ग्राघार पर स्वयम्भू नर्मदा नदी की वस्त्राभूपणसज्जिता नारी के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि इसका सनाद जल-प्रवाह नूपुर-भंकार के सहश है, इसका स्वलित ग्रीर उच्छितित जल रशनादाम की म्रान्ति उत्पन्न करता है, इसके ग्रावतं शरीर की त्रिविल के समान हैं ग्रीर इसका ग्रान्दोलित केनपुंज लहराते हुए हार के समान प्रतीत होता है।

सांग हवक को तो प्राय: यही स्थिति होती ही है कि इसमें किव को अविक खींचतान करनी पड़ती हैं, कभी-कभी उपमा अलंकार के निर्वहण में भी, जिसमें इस खींचतान का अवकाश कम रहता है, स्थिति उत्पन्न

१. तिसिंह महापुरिसगुणालंकार २२।

२. बही-- २८१३४।१-४

३, रंघायारु थियउ अंधारइ दुद्धसंक प्रयाह मज्जारई।
मौरें पंउरु सन्पु वियाप्पिवि मुद्धें कह व रा गहिउ कडिप्पिवि। वही १६।२४।६।१२
तुलनार्थ-काव्यप्रकाश ( मम्मट ) १०।५५२

४. पडम चरिड १४/३

हो जाती है और वह रचना सामान्यत: ग्रधिक हृदयहारी नहीं वन पाती---

एयस्स वयग्-पंकय पलोयगां मोतु मह इमा दिट्ठी । पंक-निवुड्डा दुव्वल गाइव्य न सक्कए गंतुं ।। सरसुन्दरीचरिय ( धनेश्वर )

ग्रथित् जिस प्रकार की चंड़ में फंसी हुई कोई दुर्वल गाय ग्रपने स्थान से हटने के लिए ग्रसमर्थ होती है, उसी प्रकार इसके मुख कमल पर गड़ी हुई मेरी हिट्ट वापिस नहीं लौटती।

कुछ ग्रलंकार ऐसे भी होते हैं जिनका काव्य-सौन्दर्य किन की कल्पना की ही ग्रपेद्धा रखता है, उसे विशिष्ट शब्दावली पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। किन की कल्पना जितनी उवंरा होगी, उनका सौन्दर्य उतना ग्रधिक होगा। उपमा, उत्त्रे द्धा, ग्रतिशयोक्ति ग्रादि ग्रलंकार इनमें से हैं। गंगा का वर्णन करते हुए किन कनकामर कल्पना करता है-कि शुश्र-सिलला तथा कुटिल—गामिनी गंगा दूर से ऐसी दिखाई देती है मानों शेप नाग की स्त्री चली जा रही हो। × × ×

. × × दोनों कूलों पर लोग स्नान करते समय श्रादित्य को श्रघ्यं दे रहे हैं, मानों स्वयं गंगा नदी दोनों हाथ ऊपर उठाए करकंड से प्राथंना कर रही है कि मुक्त पर क्रोध न करना।

पुष्पदन्त सीता के सौन्दर्य के सम्बन्ध में कहता है कि उसकी शुभ्र दन्त पंक्ति की दीप्ति से मोती परास्त हो गये ग्रीर तिरस्कृत हो गये, बन्यशा वे क्यों वींचे जाते। उसकी मुखचन्द्र चिन्द्रका से दिशाएं धवलित हो गई ग्रन्थशा शिश क्यों चींग्र होता है—

दिय दित्तिह जित्तई घत्तियाइ,
इयरह कह विद्धई मोत्तियाई।
भुह सिस जोएहइ दिस घवल थाइ,
इयरह कह सिस फिज्जंतु जाइ।।
ति० महापुरिसगुगालंकार ७०, ११
किन्तु जब इस प्रकार की कल्पनाओं में भी सीमा

की अतिशयता हो जाती है तो रंग इतने गहरे हो जाते हैं कि इनसे ज्याममोह-सा होने लगता है।

रेवा नदी में सहस्राजुंन की रानियां द्वारा जल-क्रीड़ा करते समय उन्होंने कहीं तो अपने चन्द्र एवं कुन्द सम घवल हारों को जल से घवलित कर दिया और कहीं अपने समुज्ज्वल कुएडलों से उसे समुज्ज्वल बना दिया, कहीं सरस ताम्बूल से उसे रिक्तम कर दिया तो कहीं धुले हुए कज्जल से उसे काला कर दिया और कहीं अपने कुंकुम से उसे पिज्जरित कर दिया ?

कभी इस प्रकार की कल्पनाएं उपहासास्पद भी बन जाती हैं—नागकुमार जब कश्मीर पहुंचे तो पुरनारियों की दर्शनांत्कएठा इतनी ग्रधिक बड़ी थी कि एक नारी न केवल घर में ग्राये ग्रपने जामाता के पैरों पर जा पड़ी, ग्रिपतु उसके पैर जल के स्थान पर घी से घोने लगी। × × × इक नारी (दही के स्थान पर) पानी को ही मथने, × × ग्रीर दूसरी सूत्र के बिना ही माला गूंथने लगी। × × × एक ग्रन्य की घवराहट तो यहां तक बढ़ी कि ग्रपने बच्चे की चिन्ता में वह बिल्ली के बच्चे को ही साथ लेकर चल पड़ी—

पाएं पडइ मूढ़ जामायहो घोयइ पाय घएं घरू आयहो। अइ अएए। मर्गा डिभ्र चितेष्पिग्,

गय मञ्जायर पिल्लंड लेपिराष्ट्र ।।
धूबइ खीरू कावि चलु मंथइ कावि
ग्रमुत्तंड मालंड गुंथई ।।
—ग्रायकुमारचरिड[१६ ।

इस उपहास्यता का एक मात्र कारण है—ग्रस्वाभा-विकता। वस्तुत: कल्पना का उदय ग्रनायास होता है, स्वाभाविक रूप से होता है, ऐसी कल्पना स्वीकार्य, मनस्तोपक एवं मनोहारी होती है। कल्पना न सूभने पर जब इसके लिए ग्रायास किया जाता है, दूसरे शब्दों में, उसे कृत्रिम उपाय से ग्रहण किया जाता है तो निस्सदेह वह मनोहारी तो नहीं हो पाती, प्राय: ग्रस्वीकार्य तथा उपहासास्पद भी वन जाती है। ग्रीर ठीक इसी प्रकार

१. करकंड चरिउ ३।१२।५-१०

२, पडमचरिउ १ ।६

जब उपमानों की भड़ी स्वाभाविक कल्पना पर ग्राघारित न रह कर व्यवहारिक एवं नैतिक उपदेश देने लगती है तो एक ग्रीर न तो वह उपमेय का सौन्दर्य-बोध करा सकने में सद्धम होती है, न सहृदय के मन को ग्राकृष्ट कर सकती है ग्रीर न किव-कल्पना के प्रति पाठक के मन में समादर जगा पाती है। मेधजाल ग्राकाश में सहसा फैल गया, इसी को स्वयम्भू ने उपमानों द्वारा सुन्दर रूप देना चाहा, किन्तु वह प्रकारान्तर से उपदेश देने में तो सफल हो गया पर उपमेय के प्रति न्याय न कर सका— जैसे सुकिव का काव्य, ग्रज्ञानी का ग्रन्थकार, पापिष्ठ का पाप, धनहीन की चिन्ता, वन में दावाश्नि सहसा फैल जाती है, उसी प्रकार मेधजाल ग्राकाश में सहसफैल

(8)

म्राइए, म्रव कुछ स्वाभाविक एवं मनोरम कल्पनाम्रों की मृद्र-कोमल चटक निहारें।

वन गमन की वेला में सीता ने राम-लक्ष्मण का का साथ दिया। उस समय वह अपने मन्दिर (भवन-कच्च) से ऐसे निकली मानों हिमालय से गंगा निकल पड़ी हो, छन्दस् से गायत्री निकली हो और शब्द से विभक्ति—

णिय मन्दिर हो विणिग्गय जाणइ।

ण हिमवन्तहो गंग महाणइ।!

ण छन्दहो णिग्गय गायती।

ण सद्दहो णीसरिय विहत्ती।।

पउमवरिउ २,२३,६

सीता श्रिम्न-परीत्ता के उपरान्त अध्योध्या लीटी, उनका भव्यं स्वागत हुआ, और इतने लम्बे व्यवधान के उपरान्त हलधर (राम) ने सीता की और निहारा, उनका यह प्रथम दर्शन मानो ऐसे था जैसे सागर शुक्ल पत्त की प्रथम चन्द्रलेखा को देखे—

परमेसरी पढम-समागमे ऋति शिहालिय हलहरेशा।
सिय-पक्लहो दिवसे पहित्लए चद-लेह गां सायरेशा।
--पडमचरिउ

भविष्य दत्त घनधान्य-परिपूर्ण किन्तु जनशून्य तिलक होप में अकेला घूम रहा है, वह सकल ऐश्वयं-सामग्री को देखता चला जाता है। आगे वह देखता है कि गवाच ग्राधा खुला पड़ा है। किव कल्पना करता है मानो वे किसी नव वधू की ग्रध खुली आखें हैं। ग्रागे फलक पर उसे गुह्य ग्रन्तदेश दिखायी देता है, मानों वे विनताग्रों के खुले उह प्रदेश हों—

पिनखइ मंदिराइं फल-प्रद्धुग्धाटिय-जाल-गवनखइं।

प्रद्ध-पलोइराइ एां राव-वहु-पायएा-कडनखइं।।

प्रह फलहंतरेएा दरिसियं गुज्कंतर— देसइं।

प्रद्ध पयधिमाइं विलयाएा व उरु—पएसइं

— भिव्सयत कहा नायिका से सखी ने नायक की लम्पटता की चर्चा करनी चाही तो वह बोल उठी-सखी ! जो कुछ तुभे मेरे प्रिय की सदीपता के सम्बन्ध में कहना हो वह निरसंकोच कहो, किन्तु घीरे से कहो । इतना घीरे कि मेरा मन भी न जान पाए । क्योंकि वह तो उसी का पचपाती है— भए। सहि, निहुष्रकं तैवं मदं, जद पिउ दिट्ठ सदोसु । जवं न जाएइ मज्भु मस्यु पक्खावडिग्रं तासु ।।

--- प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र)

मिलनोत्सुका नायिका मन ही मन नये संकत्य पड़ रही है। अब की बार जब मिलन होगा तो एक अभूतपूर्व कीड़ा करूंगी-जैसे मिट्टी के नमं वर्तन में पानी उसके कर्ण-कर्ण में समा जाता है, वैसे में भी उसके सर्वाद्ध में प्रवेश कर जाऊंगी—

जइ केवइं पाचीसुं पिउ म्राकिया कुटु करिमुं।
पाणिउ नवइ सरावि जिवं सन्वंगें पहसीसु।
— प्राकृत व्याकरण (हेमनन्द्र)

नायक ग्रनेक लालसाएँ लेकर (चांटनीरात में)
नव वधु के मुखदर्शन के लिए गया; उसने घूंघट हटाया
ही था) कि गीरी के मुख-मरहल की टोप्ति में निजित
चन्द्रमा बदली के पीछे जा छिता, शीर इस देनारे का
मनीरय घरा-का-घरा रह गया-इस ग्रन्थकार में यह,
दर्शन करता भी तो कैसे:

नव-वहु-दंसण्-लांलसंउ वहइ मणोरह सोइ। ग्री गोरी-मुह-निज्ज्ञग्रेड वद्दलि लुक्कु मियुं कु॥ प्रा० व्य० (हेम० ) ८,४,४०१

इस प्रकार जैन-कवियों ने मूलत: धर्मप्रधान काव्यों की रचना करते हुए भी उन्हें कोरा धर्मोपदेशक ग्रन्थ नहीं बना दिया।

काल्यवमं के प्रमुख तत्व कल्यना की सुरचा करते हुए इन्हें वाग्वैदाव्य के वल पर चमत्कृत किया है—यह अलग प्रश्न है कि ऐसे स्थलों से ये अनुस्यूत नहीं है। वस्तुत: यह समुचित भी हुआ है, अन्यया मूल विषय के प्रति अन्याय होने का भय रहता। वाराभट्ट आधुनिक आलोचक की हब्टि में इसी दोप का ही भागी है। जैन कान्य में यलंकार बहुलता की स्थान न देने प्रथवा न पिल पाने के अनेक कारए। हो सकते हैं। उनमें से एक यह कि जैन-कवियों ने धार्मिक सिद्धान्तों के सरल— प्रतिपादनार्थ लीकिक गाथाओं का वर्णन करने के लिए, अथवा यों कहिए; लीकिक गाथाओं को धार्मिक रंग में रंग कर प्रस्तुत करने के लिये लेखनी उठायी, तो उनका कवि हृदय यत्र-तत्र मचल उठा और अनेक स्थल कल्पना-स्पर्श पाकर—मुकुलित हो गये। कारए। जो भी हो, ये कल्पना-रंजित हृदयग्राही हैं। इनमें संस्कृत-कान्यों की परम्परागत शैली का चमत्कार भी मिलता है और स्वच्छ कवि हृदय से निसृत ममस्पर्शी उक्तियां भी।

#### राग मांद

ग्रातम ग्रनुभव ग्रावे तव ग्रीर कछु ना सुहावै।।टेका। रस नीरस हो जात ततक्षण ग्रक्ष विषय नहीं भावे ॥१॥ गोष्ठी कथा कुनुहल विघटै प्रीति पुदूल नशावे ॥ राग द्वेष जुग चपल पक्षयुत पक्षी जावै ॥२॥ मन म्र उमगै जानानन्द सुधारस ग्रन्तर न समावै॥ घट 'भागचन्द' ऐसे अनुभव को जोरि शिर् हाथ नावै ॥३॥

#### मुनिश्री नगराजजी

# श्रह्त अरिष्टनेमि और

# पार्वनाथ :

एक ऐतिहासिक अवलोकन

ग्रागिक मान्यता के ग्रनुसार प्रत्येक काल-चक्रार्घ में २४ तीर्थं कर होते हैं। इस चक्रार्घ में ग्रादि तीर्यंकर ऋषभ श्रीर श्रन्तिम तीर्थंकर महावीर थे। त्रिपिटकों के अनुसार बुद्ध परम्परा शाश्वेत है। बोधि सत्व अनेकानेक वार यहां जन्म ले चुके हैं। महायानी धारणा के अनुसार आगे भी वे वृद्ध रूप में अवतरित होते रहेंगे। इतिहास इस विषय में ग्रव तक मूक रहा है। बौद धर्म के विषय में तो ब्राज भी उसे बुद्ध से पूर्व वर्तमान होने की स-भवता नहीं लगती । एक भी म्रासार इस सम्भवता को उभारने वाला अव तक नहीं मिला है । जैन घर्म के पद-चिन्ह अतीत की घूमिल छाया में भी सर्वत्र चमकते दिखलाई पड़ रहे हैं। डा॰ राघा-कृष्णान् कहते हैं — ''जैन परम्परा के अनुसार जैन-घर्म का प्रारम्भ ऋषभदेव से होता है, जो सदियों पहले ही चुके थे। ऐसे प्रमाण मिलते हैं जो बताते हैं कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक ऋषभदेव की उपासना करनेवाले लोग थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन-धर्म वर्धमान श्रीर पार्श्वनाय के पहले भी विद्यमान या।" 9

वेद और अन्य वैदिक साहित्य में ऋषभ, अजित

\* काका कालेलकर का श्रभिमत हैं पार्श्वनःथ का चातुर्याम धर्म महाबीर के पंच महाव्रतों में परिएत हुआ है। यही धर्म बुद्ध के अघ्टांगिक मार्ग में और पातंजल योग के यमनियमों में प्रकट हुआ है। गांधीजी के आश्रम धर्म में भी प्रधानतया च तुर्याम धर्म हिटगोचर होता है। इस विपय पर विद्वान मुनिजी ने उल्लेखनीय प्रकाश डाला है।

मिरिष्टनेमि मादि तीर्थंकरों के उत्लेख मिलते हैं। इसने तीर्थंकरों के ऐतिहासिक होने के मासार प्रकट होते हैं। महंत् मिरिष्ट नेमि पर इतिहासकारों का ध्यान टिकने लगा है। छांदोग्य उपनिषद् में घोर म्रांगिरस ऋषि को कृष्ण का गुरु बताया गया है। जैन मागमों के मनुसार उसके धर्म गुरु महंत् मिरिष्टनेमि थे। धर्मानन्द कोशाम्बी के स्रनुसार इन दोनों के एक होने की सम्भावना है। द इसका कारण यह है कि घोर म्रांगिरस ने कृष्ण को मात्म यज्ञ की शिका दी, तपश्चर्या, दान, महजुभाव, महिसा तथा सत्य को उस यज्ञ की दिक्तणा हुप बताया।

- 1. Indian Philosophy Vol. I p 2:7. "Jain Tradition ascribes the origin of the system to Rishabhadeva, who lived many centuries back. There is evidence to show that so far back the first century B. C., there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthnkara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhaman or Parsvanath.
- २. भारतीय संस्कृति भ्रीर घहिसा, पृ० ५७
- ३. श्रतः यस् तपोदानमार्जवमहिसासत्यवधनमिति ता ग्रस्य दक्षिणा ।

—द्यान्दीग्य उपनिषद् ३. १७. ४.

तेवीसवें तीर्थंकर पाश्वंनाय पूर्ण ऐतिहासिक पुरुप हैं। डा० वास्म लिखते हैं—''चूं कि ववंमान महावीर का उल्लेख चौद्ध-पिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्धी के रूप में मिलता है, अत: उनकी ऐतिहासिकता सन्देह से परे हैं। प्रारम्भ में वे उस श्रमण संघ, जिसे कि निग्रंन्थ संघ के नाम से पुकारा जाता या श्रीर जो उनके करीव २०० वर्ष पूर्व पाश्वं द्वारा स्थापित किया गया था, की मान्यता के श्रनुयायी थे। वाद में यह 'निग्रंन्थ' शब्द महावीर द्वारा स्थापित संघ के श्रमणों के लिए प्रयुक्त होने लगा। श्रीर पाश्वं जैनों के २४ तीर्थंकरों में से २३ वें तीर्थंकर के रूप में स्मरण किये जाने लगे। '"

ग्रह्मैं पार्श्वनाय को ऐतिहासिक पुरुषों की कीटि में लाने का श्रेय जर्मन के सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा॰ हम्मेन जेकोबी है। उन्होंने पार्श्व विषयक जैन ग्रागमों के उल्लेखों को ग्रीर बीद्ध पिटकों में मिलने वाले पार्श्व परम्परा के संकेतों को संजोकर ग्रसंदिग्य हप से कहा—कम से कम पार्श्वनाय तो ऐतिहासिक पुरुष है ही। व

इस स्थापना के पश्चात् क्रमश: ग्रव तो पाश्वंनाय जैन परम्परा ग्रोर वौद्ध परम्परा के उद्गम के हप में शोत खोज के विषय वन गये हैं। उनकी परम्परा के पद-चिन्ह भी महावीर ग्रीर बुद्ध के युग तक पहुंचते हैं। बौद्ध घमं के ग्रिधकारी विद्वान् श्रो को साम्बी लिखते हैं-विषिटक ग्रन्थों में जैनों के सम्बन्ध में ग्रीर जैनों के ग्रागमों में पार्श्व के सम्बन्ध में जो जानकारी मिलती है उससे मह निष्कपं निकलता है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुप थे।

त्रिपटक निर्मन्यों का उल्लेख मनेक स्वानों पर हुमा है। उससे ऐसा दिखाई देता है कि निर्मन्य सम्प्रदाय दुढ से बरसों पहले मोजूद था। मंगुत्तर निकाय में यह उल्लेख पाया जाता है 3 कि वप्प नाम का शावय निर्मन्यों का शावक था। उस सुत्त की महुकथा में यह कहा गया है कि यह वप्प बुद्ध का चाचा था। ४ मर्थात् यह कहना पड़ता है कि गोतम बुद्ध के जन्म से पहले या उनकी छोटी उम्र में ही निर्मन्यों ना धमं शावय देश में पहुंच गया था। महावीरस्वामी बुद्ध के समकालीन थे।

- - २. डा॰ याकोवी: "That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable Sacred Book of the East vol XIV Introduction P. P. XXI-XXXIII
  - ३. एकं समयं भगवा सक्केमु विहरति कविलवत्युम्मि । ग्रथ ला वप्यो सक्को निगण्ठ सावको है ।।

—ग्रंगुत्तर, चतुक्कनिपात, चतुत्यपण्यासक, पांचवां वरग

चध्योति पसवलस्समुस्लिपता । — ग्रंगुसर अंदुक्या, सयाम संस्करण २१४७४.

म्रत: यह मानना उचित होगा कि यह घर्म-प्रचार उन्होंने नहीं विलक उनसे पहले के निर्मन्थों ने किया था।

पं० सुखलालजी इसी तथ्य की अपने शब्दों में इस प्रकार उपस्थित करते हैं-विष्य वृद्ध का समकालीन कपिलवस्तु का निवासी शाक्य या। कपिलवस्तु नेपाल की तराई में है। नीचे की ग्रोर रावती नदी-जो बौद्ध ग्रंथों में ग्रचिरावती नाम से प्रसिद्ध है, जो इरावती भी कहलाती है- उसके तट पर श्रावस्ती नामक प्रसिद्ध शहर था, जो ग्राजकल सहटमहट १ कहलाता है। श्रावस्ती में पार्श्वनाथ की परम्परा का निग्रंन्थ केशी था जो महावीर के मुख्य शिष्य गीतम से मिला था। 2 उसी केशी ने पएसी नामक राजा को और उसके सारिथ को धर्म प्राप्त कराया था। 3 जैन ग्रागमगत सेयविया ह ही बौद्ध पिटकों की सेतव्या जान पड़ती है, जो श्रावस्ती से दूर नहीं है। वैशाली, जो मुजपफरपुर जिले का आजकल का वसाढ <sup>४</sup> है, ग्रीर चत्रियकुएड जो वासुकुएड ६ कहलाता है तथा दाश्विज्यग्राम, ७ जो वनिया कहलाता है, उसमें भी पार्श्वपित्यक लोग मौजूद थे, जबिक महावीर का जीवनकाल आता है। महावीर के माता-पिता भी पाश्वंपितयक कहे गये है। प उनके नाना चेटक तथा बड़े भाई नन्दीवर्धन म्रादि पार्श्व-पित्यक रहे हों तो भ्रार्श्वयं नहीं है। गंगा के दिल्एा में राजगृही था, जो म्राजकल का राजगिर है। उसमें जब महाबीर धर्मोपदेश करते हुए म्राते हैं तब तुंगियानिवासी पार्श्वपित्यक श्रावकों भीर पार्श्वापित्यक धेरों के बीच हुई धर्म चर्चा की बात गीतम के द्वारा सुनते हैं। ह तुंगिया राजगृह के नजदीक में ही कोई नगर होना चाहिये, जिसकी पहचान म्राचार्य विजय कल्याएासूरि म्राधुनिक तुंगी ग्राम से करते हैं। १०

वचे-खुचे ऊपर के ग्रति ग्रत्प वर्णनों से भी इतना तो निष्कर्ष हम निर्विवाद रूप से निकाल सकते है कि, महावीर के श्रमण ग्रीर घमोंपदेश के वर्णन में पाये जाने वाले गंगा के उत्तर दक्षिण के कई गांव नगर पार्श्वनाथ की परम्परा के निग्नंचों के भी विहारसेत्र एवं घमं प्रचार—सेत्र रहे । इसीसे हम जैन ग्रागमों में यत्र—तत्र यह भी पाते है कि, राजगृही ग्रादि में महावीर की पार्श्वपरियको से भेंट हुई।

भगवान् पार्श्वनाथ का घर्म चातुर्याम की संज्ञा से श्रभिहित होता घा । उनके मुख्यतः चार शिचा पद थे ।

१. श्री नन्दलाल हे: The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India, P. 189.

२. उत्तराध्ययनसूत्र, ग्र० २३।

३. राय सिराइय (पं० श्री वेचरदासजी सम्पादित), पृ० ३३० ग्रादि ।

४. देखो उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० २७४.

५. देखो, वैशाली ग्रिभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ६२, ग्रा० विजयकत्यारासूरि कृत श्रमण भगवान् महायोर में विहारस्थलनाम—कोष; The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India.

६. वही

७. वही

प्त. समण्यस्त एां नमज्जो महावीरस्स श्रम्मावियरो पाताविच्या त नणो वात्तगा यावि होत्या ।
—श्राचारांग, २, भावचूलिका ३, सूत्र ४०१।

६. भगवती, २, ५।

१०. श्रमण भगवान् महाबीर, पृ० ३७१

उनका हार्दिक था-हिंसा, ग्रसत्य, चीर्य ग्रीर परिग्रह से निवृत्ति । ै ऐतिहासिक दृष्टि से सभ्यता ग्रीर संस्कृति के इन सार्वभीम ग्राधारों का व्यवस्थित रूप यहीं से प्रारम्भ होता है।

काका कालेलकर का स्रभिमत हैं-पार्श्वनाथ धर्म

महावीर के पंच महात्रतों में परिशात हुमा है। यही धर्म वुद्ध के अव्टांगिक मार्ग में भीर पातंत्रल योग के यम नियमों में प्रकट हुमा। गांधीजी के आश्रम धर्म में भी प्रधानतया चातुर्याम धर्म हिव्दगोचर होता है।

# राग मालकोष

जिया जग धोके की टाटी ॥ टेक ॥

भू ंठा उद्यम लोक करत है
जिसमें निश दिन घाटी ॥१॥

जान वृक्त कर अंध बने हो
अांखिन बांधी पाटी ॥२॥

निकल जायेंगे प्राण छिएाक में
पडी रहेगी माटी ॥३॥

'दौलतराम' समक्त नर अपने
दिल की खोल कपटी ॥४॥

१. सब्वातो पाणातिपातियात्रो वेरमणं, एवं मूस्सावायात्रो वेरमणं, सब्वातो स्रादिन्नार्वाणात्रो वेरमणं, सब्वातो वहिद्धादाणात्रो वेरमणं।

<sup>--</sup> ठाएांग सूत्र ठा० ४

२. पार्श्वनाय का चातुर्याम धर्म पृ० ६, भूमिका

# मानव-संस्कृति का उद्गम श्रौर श्रादि विकास

इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण ग्रीर रोचक स्थल संस्कृति का उद्गम ग्रीर ग्रादि विकास ही हुग्रा करता है। जैन दशंन के ग्रनुसार सृष्टि का कभी ग्रात्यन्तिक नाश नहीं होगा, ग्रत: उसके रचना काल का प्रश्न भी नहीं उठता । वह शाश्वत है । क्रम ह्रासवाद व क्रम-विकास वाद के आवार पर समय व्यतीत होता है, युग वनते हैं भीर उनसे इस विश्व में क्रमश: ग्रवसर्पण भीर उत्सर्पण होता हैं। जैन घारणा के अनुसार द्वापर, त्रेता, सतयुग श्रीर कलियुग की तरह सामूहिक परिवर्तन को 'कालचक' के नाम से अभिहित किया गया है। कालचक्र के मुख्यत: दो विभाग हैं-- अवसर्विणी और उत्सर्विणी। दोनों ही विभाग फिर छ:-छ: भागों में विभनत किये गए है। अवसर्पिणी के छ: विभागों के नाम हैं--- १. एकान्त सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमदु:पम, ४. दु:पम-सुपमा, ५. दुषमाः श्रीर ६. दुषम-दुःषमा । उत्सर्पिणी में इनका व्यतिक्रम होता है। इन छ: विभागों को 'ब्रारा' भी कहा जाता है। प्रवसिंपणी में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि की क्रमशः अवनति होती है और उत्सिपिणों में उन्नति। जब उन्नति चरम सीमा पर पहुंच जाती है, तब अवनित आरम्भ होती है श्रीर जब अवनित चरम सीमा पर पहुंच जाती है, तब उन्नति आरम्भ होती है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के म्रारम्भ से एक तरह की नई मृद्धि का म्रारम्भ होता है श्रीर समाप्ति होने पर समाप्ति ।

अवसर्परा की आदि सभ्यता

प्रथम विभाग एकान्त सुषमा में मनुष्यों का प्रायुष्य

इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण श्रोर रोचक स्थल संस्कृति का उट्गम श्रोर श्रादि विकास ही हुआ करता है। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि का कभी आत्यन्तिक नाश नहीं होगा, श्रतः उसके रचना काल का प्रश्न भी नहीं उठता। वह शाखत है। इन पर लेखक के मननीय विचार पढिए।

तीन पल्य १ का होता था ग्रीर उनका शरीर तीन कोश-परिमाए। उनका समचंतुरस संस्थान होता या घौर संहनन । वे अपक्रोध, निरिभमान, वजऋषभनाराच निश्छदम व अवितृष्ण, विनीत, भद्र, भोज्य व भद्य पदार्थों का संग्रह न करने वाले, सन्तुष्ट, ग्रीत्सुवय-रहित ग्रीर सर्वदा घर्मपरायण होते थे। उस समय भूमि ग्रत्यन्त स्निग्ध थी ग्रीर मिट्टी चीनी की तरह ग्रतिशय मिष्ट; अतः नदियों में पानी भी मध्र व निमंल ही होता या। पदार्थ ग्रति स्निग्व थे; ग्रतः बुभुक्ता भी ग्रत्य घी । चौथे दिन केवल तुमर की दाल के प्रमाण थोड़ा-सा भोजन करते थे। यौगलिक व्यवस्था थी। माता-पिता की मृत्यू के छ: मास पूर्व एक युग्म पैदा होता घा घौर वही धागे चलकर पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाता था। विवाह, पूजन, प्रोतकार्य ग्रादि नहीं थे: प्रत: व्यप्रता भी नही । पति-पत्नी के ग्रतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं था । किसी भी प्रकार की सामाजिक स्थिति भी नही थी। मनुष्य केवल युगल रूप में व्यप्टि ही या। कर्म-युग या, पर कर्म-युग का प्रवर्तन नहीं हुमा या।

श्रसंख्य दर्षों का एक काल मान
 इस लेख की श्रनेक मान्यताएँ श्वेताम्बर परम्परा के श्रनुसार हैं।

--सम्यादश

विकार ग्रत्यल्प थे। जीवन की ग्रावश्यकतायें सीमित थीं। खेती, सेवा, व्यापार के ग्राचार पर ग्राजीविका चलाने की कोई ग्रावश्यकता न थी। उनकी ग्रावश्य-कतायें इस प्रकार के कल्पवृद्धों से पूर्ण होती थीं।

- १. मद्यांग वृद्ध--ारारीरिक पौष्टिक पदार्थ,
- २. भृतांग वृत्त-भाजन,
- ३. तूर्यांग वृद्ध-विविधि वाद्य,
- ४. दीपांग वृत्त-दीपक का प्रकाश,
- ५. ज्योतिष्क वृत्त-सूर्यं का ग्राग्न का कार्य,
- ६. वित्रांग वृत्त-पुष्प,
- ७. चित्ररस वृद्ध-विविध भोजन,
- मएयंगवृत्त—ग्राभूपण
- ६. गेहकार वृत्त-मकान की तरह ग्राश्रय, श्रीर
- १०. ग्रनग्नवृत्त-वस्त्र की पूर्ति

इन दस प्रकार के वृत्तों द्वारा बुभुत्ता ग्रीर प्यास की शान्ति, वस्त्र, मकान व पात्र की पूर्ति, प्रकाश व ग्राग्नि के ग्रमाव की पूर्ति, मनोरंजन व ग्रामोद-प्रमोद की उप-लच्चि होती थी।

जन-संस्था बहुत कम थी ग्रोर जीवन-यापन के सावन प्रचुर मात्रा में थे, ग्रतः कलह, वैमनस्य या स्पर्धा नहीं होती थी। किसी के परस्पर स्वार्थ नहीं टकराते थे, ग्रतः कुल, जाति या वर्ग भी नहीं वने। ग्राम या राज्य की तो कोई ग्रावश्यकता भी न थी। सभी स्वतंत्राचारी एवं वनवासी थे। कोई शासक या शासित नहीं था ग्रीर न कोई भी शोपक या शोपित। दास, प्रेष्य, कर्मचारी व भागीदार भी नहीं होते थे।

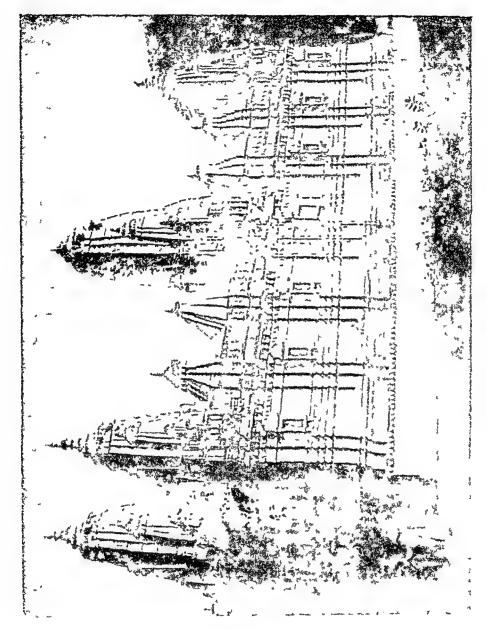
ग्रसत्याचरण, लूट—ससीट, लड़ना-भगड़ना व मार-काट नहीं थे। अब्रह्मचर्य सीमित था। नैसर्गिक ग्रानन्द और शान्ति थी। धर्म और उसके प्रचारक भी न थे। जीवन सहज धार्मिक होता था। विश्वासघात, प्रतिशोध, पिशुनता या ग्राचेप ग्रादि न थे। हीनता और उच्चता के भावों का भी ग्रभाव था। सफाई करने वाला वर्ग भी नहीं था। हाथी, घोड़े, वैल, ऊंट ग्रांदि सभी प्रकार के पशु होते थे, पर मनुष्य उन्हें वाहन के रूप में प्रयुक्त नहीं करता था। गाय, भैस, वकरी ग्रांदि दुघारू पशुभी होते थे, पर न कभी उनका दूघ निकाला जाता था ग्रीर न कभी किसी ने दूव का स्वाद भी चला था। गेहूं, चावल ग्रांदि घान्य विना वोये ही उगते थे, पर उन्हें उपयोग में नहीं लाया जाता था। सिंह, व्याघ्र ग्रांदि हिंसक प्रांगी भी किसी पर हमला नहीं करते थे। किसी प्रकार के शस्त्र भी नहीं थे। जीवन वहुंत लम्बे होते थे। ग्रसामिक मृत्यु नहीं होती थी। श्वास, ज्वर व महामारी ग्रांदि छोटी व वडी किसी प्रकार की भी व्याधि नहीं होती थी। इस प्रकार चार कोटाकोटि सागर का एकान्त सुपमा नामक प्रथम विभाग समाप्त हुन्ना।

### सभ्यता में परिवर्तन

अवसिंपणी कालचक्र का दूसरा और लगभग तीसरा विभाग भी क्रमशः वीत गया। सभी वातें हूं।सोन्नुख होने लगों। पृथ्वी का स्वभाव, पानी का स्वाद, पदार्थों की यथेच्छ उपलब्धि क्रमशः कम होती गई। आयुष्य भी तीन पत्य के स्थान पर दो पत्य व एक पत्य का हो गया। भोजन की आवश्यकता भी तीसरे व दूसरे दिन होने लगी। शरीर का परिमाण भी घटने लगा। कत्पवृद्धों ने भी आवश्यकताएं पूर्ण करना कुछ कम कर दिया।

तृतीय विभाग लगभग समाप्त हो रहा था। एक पत्य का केवल आठवां भाग अविशिष्ट था। योगिलिक व्यवस्था डोलने लगी। सरलता, निरिभमान व निष्ट्रांद्म के स्थान पर जीवन में कुटिलता, आहं व छद्म प्रविष्ट होने लगे। कल्पवृत्तों के द्वारा अभीष्तित मिलना अल्प हो गया। भूमि की सहज स्निग्चता और मधुरता में भी और अल्तर आ। या। आवश्यक्ताएं (बढ़ने लगीं और उससे संग्रहवृत्ति भी। जब अनिवार्य आवश्यक्ताएं पूर्ण न हुई, तो वाद-विवाद, लूट-खसोट व छीना-अपटी भी बढ़ी। सहज रूप में उगने वाले धान्य का भोजन के रूप में उपयोग होने लगा। स्मा, शान्ति व सोहाद आदि सहज

१. दस कोटाकोटि पल्य का एक सागर होता है।



जैन मन्दिर, मागानेर (जयपुर)

				٠
		·		
			-	
	:			
			,	

दण्डनीति की आवश्यकता

गुण बदल गये। प्रपराबी मनोभावना के बीज अंकुरित होने लगे। ग्रसंख्य वर्षों के के बाद ऐसी परिस्थिति ग्रादि सहज गुण बदल गये। ग्रपराधी मनोभावना के बीज ग्रंकुरित होने लगे। ग्रसंख्य वर्षों के बाद ऐसी परिस्थिति हुई थी।

### समंष्टि जीवन के ग्रारम्भ के निमित्त

अन्यवस्था व अपराध न हो, इसके लिए मार्ग खोजे जाने लगे । अपनी-अपनी सुरद्धा के लिए अपने से समर्थ का आश्रय लिया जाने लगा । एक दूसरे की निकटता बढ़ी और उसने सामूहिक जीवन जीने के लिए विवश कर दिया । उस सामूहिक व्यवस्था को 'कुल' के नाम से कहा गया था ।

मनुष्यों में ग्रहंवृत्ति जागृत होने लगी थी, ग्रतः उस 'कुल' का मुखिया कीन हो, यह प्रश्न भी सामने आया। पद-लिप्सा भड़कने लगी थी। परन्तु उसके लिए किसी भी प्रकार का विग्रह उचित नहीं समभा जाता था। किसी मध्यम सार्गकी गवेप एक जी जा रही थी। एक दिन एक विशेष घटना घटी । एक युगल स्वेच्छ्या वन में भ्रमण कर रहा था। सामने से एक उज्जवल व बलिष्ठ हाथी आ रहा था। दोनों की आंखे मिलीं। हाथी के हृदय में युगल के प्रति सहज स्नेह जागृत हुम्रा। उसे अपने गत भव की स्मृति हुई, जिससे उसने जाना, हम दोनों ही पश्चिम महाविदेह दोन में विशाक पूत्र थे श्रीर दोनों में घनिष्ठ मैत्री थी। यह सरल था, अतः यहां मनुष्य रूप में उत्पन्न हुन्ना है न्नौर मैघूर्त मायाचारी षा, अतः इस पशु-योनि में ग्राया हुं। उसने ग्रपने मित्र को, उसके न चाहने पर भी, अपनी पीठ पर वैठा लिया। ग्रन्य युगलों ने जब इस घटना को देखा तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुमा । क्योंकि इस भ्रवसर्पण काल में यह युगल ही सर्वप्रथम वाहनारूढ़ हुम्रा था। हाथी दहुत विमल था अत: उस युगल का नाम भी विमलवाहन कर दिया गया तथा उसे ही प्रथम कुलकर के पद पर आसीन किया गया। इस प्रकार कुलकर की नियुक्ति हो जाने से सभी युगल विमलवाहन के आदेश को मानते श्रीर वह सबकी व्यवस्था देता ।

ग्रपराघी मनोवृत्ति वढ़ती हुई कुछ रकी। किन्तु व्यवस्था देने मात्र से ही स्थिति नियन्तित न हुई। कुछ दएडनीति की ग्रावश्यकता ग्रनुभव की गई। इससे पूर्व कोई दएड व्यवस्था नहीं थी। उस स्थिति को निन श्लोक से ग्रिभिव्यक्त किया जा सकता है।

नैवं राज्यं, न राजासीत्, दएडो, च दाण्डिकः धर्मेणेव प्रजाः सर्वाः रक्तन्तिस्म परस्वरम् ॥

विमलवाहन के समय यह स्थिति वदल गई। कल्पवृत्तों ने अभी प्सित प्रदान करना कुछ कम कर दिया, अतः युगलों का उन पर ममत्व होने लगा। एक युगल द्वारा अविकृत कल्पवृत्त का दूसरा युगल उपयोग करने लगा और इस प्रकार वे परस्पर लड़ने लगे। विमलवाहन ने सबको एकत्रित किया और अपने ज्ञान वैशिष्ट्य से भगड़ा टालने की हिष्ट से, कुटुम्बियों में जिस तरह सम्पत्ति बांटी जाती है, कल्पवृत्तों को परस्पर बांट दिया गया।

# हाकार नोति

कुछ दिन तक व्यवस्था ठीक चलती रही, पर इसका भी श्रतिक्रमण होने लगा। विमलवाहन ने इसके प्रतिकार के लिए दण्ड-व्यवस्था का ग्रारम्भ किया। सर्वप्रयम हाकार नीति का प्रचलन हुआ। श्रपराधी को एतना ही कहा जाता—'हां! तुमने यह किया?' श्रपराधी पानी—पानी हो जाता है। उस समय इतना कथन ही मृत्यु-दण्ट का काम करता था। कुछ दिनों तक यह व्यवस्था चलती रही। श्रपराध भी कम होते, व्यवस्था भी वनी रहती। किन्तु श्रावश्यकता की पूर्ति के श्रभाव में वैगनस्य वहने लगा श्रीर प्रचलित दण्ड-व्यवस्था भी लोगों के लिए सहज वन गई।

### माकार नीति

विमलवाहन के बाद उसका ही पुत्र चलूप्पान् दूगरा कुलकर हुग्रा। वह भी ग्रपने पिता की तरह ही व्यवस्थाएँ देता रहा। कभी ग्रपराघ बढ़ते भीर पाभी कम होते। 'हाकार' दएड से सब कुछ ठीक हो जाता। चरुष्मान के वाद जव उसका पुत्र यशस्वी तृतीय कुलकर बना, तय वैमनस्य, प्रतिशोध व अन्य अपराध भी वढ़ते ही गये। यशस्वी ने यह सोचकर कि एक और्पाध से यदि रोगो-पशान्ति न होती हो तो दूसरी औषधि का प्रयोग करना चाहिये, 'माकार नीति' का प्रचलन किया। अपराधी से कहा जाता—और कभी ऐसा अपराध मत करना। अल्प अपराधी को 'हाकार' और भारी अपराधी को 'माकार' का दराड दिया जाता।

#### धिक्कार नीति

यशस्वी ग्रीर चतुर्थं कुलकर ग्रभिचन्द्र के समय तक उक्त दो दएड-व्यवस्थाओं से ही काम चलता रहा। पांचवें कुलकर पसेनजित् को भी फिर इसमें परिवर्तन करना पड़ा। अपराधों की गुरुता बढ़ती जा रही थी। प्रारम्भ में जिसे महान् अपराध कहा जाता, इस समय तक वह तो सामान्य कोटि में ग्रा चुका था । युगल कामात्तं, लज्जा व मर्यादा-विहीन होने लगे, इसलिए प्रसेनजित् ने हाकार ग्रीर माकार के साथ 'घिक्कार नीति' का भी प्रचलन किया। अपराध-वृद्धि के साथ दराड-वृद्धि भी हुई। इस दराड-व्यवस्था के अनुसार अपराधी को इतना और कहा जाता - मुभे धिनकार है, जो इस तरह के काम करता है। इस दग्ड-व्यवस्था से पुन: मर्यादाएं स्थापित हुईं। युगल भीत रहते और ग्रपराघ करते हुए सकुचाते । छठे मदेख्व ग्रीर सातवें नाभि कुलकर भीत रहते ग्रीर अपराव करते हुए सक्चाते। छठे मरुदेव और सातवें नाभि कुलकर तक यह व्यवस्था चलती रही। नाभि कुलकर की पत्नी मरूदेवी था।

# कुलकरों की संख्या

दिगम्बर परम्परा के श्रनुसार कुलकरों की संख्या चौदह है श्रीर प्रथम, पष्ठ व ग्यारहवें कुलकर के समय क्रमशः एक-एक नीति का प्रवर्तन हुगा। कुछ एक परम्पराएं श्रन्तिम कुलकर नाभि के पुत्र ऋपभदेव को भी कुलकर मानती हैं। किन्तु वे कुलकर नहीं थे। क्योकि उस समय कुलकर व्यवस्था से श्रागे समाज व्यवस्था

व राज्य-त्यवस्था का प्रवर्तन हो चुका था। व्यष्टि समप्टि में परिवर्तित होने लगी थी । उस समय नाना प्रकार के सामाजिक नियमन भी वन चुके ये ग्रीर कुलकर व्यवस्था में जहां कल्पवृत्तों द्वारा आवश्यकताए पूर्ण होती थीं, वहां ऋपभदेव के समय से ऐसा होना समाप्त हो गया था । क्रमश: ग्रसि, मिप, कृषि का विकास ही गया था ग्रीर उसके ग्राघार पर ग्राम-निर्माण, शासन प्रणाली, वैवाहिक सम्वन्घ व उग्र, भोग, राजन्य, द्वित्रयों के कार्यो का विभाजन भी हो चुका था। विभिन्न ग्रावारों से सहज निष्कर्प निकलता है कि ,नाभि श्रन्तिम कुलकर थे श्रीर श्री ऋपभदेव मानवीय सम्यता के ऋादि सूत्रवार । चौदह कुलकरों का जहां उल्लेख मिलता है, वहां प्रथम छ: सर्वया नये हैं। इनके नाम भी भिन्न हैं। सातवें से चौदहवें कुलकर तक के नाम दोनों परम्पराग्रों में एक ही हैं। केवल ग्यारहवें कुलकर चन्द्राभ को श्वेताम्बर परम्पराएं नहीं मानती है। इस तरह दिगम्बर परम्परा के ग्यारहवें कुलकर को छोड़कर अन्तिम सात कुलकर, उनकी पिलयां व उनके हाथी ग्रादि वे ही हैं, जिन्हें श्वेताम्बर परम्परा में माना गया है। कुलकरों को 'मनु' भी कहा जाता है।

# कर्मयुग का ग्रारम्भ

श्रन्तिम कुलकर नाभि के समय यौगलिक सम्यता चीग होने लगी। यह समय यौगलिक सम्यता व मानवीय सम्यता वा सन्विकाल था। श्रायु, सहनन, संस्थान व शरीर-परिमाण ग्रादि घटने लगे थे। तृतीय विभाग सुपम-दुप:मा समाप्त होने में चौरासी हजार वर्ष अवशिष्ट थे। नाभि कुलकर के घर पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। माता ने चौदह स्वप्न देखं। उनमें प्रथम स्वप्न वृपभ का था। शिशु के वच्च:स्थल पर वृपभ का लांछन भी था, अतः उनका नाम वृपभनाथ—ऋषभदेव रखा गया। श्रागे चलकर समाज-व्यवस्था व धर्म-व्यवस्था के श्रादि प्रवर्तक होने से ग्रादिनाथ के नाम से भी विश्रुत हुए। सहजात कन्या का नाम सुमंगला रखा गया।

वंश-उत्पत्ति व उनके नाम करण

जव ऋपभदेव जुछ कम एक वर्ष के हुए, वंश का

१. ग्रादि पुरास, ३।१५

नामकरण किया गया। इन्द्र स्वयं इस कार्य के लिए आया। उस समय ऋष्भदेव नाभि राजा की गोद में वैठे थे। इन्द्र के अभिप्राय को जान कर उन्होंने उसे लेने के लिए हाथ बढ़ाया, अतः इच्-आकु (भक्षणार्थे) इच्चाकु वंश के नाम से वह प्रसिद्ध हुआं। पहला वंश इच्चाकु बना, ऐसा इस आधार से कहा जा सकता है। इसी तरह एक-एक घटना को लेकर पृथक्-पृथक् समूहों के पृथक्-पृथक वंश बनते गये। अकाल मृत्यु

श्री ऋषभदेव का वाल्य-जीवन बहुत ही ग्रानन्द से वीता । घीरे-घीरे बड़े होने लगे । एक ग्रद्भुत घटना घटी । एक युगल अपने पुत्र व पुत्री को एक ताड़ वृद्ध के नीचे वैठाकर स्वयं कदलीवन में क्रीड़ा के लिए चला गया। दैवयोग से एक बड़ा फल टूटा ग्रीर किसलय के समान कोमल उस पुत्र,पर पड़ा। उसकी अकाल ही मृत्यु हो गई। यह पहली स्नकाल मृत्यू थी । यौगलिक माता-पिता ने ग्रपनी उस लाड्ली कन्या का लालन-पालन किया। वह वहुत सुरूपा थी । उसके प्रत्येक प्रवयव से लावएय टपकता था। कुछ महीनों के वाद उसके माता-पिता का भी देहान्त हो गया। वह स्रकेली रह गई। उसका नाम सुनन्दा था वह एकािकनी पथअष्ट हरिएी की तरह इघर-उघर भटकने लगी। कुछ युगलों ने कुलकर श्री नांभि के समच यह सारा उदन्त कहा। श्री नाभि ने सुनन्दा को यह कह कर कि यह ऋपभ की पत्नी होगी, ग्रपने पास रख लिया।

### विवाह-परम्परा

यौवन प्रवेश पर ऋषभदेव का सहजात सुमंगला प्रौर सुनन्दा के साथ पाणिग्रहण हुग्रा। अपनी वहिन के प्रतिरिक्त दूसरी कन्या के साथ भी विवाह—सम्बन्ध हो सकता है, इसका यह पहला प्रयोग था। सुमंगला ने चौदह स्वप्न पूर्वंक भरत व बाह्यी को जन्म दिया ग्रौर सुनन्दा ने वाहुवलि व सुन्दरी को। इसके वाद फ्रमश: सुमंगला के प्रट्ठानवे पुत्र ग्रौर हुए। राज-ट्यवस्था का ग्रारम्भ

प्राचीन मर्यावाएं विच्छित्र होत्ती जा रही यीं।

तीनों ही दएड-व्यवस्याग्रों की उपेदा हीने नगीं, ग्रत: किसी भी प्रकार का नया विधान आवश्यक हो गया था। कल्पवृत्तों से प्रकृति सिद्ध जो ईप्सित मिलता घा, वह ग्रपर्याप्त होने लगा । तृष्णा वढ्ने लगी, ग्रावेश उभरने लगा, ग्रहं जागृत होने लगा और छद्म खुलकर सामने म्राने लगा । शान्ति भंग होने लगी । जिन युगलों ने कभी अपने जीवन में लड़ना, भगड़ना या वैमनस्य नहीं देखा था, उन्हें यह बहुत ही बूरा लगा। वे इन स्पितियों से घवरा गये। एक दिन वे ऋपभदेव के पास पहुंचे शीर सारी स्थिति उनसे निवेदित को । ऋपभदेव ने कहा-जो लोग मर्यादाओं का अतिक्रमण करते हैं, उन्हें दएड मिलना चाहिये। पहले भी ऐसा हमा या भीर उसके प्रतिकार स्यरूप ही तीन प्रकार की दएड-व्यवस्थाओं का प्रचलन हुआ था। अब अपराध और बढ़ गए है, भ्रतः उनके शमन व मर्यादाभ्रों की रक्षा के निमित्त भ्रन्य दग्ड-व्यवस्या का भी म्राविर्भाव होना चाहिये। यह सब कुछ तो राजा ही कर सकता है।

युगलों ने पूछा—राजा कौन होता है ग्रीर उसके कार्य क्या होते हैं ?

ऋषभदेव ने कहा—राजा के पास चार प्रकार की सेना होती है। उच्च सिंहासन पर वैठा कर सर्व प्रथम उसका ग्रभिषेक किया जाता है। वह ग्रन्याय का परिहार ग्रीर न्याय का प्रवर्तन ग्रपने वृद्धि—कीशल से करता है। शक्ति के सारे स्रोत उसमें केन्द्रित होते हैं, प्रतः वहां कोई मनमानी नहीं कर सकता।

हम में तो श्राप ही सर्वाधिक बुद्धिशाली व समधं है, अत: श्राप ही हमारे राजा वनें। श्रापकी हमारी उपेदा नहीं करनी चाहिये, बुगलों ने कहा।

यह मांग प्राप कुलवर श्री नाभि के समस प्रम्तुन करें। वे श्रापको सजा देगे, श्री ऋषमदेव ने सुगनों से वहा।

बुगल मिल-जुल कर नाभि के पास पहुँ ये। उन्होंने झात्म-निवेदन किया। नाभि ने ऋपभदेव की उनका राजा घोषित किया। बुगलों ने उन्हें सहप्रेरवीकार विधा ग्रीर ऋपभदेव के सम्मुख ग्राकर कहने लगे नामि कुल-कर ने ग्रापको ही हमारा राजा बनाया है।

युगलों ने ऋवभदेव का राज्याभिषेक अपूर्व आहुलाद के साथ किया। ऋपभदेव राजा वने ग्रीर शेप जनता प्रजा। उन्होंने अपने पुत्र की तरह प्रजा का पालन आरम्भ किया। राजा वनने के बाद ऋषभनाथ पर व्यवस्था-संचालन का सारा भार श्रा गया। सारी परम्पराएं जर्जरित हो चुकी थीं। म्रावास, भूख, शीत, ताप म्रादि की समस्याएं सताने लगी थीं। प्रराजकता भी वढ़ रही थी। जनता स्रतिभद्र थी। वह किसी भी प्रकार का कमें नहीं जानती थी। ऋषभदेव के सम्मुख यह एक जटिल पहेली थी, पर उन्होने अपने ज्ञान-चातुर्यं से सबका समावान प्रस्तुत किया। ग्रावास-समस्या के समावान हेत् उस समय नगर व ग्राम वसाये गये। पहले-पहल स्रयोध्या का निर्माण हुस्रा और उसके स्रनन्तर सन्य नगरों ग्रामों का । सज्जनों की सुरद्धा श्रीर दुर्जनों के परिहार के निमित्त उन्होंने अपने मंत्रि-मएडल का निर्माण किया। चोरी, लूट-खसोट व दूसरे के अधिकारों का अपहरण न हो, इसके लिए आरक्षक वर्ग की स्थापना की । राज्य-शक्ति को कोई चुनौती न दे, इसके लिए, गज, अश्व, रथ और पादातिक, चार प्रकार की सेना एकत्रित की ग्रीर सेनापति की नियुक्ति भी। गो, वलीवदं, भैसे. खच्चर, ऊंट पश्यों को भी उपयोगी समभकर एकत्र किया गया।

#### खाद्य-समस्या

इस समय तक युगलों का भोजन कल्पवृत्तों के श्रभाव में कन्द, मूल, फल, पत्र, पुष्प श्रादि हो गया था। तृगा की तरह स्वयं उगने वाले चावल, गेहूं, चने, मूंग ग्रादि भी उनके भोजन में सम्मिलित हो चुके थे। वनवास से गृहवास की ग्रोर जब जनता का क्रम चला, कन्द, मूल, फल का भोजन अपर्याप्त व चावल, चने व गेहूं का भोजन स्वास्थ्य के लिए शहितकर श्रमुभव होने लगा। सहज उत्पन्न ग्रन्न को पकाना भी वे नहीं जानते थे ग्रीर न पकाने के साधन भी उनके पास थे। ग्रयस्व ग्रन्न- ग्रहण से श्रजीर्ण का रोग सताने लगा। युगल ऋषभदेव के पास ग्रपनी व्यथा लेकर पहुंचे । उन्होंने कहा-ग्रनाज को अब हाय में मलकर, उसके छिलके निकाल डालो श्रीर फिर साग्री । यह न्याधि दूर ही जायगी । लोगों ने वैसा ही किया । कुछ दिन बीते किन्तु कड़ा होने से दैसा भ्रनाज भी दुष्पाच्य रहा श्रीर वही व्याधि पुन: सताने लगी। ऋपभदेव के पास फिर वही समस्या उपियत हुई। उन्होंने समाधान दिया-हाथों से मलकर, पानी में भिगोकर व पत्तों के दोनों में रखकर खाग्रो। इससे तुम च्याघि से वच सकोगे । लोगों को ऋषभदेव पर पूरी श्रदा थी, अतः उन्होंने वैसा ही किया । कुछ दिन उस उपक्रम से काम चल गया, किन्तु स्थायी समाघान नहीं मिला। फिर ऋपभदेव के सम्मुख ही वे आये और अपनी निन्ता सुनाने लगे । कुछ चिन्तन के बाद उन्होने उत्तर दिमा-पूर्व विधि से अन्न तैयार कर कुछ देर मुट्ठी में या बगल में इस तरह रखो कि उनसे ग्रन्न कुछ गमं हो जाये। फिर खाग्री। सभी ऐसा करने लगे। ऐसा करने पर उनका ग्रजीएां नहीं मिटा भीर वे कमजीर होते गये।

# अग्नि और पात्र-निर्माण का आरम्भ

कुछ दिन बीते। एक दिन एक नई घटना घटी। वृद्धों के परस्पर टकराने से अग्नि प्रकट होने लगी। उसने भयंकर रूप घारण कर लिया। तृण, काष्ठ व अन्य वस्तुएं जलने लगीं। ऐसा किसी ने कभी नहीं देखा था। लोगों ने उसे रत्नराशि समभा और उसे लेने के लिए हाथ फैलाये। उनके हाथ जलने लगे। सारे ही भयभीत होकर अपने राजा के पास पहुंचे। अध्यभदेव बोले—अब स्निग्चरूच काल आ गया है, अतः अग्नि प्रकट हुई है। एकान्त रूद्ध व एकान्त स्निग्च समय में अग्नि पैदा नहीं होती। इतने दिन अत्यन्त स्निग्च समय था, अतः अन्न की पाचन—किया में भी दुविचा होती भी और उससे अजीएं होता था। अब यह समस्या नहीं रहेगी। तुम लोग सब जाओ और पूर्व विधि से तैयार किये हुए अन्न को उसमें पका कर खाओ। उसके आत-पास जो भी घास—कृस व अन्य सामग्री है, उसे हटा दो।

सरंलाशय मनुष्य दीड़े और उन्होंने पकाने के लिए अग्नि में अन्त रखा | किन्तु अन्त तो सारा ही उसमें जल कर भस्म हो गया | वेचारे दौड़े—दौड़े फिर वहीं आये और कहने लगे—स्वामिन् | वह तो विल्कुल भूखा राचस है | हमने उसके समीप जितना भी अन्न रखा, भुद्मिभरी की तरह अकेला ही सब कुछ खा गया । हमें तो उसने कुछ भी वापस नहीं किया ।

ऋषभदेव ने उत्तर दिया—इस तरह नहीं। पहले तुम पात्र बनाग्रो, फिर उसमें ग्रन्न पकाग्रो ग्रींर खाग्रो। जनता ने पूछा—स्वामितृ! ये पात्र कैसे बनाये जायेंगे?

ऋषभदेव उस समय हाथी पर सवार थे। उन्होंने आर्द्र मृत्तिका-पिएड मंगवाया। हाथी के सर पर उसे रखा, हाथ से थपथपाया और उसका पात्र बनाकर सबको दिखलाया तथा साथ में शिद्धा भी दी कि इस प्रकार तरह—तरह के पात्र बनाओं और उनमें अन्न पकाकर खाओ। इस प्रकार पाक-विद्या के साथ-ही-साथ पहला शिल्प कुम्भकार का भी समाज में प्रचलित हुआ।

### भ्रध्ययन व कला-विकास

जीवन की आवश्यकताश्रों के भरने के निमित्त विविध शिल्प व श्रान का श्राविष्कार हुआ। अपराध न बढ़े; श्रीर जीवनसुखमय हो, इसके लिए ऋपभदैव ने कला, लिपि व गणित का ज्ञान भी दिया। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री भरत को बहत्तर कलाश्रों का व परमतत्व का ज्ञान दिया। बाहुबली को प्राणी लद्धण ज्ञान, ब्राह्मी को अठारह लिपियों का ज्ञान व सुन्दरी को गणित का ज्ञान प्रदान किया। व्यवहार साधन के लिए मान (माप) उन्मान (तोला, मासा आदि वजन), अवमान (गज, फुट, इंच आदि) व प्रतिमान ( छटांक, सेर, मन आदि ) बताये। मणि आदि पिरोने की कला भी सिखाई। व्यष्टि से समण्डि की श्रीर

विसंवाद-कलह उत्पन्न होने पर न्याय-प्राप्ति के लिए राज्याध्यक्त के समक्त जाने का विचार दिया।

वस्तुग्रों के क्रय-विक्रय के लिए एक प्रकार के व्यवहार की स्यापना की । साम ग्रादि नीति, वाह प्रादि भ्रनेक प्रकार की युद्ध-प्रक्रिया, धनुर्वेद राजा की सेवा करने के प्रकार, चिकित्सा शास्त्र, ग्रयं-शास्त्र, रस्सी ग्रादि से वांचना, गोष्ठाम्रादिक का मिलना, ग्राम-नगर मादि का ग्रविग्रहण, किसी प्रयोजन विशेप से ग्रामवासियों का एकत्रित होना शादि वातें भी ऋपभदेव ने ही सिखाई । यहां म्राकर व्यप्टि एक्दम द्रुट गई श्रीर समष्टि काफी मात्रा में विकसित हो गई। कुलकर व्यवस्था में व्यप्टि घषिक थी ग्रीर समण्टिका श्रारम्भ या । जूल, जातियां व समाज भी प्रयक्-प्रयक् वन गये। इस प्रणाली से जहां मनुष्य का जीवन कुछ सुखमय बना बढ़ते हुए विकार रुके; वहां ममत्व, स्वार्ध व उनके प्रतिस्पर्घा मादि विकार बढ्ने लगे। पहले मनुष्य के समन्त सारा प्राणी-जगत् ही घपना बन्ध् था, सबके प्रति मैत्री भाव थे, वहां ममत्व की यह कलाना वल पकड़ने लगी-यह मेरा पिता है, भाई है, पुत्र है, माता है पत्नी हैं। इस प्रकार के कौट्रस्विक ममस्य के अनन्तर लोकैपणा व घनैपणा भी वृद्धिगत हुई।

#### दण्ड-व्यवस्थाग्रों का विकास

समाज की घुरी नुस्थिर रखने के लिए साम, दाम, दएड व भेद का खुलकर प्रयोग होने लगा। नुस ब समृद्धि के स्थायित्व के लिए दएड-व्यवस्था का नाना स्पों में विकास होने लगा। ग्रीपिष ग्रीर दएड, रोग ग्रीर ग्रपराथ के निरोधक होते हैं, यह उस समय वी मान्यता बन गई। वड़ी-से-वड़ी दएड-नीति के ग्राविभां की अनुभूति होने लगी, वयोकि हाकार, माकार ग्रीर धिककार नीतियां ग्रसफल व शियिल हो चुकी थी। क्रमश, १. परिभाप, २. मएडल दन्य, ४. चारक ग्रीर छिवन्छेद ग्रादि दएड भी चले।

१. परिभाप—सीमित समय के लिए नहरदन्द करना। क्रीपपूर्ण शब्दों में प्रपराधी को 'महां से मत जाओ' ऐसा प्रादेश देना।

परिभाषरणाउ पढमा, मंडलवधिम होइ बीयातु ।
 चारण ख्रींबिद्धेदावि, भरहस्त चउच्चिहा नौई ।।

२. मएडल वन्ध---नजरवन्द करना। सांकेतिक स्रेत्र से वाहर न जाने का ग्रादेश देना।

- ३. चारक-जेल में डालना।
- ४. छविच्छेद—हाथ, पैर ग्रादि काटना ।

ये चार दएड-नीतियां कय चली, इसमें थोड़ा-सा मतभेद है। कुछ की कल्पना है कि प्रथम दो नीतियां ऋपभनाथ के समय में चलीं श्रीर दो भरत के समय। कुछ विद्वानों की मान्यता है ये चारों नीतियां भरत के समय चलीं। ग्रभयदेव सूरि के श्रनुसार भरत के समय में ही इन चारों नीतियों का प्रचलन हुगा। किन्तु ऐसा लगता है, उनके समय में भी यह मतभेद चलता था, ग्रत: उन्होंने स्थानांग वृत्ति से ग्रपर सिद्धान्त के रूप में यह भी उल्लेख किया है कि चार प्रकारों में से प्रथम दो प्रकार ऋपभनाथ के समय में चले श्रीर शेप दो भरत के समय में, ऐसा भी माना जाता है। ग्रावश्यक-नियुं कितकार दे के श्रिममतानुसार बन्ध (वेड़ी का प्रयोग) श्रीर घात ( उएडे का प्रयोग ) ऋपभनाथ के समय प्रारम्भ हो गये थे श्रीर मृत्यु-दएड का ग्रारम्भ भरत के समय हुग्रा।

विभिन्न मतवादों के होते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वह समय बहुत नाजुक हो गया था। उस समय तक प्रचलित घिनकार नीति ग्रन्य दो नीतियों की तरह प्राचीन श्रीर सहज हो गई थी श्रीर सन्तुलने विगड़ रहा था, अपराध बढ़ने लगे थे, श्रतएव राजतंत्र का उदय हुशा था श्रीर उस स्थिति में किसी भी तरह की दएड—नीति का श्रारम्भ न हुश्रा हो, यह गले उतरता नहीं है। व्यवस्थित उल्लेख न मिलने में श्रनुमान के श्राचार पर ही किसी निर्ण्य पर पहुंचा जा सकता है। श्रपना श्रनुमान श्रावश्यक निर्युक्तिकार की मान्यता के श्रिवक समीप पहुंचता है।

दएड व्यवस्थाओं की कठोरताओं से स्थितियां सुलभी श्रीर श्रन्य पद्धतियों से जीवन सुचार रूप से चलने लए। विवाह सम्बन्ध में नई परम्परा

योगलिक परम्परा में भाई—बहिन ही पति—पत्नी के हप में परिवर्तित हो जाया करते थे। ऋषभनाथ का सुनन्दा के साथ पाश्चित्रहण होने से यह परम्परा दृटी। इस नई परम्परा को सुदृढ़ रूप देने के लिए उन्होंने भरत का विवाह वाहुवली की वहिन सुन्दरी के साथ श्रीर भरत की वहिन शाह्यों का वाहुवली के साथ विधिपूर्वक व ठाट—बाट से किया। इन विवाहों का श्रनुसरण कर जनता ने भिन्न गोत्र में उत्पन्न कथा का उसके माता—पिता हारा दान होने पर ही ग्रहण करना, यह नई परम्परा चल पड़ी।

--स्थानांग वृत्ति,

धप्रश्राहाथ

—श्री काललोकप्रकाश

१. म्राद्यद्यमृषकाले य्रन्ये तु भरतकाले इत्यन्ये

२. गाथा २१७-२१८.

युग्मिधर्मनिषेधाय भरताय ददौ प्रभूः ।
 सोदर्या बाहुवलिनः सुन्दरी गुणसुन्दरीम् ।।
 भरतस्यन् सोदर्या ददौ ब्राह्मी जगत्त्रभु ।
 भूपाय बाहुवलिने तदादिजनताप्यथ ।।
 भिन्नगोत्रादिका कन्यां दत्तां पित्रादिभिमृदा ।
 विधिनोपायत प्रायः प्रावर्तत तथा ततः ।।

Dr. Kamal Chand Sogani M. A. Ph., D. Government College, Sriganganagar.

# Jaina Ethics and the Present-day Problems

A T the outset we have to acknowledge A that the man of today is living in a world which is much more complex than that of an ancient or mediaeval man. Interdependence among nations has increased; and this has brought an ever widening and deepening impact on the economic, intellectual and social conditions of our existence. scientific advancement has made countries one another's neighbours. Divergent races, divergent cultures, and divergent outlooks have come close relations. In the present article I shall endeavour to put forth a view of state and society emanating from ethical considerations Jaina and shall strive to solve the problems of the social, national and international importance which encounter the present man.

#### Individual and Society

It is generally alleged that Jaina ethics aims merely at self-purification and self-evolution. Professor Maitra remarks, "the Jaina list does not include the other-regarding virtues of benevolence, succour, and social service. This shows that the Jaina virtues aim more at self-culture than at social

Man of today is living in a complex world. In this article it has been endeavoured to put forth a view of the state and the society emanating from ethical considerations of the Jaina and religion. In it the author has tried to present a solution of the various problems of social, national and international importance which encounter the present men.

service." But we may point out that along with the individual and spiritual virtues, Jainism recognizes social virtues as well. The social virtues recognized by Jainism are:- 1. Universal compassion and friendship (Bhuta and Maitri). 2. Charity Anukampa (Dana) 3. Non-hatred towards the diseased (Nirvicikitsa). 4. Commendation of the meritorious (Pramoda) 5. Active compassion for the distressed or helping those who are miserable. thirsty and hungry (Karunya). 6. Indifference towards the (Madhyasth) 7. Non-acquisition (Aparigraha). 8. Non-injury (Ahimsa). 9. Forgiveness (Ksama), 10. Propagation of moral and spiritual values through adequate means (Prabhavana). Hence in the light of the above enumeration of social virtues, the statement of Prof. Maitra is untenable and we may say that Jaina ethics has both the eyes of the individual as well as the social betterment.

It envisages individual as a social being, inasmuch as the individual's dependence upon society for his

<sup>1.</sup> Maitra, the Ethics of the Hindus, P. 203.

intellectual, moral, and material gains is incontrovertible and cannot be gainsaid. Even an ascetic is incapable of transgressing this basic assumption of social dependence, although the concept of dependence in case of an radical change. ascetic undergoes True asceticism is not an act of ingratitude but an act of highest gratitude. returning golden coins for silver pieces to society. The ascetic by virtues of his practices accumulates Punya which in some form or the other is a social debt. This social debt is responsible for his repeated births till its full payment. This proves his dignified dependence upon society. The Tirthankara or the divine man who has transcended social dependence also pays the social debt in the form of preaching and spiritual guidance to the suffering humanity and in such a fashion as will not produce fresh karmas necessitating future birth. This sort of payment of social debt is unique, without any parallel. Thus we see that social dependence gradually decreases and ends in absolute independence. It is only at this stage that we are capable of saying that individuality or the individual stands completely aloof from the social debt. As a consequence of this fact, Jainism alleges that the individual is not like an organ absolutely dependent for its sustenance on social organism. Social dependence cannot rob the individual of his freedom to achieve his spiritual individuality. An individual is not a mere cog in the social machine. Jainism no doubt declines to accept the unrestricted individualism that ignores social obligation. Thus the true view recognises that the individual and society influence each other. The individual moulds and is moulded by society.

#### Concept and Functions of the State.

From the study of Jaina ethics we find that the householder is required to observe twelve vows. They are the five Anuvratas and the seven Sila Vratas. The five Anuvratas are:

- 1. Ahimsanuvrata (the house-holder's vow of Ahimsa)
- 2. Satyanuvrata (the house-holder's vow of Satya)
- 3. Acauryanuvrata (the house-holder's vow of Asteya)
- 4. Brahmacharyanuvrata (the house-holder's yow of Brahmacharya)
- 5. Parigraha-parimananuvrata (the househoulder's vow of Parigraha)

The seven Sila Vratas are: 1. Digavrata, 2. Desavrata, 3. Anarthedandatyaga-vrata. Samayike. 4. Bhogopabhoga-Prosadhopavasa 6. parimanavrata 7. Vaiyavrttya. Now we may say that the strict observance of the Anuvratas and the Sila Vratas by the human beings at large will result in the evolution of stateless society. The political power will be needless on account of the emergence of such individuals as have a self-regulated vows of householder's life. The Aparigraha, Satya, Asteya, Digavrata, Desavrata, and Bhogopabhogaparimawith the pregnant navrata are capability of unravelling all the economic problems; the householder's vow of Brahmacharya; and Samyika,

Prosadhopavasa are sufficient for educating the individual in the art of self-control on its positive side, and Anarthadandatygavrata, on its negative side; the spirit of social service is capable of being nourished by the vow of Vaiyavritya; and lastly the householder's vow of Ahimsa will serve as the guiding and pervasive principle The State as the outthroughout. ward garb society must of abandoned and renounced when the society as a whole moulds its life in consonance with the prescription of vows. The existence of an enlightened social order can dispense with state altogether. But this is an ideal condition and we feel that it cannot be materialised. Probably there will come no time when all the individuals will be self-regulating. Hence state in some form or the other will exist.

imperfection Thus human will necessitate the continuation of state control and authority. The is no doubt an evil but a necessarv evil. It should contrive manage its affairs in a way which will assist the development of perfect social order. Its national and international activities should be guided by the principle of non-violence and Anekanta. In order that the state may function properly without encroaching upon the inherent spiritual nature of man, it must identify itself with Samyagdarsana Samyaginana, Samvakcharitra. policy of the state must exhibit unflinching faith in, and tenacious adherence to, the principle of non-violence. This will crown the state with Samyag-

darsana which will ipso facto bring enlightenment to it, and the result will be the emergence of Samyaginana. In other words, the adoption and the assimilation of Anekanta is Samyaginana. The resolute and astute application of the policy of non-violence and Anekanta in the national and international spheres for solving all sorts of problems will credit the state with Samyakcharitra. The passions of fear, hatred towards any class of man and towards any other state; the passions of deception, greed to expand its territory and usurp others state's wealth and freedom, the passions of pride, of wealth, power, achievement and heritage-all those should be banished from the state, because they are corruptive of the veritable spirit of progress. On the positive side, the state should pursue the discipline which flows from Samyagdarsana, Samyagjnana and Samyakcharitra. The eight virtues emanate from Samyagdarsana, the one from Samyaginana. and the five from Samyakcharitra. We shall dwell upon them one by one along with their implications.

#### Virtues of the State

As regards the virtues issuing from Samyagdarsana, first, the state should not have any iota of doubt in the efficacy of non-violence for solving the problems which arise in the national and international field. Fear which obstructs the germination of the living faith in, and rational adherence to, the principle of Ahimma must be brushed aside. It will not be amiss to point out here that non-violence should not be counted as a

virtue of necessity and a cloak of cowardice. To use it as a weapon of expediency is to defile the Nihsankita virtue of the State.

Consequently, an unshakable 'conviction in regarding it as a life-principle will infuse the state with a type of immutability even in testing situations. Secondly, the State in no circumstance should exhibit tendency to dominate other countries notwithstanding its multifarious achievements. Even help should not end in domination. This is Nihsankita virtue of the state. Thirdly, the virtue of Nirvicikitsa which is required to be associated with the state prescribes not to condemn the poor. Fourthly, the virtue Amudhadrsti obliges the state to refuse to join any military pact on account of its being overwhelmed by fear, inferiority and greed for profit. Fifthly, when the state engages itself in enhancing its productive capacity along with proper distribution, it may be said to have possessed Upavrhana characteristic. Sixthly, when other states, being oppressed by the passions of fear, greed and the like, seem to go astray from the path of righteousness and peace, to try for their re-establishment by reminding them of their humanitarian purpose may be called Sihitikarana virtue. Seventhly, to have affection for all the members of the state irrespective of caste, colour, creed and sex is to adhere to the prescription of the virtue known as Vatsalya. Eighthly, it is imperative for the state to strive to educate its members in a way which may bring

about the progress of the state. It is required as well to attain its ends by non-violent means, so that other states may be influenced by its policy. This will bring about the dissemination and propagation of its principles and policies among other states. This is known as Prabhavana virtue of the state.

The virtue which springs from Samyagjnana is Anekanta, which aims at comprehending the multiple approaches and diverse outlooks with a view to reconcile their claims. When the state imbibes the spirit of Anekanta, it is sure to become tolerant in spirit, and to attend to its various aspects. The principle of Anekanta strives to cut the roots of onesidedness in theory and practice. On account of the absolutistic approach the state is obliged to take a negative attitude towards other states which follow a different pattern of living. But Anekanta broadens the outlook and curbs down the absoluteness of one view. Consequently it helps in fostering international feelings, and in presenting humanitarian solutions of the various problems arising from the lack of sympathetic understanding of other state's views and considerations. It will not be insignificant to point out here that a war is the outcome of onesided clinging, while peace results from the manysided outlook. The latter should not make the state irresolute; on the contrary it should give credence to a synthetic approach, and properly different attune the demands of perspectives.

Lastly, Samyakcharitra credits the state with five other virtues known as non-violence, truthfulness, non-stealing continence, and non-acquisition. We shall now deal with them one by one. First, consummation of non-violence in a state as in the case of a householder is a contradiction in terms. So long as the state exists violence in some form or the other is inevitable. Just as a householder is incapable of eschewing Himsa to an ascetic level, so also the state cannot dissociate itself from violence to an absolute degree, inasmuch as anti-state and anti-social tendencies may continue: and in order to resist the disturbances, the presence of extraneous control is indispensable. Violence will not be international but it will be a defensive weapon. Notwithstanding the compelled use of force, it is an imperative function of the state to create an atmosphere of mention non-violence. We may here that the application of virtue should not be merely confined to human beings, but the subhuman existence is also required to be brought under its purview. Consequently, hunting and slaughtering of animals for any purpose whatsoever should be announced as unlawful. It is against the spirit of non-violence, and sounds as inhuman. Besides, the use of intoxicants, specially wine, should be banned, and a social consciousness is to be developed against the use of these derogatory things. signficance of non-The deeper

violence consists in the elimination of war, which has harassed mankind since the dawn of civilization. War need not be considered a necessity just as Nietzsche. Mussolini and others had thought. Nietzche savs: "For nations that are growing week and contemptible, war may be prescribed as remedy, if indeed they really want to go on living." He declares: "Man shall be trained for war and woman for the recreation of the warrior, all else is folly." "War alone", Munssolini affirms "brings up to the highest tension all human energy, and puts the stamp of nobility upon the peoples who have the courage to meet it,"2 The two world wars have caused huge devastations and sufficient are evidences to prove that the international problems are incapable of being solved by the institution of war. The establishment of international organisation and the tendency towards disarmament are the symptoms of the inefficacy of force, war and violence to act as arbiters among international disputes. The easing of tensions and cessations of conflicts among states, the maintenance of universal peace, and the promotion of human welfare can only be effected by suffusing world's atmosphere with the spirit of non-"Thus the principle of violence. non-violence really implies that life should be elevated altogether from the plane of force to that of reason. persuasion, accommodation, tolerance, and mutual service." Secondly, the

<sup>1.</sup> Radhakrishna, Religion and Society, P. 199.

<sup>2. 1</sup>bid P. 200.

<sup>3.</sup> Beni Prasad, World Problems and Jaina Ethics P. 9.

inter-relations among states should be nourished upon truthfulness. Fraud or deception defiles the spirit of coexistence. The use of slandering and ridiculous speech, and of words which uneasiness, engender fear, arouse excite repugnance and hostility, inflame dolor and intoxicate brawl, should be banished from the conduct of the state. Thirdly, the respect shown by the state for the rights of others constitutes its non-stealing. Colonisation is stealing; hence it should condemned as unwholesome. Aggression and domination are robbery. Hence they must stop. Fourthly, Brahmacharya or continence implies that the state should not dissipate its energies for military organisations and in the manufacturing of nuclear weapons. The wealth and labour of the state should be directed for the upliftment of mankind at large. Fifthly, the virtue of Aparigraha declines to hanker after other state's wealth and territory. The surplus production should be left for the use of other states without any ill-motive. Imperialistic tendencies should be regarded as baneful by the state. The virtue of Aparigraha is a mean between capitalism and communism.

The above treatment of the virtues of the state will oblige us to admit that the state is required for the development of human personality. The individual contributes its share to the state and the latter in turn reciprocates with manifold energy and strength, and affords opportunities for the material and spiritual development of

man. Just as material backwardess hampers the progress of the individual, so also the state becomes impotent without material possessions. But the reins of the horses of materialism should be in the hands of spiritualism. The above mentioned virtues suffice to evolve a balanced outlook in the state. The virtues of non-violence Aparigraha are capable establishing universal peace. Nonviolence cannot be materialised in the life of the state without extirpating the passion of greed. The root cause of violence is material goods. If the importance of the virtue of Aparigraha is understood at the international level, the attitude of non-violence will synchronise.

After dwelling upon the Jaina conception of the individual and society, the possibility of stateless society, and the virtues of the state which are capable of affording solution to the problems of national and international importance, we now propose to deal with the attitude of jainism towards casteism. Jainism looks at casteism with an eye of contempt. The superiority of one caste over the other is foreign to Jaina ethics. Casteism is an evil and is based on the passions of hatred and pride. These two are intense passions, hence they bring about sin to their victims. We find references in the Jaina scriptures which go to prove that merit and not mere birth should be regarded as the real judge of castes traditionally enumerated Brahamin, Kstriya, Vaisya and Sudra. The caste has nothing to do with the

realisation of spirit. The Uttaradhyayana says that Harikesiya who was born in the family of untouchables attained saintly character owing to the performance of austerities. Conduct and not caste is the object of reverence. The Jaina logician Prabhachandra arques in the Prameyakamalamartanda that Brahminism can neither be of soul, nor of body, nor of both nor can it be made dependent upon ceremonies and the study of Vedas, inasmuch as if it belongs to the soul, Kstriya, Vaisya and Sudra will be Brahmins on account of the fact that they also possess souls; if it is ascribed to the body it is not possible to attribute Brahminism to the five constitutive elements of the body just like the pot; if it is granted to both body and soul, it will be fallacious; if it is made dependent

upon ceremonies, the child of an untouchable can also be a Brahmin; lastly, if it is due to the study of the Vedas, any Sudra can be turned into a Brahmin. Thus casteism is grounded in falsity and is purely imaginary. Acharya Amitagati expresses that mere caste is incapable of leading us to any meritorious attainment. Merit accrues from the pursuance of the virtues of truth, purity, austerity, Sila, meditation and spiritual study.

Differences in conduct have resulted in the distinctions of caste. There is only one caste, nemely, manhood. Merit is the basis of caste and the pride of caste destroys right living. If the modern democratic set-up is to be made successful, casteism must go. Casteism and democracy are contradiction in terms.

# महावीर वाणी

कोहो पीइ' पणामेइ, माणो विणय नासणो । माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सन्त्र विणासणो ॥

क्रोध भीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है। माया मिन्ता का नाश करती है और लोभ सभी सद्गुणों का नाश करता है।

# श्रमण संस्कृति की देन

स्मृस्कृति ग्रात्मा को संस्कार की ग्रोर उत्प्रेरित करने वाली ऐसी ग्रद्भुत वस्तु है जिससे न केवल ग्रात्मस्य .सीन्दर्य ही जाग्रन होता है, ग्रपित, वह ग्रन्यान्य तथ्यपूर्ण उपादानों के द्वारा शाश्वत सत्य की भी महती प्रेरणा देती है। संस्कार शील व्यक्तित्व ही सुगठित ग्रीर वलिष्ठ समाज का सुखद सूजन कर मानवता को अनुप्राणित .करता है। महापुष्पों की चिराचरित सावना की सर्वोत्तम परिशाति स्त्ररूप संस्कृति को ग्रातमा का प्रतिविम्ब कहा जाय तो ग्रत्युक्ति न होगी । यह एक ऐसा व्यापक और गम्भीर भाव सम्पन्न शब्द हैं जिसे शब्दों द्वारा परिभापा की सीमा में ग्रावद नहीं किया जा सकता । कला ग्रीर सी-दर्य के समान अन्तरंग पृष्ठ भूमि से देखा जाय ती यह भी एक ऐसी भावाभिन्यक्ति हैं जिसका ग्रानन्द त्रिकाला वाधित हैं। समान को सुनियन्त्रित रखते हुए ब्रात्म तत्व की म्रोर मोड़ने की इसकी चमता ने इसके महत्व की ग्रीर भी डिगुणित कर दिया है। शब्द ग्रीर श्रर्थगम्भीयं की गृहता का ग्रामास व्यक्ति के चेतनाशील ग्राचार द्वारा मिलता है। संस्कृति मूलक ्जीवन व्यक्तित्व के विकास के साय सामाजिक व राष्ट्रीय परम्पराश्रों को सुहढ़ व प्रेरणाशील बनाता है।

उपयुंक्त शब्दावली श्रमण संस्कृति पर यथावत् चरितार्थ होती है जो भारत की स्रति प्राचीन ग्रीर व्यक्ति स्वातुन्त्र्य मूलक परम्परा के स्प में स्थाति श्राजित कर चुकी है। भारतीय ग्राध्यात्मिक संस्कृति के प्रतीकसम उपनिपद् काल से भी पूर्व इसका व्यापक श्रस्तित्व ग्रन्यान्य ऐतिहासिक साधनो से सिद्ध है। श्रमण संस्कृति का साध्य मोच्च रहा है। ग्रतः उसकी संमस्त वाह्य प्रवृत्तियां भी निवृत्तिमूलक ही रही हैं। इस संस्कृति की सबसे बड़ी विशेपता यह है कि यह केवल मानव जगत तक ही सीमित न रह कर प्राणीमात्र के प्रति उदार ग्रीर महा श्रमण वर्धनान श्रमण परम्पराके श्रमदूत श्रोर लोकोत्तर व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति थे जिनकी विचार श्रोर साधना का प्रवाह श्राज भी श्रवाधित गति से वह रहा है। उनका जीवन कठोर साधनाश्रों से भरा पड़ा है। उनकी दीप्तिमान प्रतिभा का प्रभाव श्राज भी जनमानस को प्रकाशित करता है। इस प्रकार श्रमण संस्कृति की विशेपताश्रों पर लेख में विशद प्रकाश डाला गया है।

समान भाव रखती है। श्रिहिसा, संयम श्रीर तपोमय जीवन यापन करने वाले उर्ज्जस्वल ध्यक्तित्व सम्पन्न सावकों ने ग्रानी दीर्घकालिक साधना स्रोतस्विनी से सीचा है। ग्रतः स्वार्थप्रमूत भावना को यहां ग्रवकाश ही नहीं है। यह स्वाभाविक है कि ग्रन्तमुं खी चित्तवृत्ति की ग्रोर ग्राकुष्ट कोई भी उत्कृष्ठ विचार परम्परा ही जनमन में उन्नत स्थान प्राप्त कर सकती है।

श्रमण परम्परा का मन्तव्य है कि ग्रात्मा स्वयं ही साध्य ग्रीर साधन हैं। इसका उत्यान पतन उसकी निमंत्रता व मलीनता पर ग्राष्ट्रत है। उत्कर्ष ग्रपक्षं में ग्रीर कोई साधक वाधक नही है। उत्वकीट के ग्राध्यात्मिक जीवन-यापन करने में वह विना किसी जाति भेद के सवको समान ग्राविकार प्रदान कर सिक्रय ग्रीदार्य की परिचायक हैं। ग्रात्मोपम्य की प्रशस्त भावना इसकी ग्राधार शिला हैं। जीवन ग्रीर जगत के प्रति विशिष्ट हिष्ट के कारण ही शताव्दियों के भीपण संघषं ग्रीर थपेड़ों से ग्राह्त होने के वाद भी वह मरी नहीं। वैयक्तिक स्वार्थमूलक संघषं भी इसकी प्रगति को ग्रवहद न कर सके। विरोध ग्रीर विद्वेष से लड़ती हुई भी

सजनात्मक कार्यों के प्रति ही अपनी दृष्टि बनाये रखी।
आत्मसत्ता के अतिरिक्त और किसी भी तथ्य को वह
स्वीकार नहीं करती। यहां तक कि वह अपने दैनिक
जीवन में ईश्वर तक के दासत्व को अस्वीकार करती है।
स्वावलम्बन ही इसका साघन हैं। सम, श्रम, और शम
ही इसके व्यवहार मूलक जीवन का नैतिक आघार हैं।
व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को श्रमण संस्कृति द्वारा जो समर्थन
प्राप्त हुआ है उससे राष्ट्र को नैतिक चरित्र का बल
मिला है। स्पष्ट शब्दों में कहा जाय लो अल भारत में
संस्कृति नामघारी जितनी भी विचार परम्पराण विद्यमान
है जनमें श्रमण संस्कृति ही एक ऐसी उदात्त विचारो—
तो जक और क्रान्ति समर्थक संस्कृति है जो ययार्थत:
जनतन्त्र का समर्थन करती हैं।

भगवान महावीर—कालिक गण्तान्त्रिक परम्परा के युग में इसका विकास चोटी पर था। यद्यपि उन दिनों साम्राज्यवाद समर्थंक संस्कृति भी म्रस्तित्व रखती थी जिसका म्राघार ऐहिक स्वार्थपरक जीवन यापन करने वाले पुरोहित व कथित पिएडत थे। जो म्रपने को ईश्वरीय म्रवतार घोपित कर जन समाज को पथ विचलित कर रहे थे। वहां व्यक्ति को केवल ईश्वरीय सकेतों पर ही नचाया जाता था। यह स्वाभाविक ही है कि जिस विचार परम्परा में ईश्वर का प्राधान्य हो ग्रीर वह व्यक्ति के प्रत्येक कार्य में हस्तचेप करता रहता हो वहां नैतिकता स्वावलम्बन, चरित्र ग्रीर व्यक्ति स्वातन्त्र्य निमूल्य हो जाते हैं। व्यक्तित्व उभरने की ग्रपेचा कुण्ठित हो जाता है। ग्रीर वहां जनतन्त्र के पनपने की वात ही कैसे सोची जा सकती है?

महाश्रमण वर्षमान श्रमण परम्परा के ग्रग्रदूत ग्रीर लोकोत्तर व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति थे जिनकी विचार ग्रीर साधना का प्रवाह ग्राज भी ग्रवाधित गति से वह रहा है। उनका जीवन कठोर साधनाग्रों से भरा पड़ा है। उनकी दीप्तिमान प्रतिभा का प्रभाव ग्राज भी जन-मानस को प्रकाशित करता है। उनकी वैयक्तिक ग्रनुपम विशेपताग्रों का ग्रालेखन न यहां संभव है ग्रीर न ग्रावश्य क ही। यहां ग्रभीष्ट यही है कि इन्होने मानय संस्कृति के विकास में क्या योग दिया और कौनसा ऐसा ग्रमर संदेश दिया जिसे जनता ने ग्राज भी ग्रपने ग्राचार श्रीर विचार द्वारा सुरिक्ति रखा है।

वीर शासन का वैशिष्ट्य इसलिये नहीं कि इसके अनुयायियों की संख्या अधिक रही थी या है। पर इसलिये है कि इस द्वारा जो प्रेरणाशील संदेश मिला है वह शाश्वत सत्य का प्रतीक हैं। इसका म्राध्यात्नवाद व्यक्तिमूलक होकर भी समाजवाद का समर्धन करता है। भले ही भगवान महावीर की विचार परम्परा परिस्थिति॰ जन्य तथ्यों से प्रभावित रही हो पर वह कई कारणों से त्रिकालावाधित सत्य की कोटि में ग्राती है। उनकी पुरातन देन भी नवीनतम भावनाम्रों का पोपए। करती हुई जनोन्नयन का पथ प्रशस्त कर सर्वोदय का ग्रमर सन्देश देती है। न केवल इससे ग्रात्म सीन्दर्य ही उद्भूत होता है अपित रूचि मानस को विकास संस्कार श्रीर निर्माण की प्रेरणा मिलती है। जीवन का वास्तिविक साफत्य वहीं है जो एक व्यक्ति करोड़ों का चरित्र निर्माण कर सके। भगवान महावीर की यही सबसे बड़ी विशेषता थी । जितना सन्देश उन्होंने शब्दों द्वारा नहीं दिया उनसे कहीं अधिक मूक साघना द्वारा प्रेरणा दी है। वाणी का मीन जीवन का वास्तविक उत्कर्ष किस प्रकार करता है, महावीर का जीवन और कठोर साधना इसके प्रतीक हैं।

जैसा कि सूचित किया जा चुका है कि जनतन्त्र का सच्चा समर्थन श्रमण संस्कृति ने विया है। जिस प्रवार ब्राध्यात्मिक श्रीर सांस्कृतिक चेत्र में इने श्रीदायंपूरणं स्यान प्राप्त है इसी प्रकार राजनीतिक चेत्र में भी प्राप्त है। जीवन के नैतिक श्राधारों के प्रति वह सदेव पूर्णनया वफादार रही है। समत्व मूलक जीवन को ही इनने राष्ट्र का श्राधार माना है। बीर शानन या नव्यत्रिक महत्व श्रीर श्रोदर इसलिए भी रहा है कि भाषा नाहित्व साम्यवायिकता श्रीर श्रनपृश्यता श्रादि पर इनके श्रनुयादियों के विचार उदार श्रीर स्वय्य रहे है। प्राणी मात्र जी श्राध्यात्मिक उच्चता ही इनकी मनो कामना है। समत्य का सिहनाद बीर शानन में आणी गक ही मीनित न रह कर जीवन दी एक हत्यन्य सहस्वपूर्ण धीर साम्यव

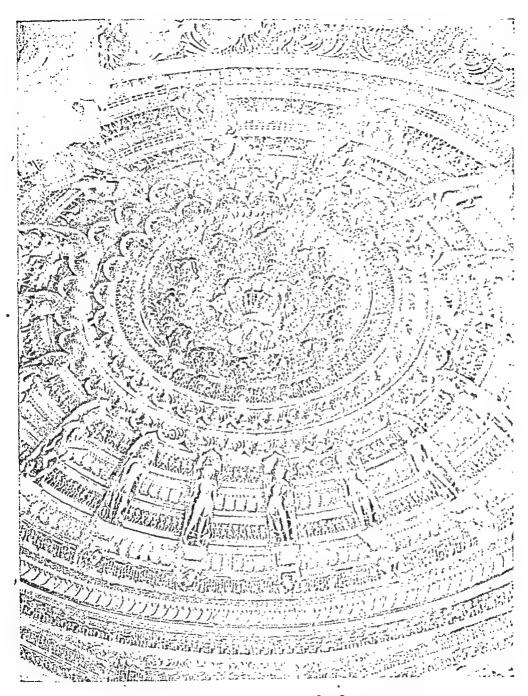
भ्रंग-भूत रही हैं। यह सर्वानुभूत तथ्य है कि जिस परम्परा की धार्मिक भ्रोर ग्राव्यात्मिक नीति जितनी निर्दोप, स्पष्ट भ्रोर विलय्ट होगी जतनी ही उसकी समाज व राष्ट्र परक नीति भी व्यवहारिक व सर्वगम्य होगी। ध्रमण परम्परा में वैयक्तिक उज्ज्वल चरित्र का विशेष महत्व रहा है जिसकी राष्ट्र को ग्राज चड़ी ग्रावश्यकता है। बीर शासन का समस्त हिट्टकोण इसी पर केन्द्रित है। शताब्दियों के साहित्यिक विभिन्न प्रचाह इसी के प्रतोक रहे हैं। श्रद्धापूर्वक ज्ञानार्जन कर संयममय जीवन की भ्रोर प्ररेणा देना ही इसका मुख्य लद्द्य रहा है। व्यक्ति पूजा की प्रपेक्षा गुणपूजा का ग्रावर सदैव से रहता भ्राया है।

#### भाषा-

भापा भावाभिन्यक्ति का सबल सावन रही है तथा वैयवितक नैवच का माध्यम भी। फ्रात्मोन्नयन श्रीपदेशिक उत्तरदायित्व जिन कन्घों पर होता उनका भाषा पर भी स्वतन्त्र हिप्टकोण स्वभावतः ही रहता है। वह अपनी वाणी को केवल वौद्धिक प्रदर्शन में ही सीमित नहीं रखता। वह चाहता है -वागी द्वारा प्रचारित विचार जीवन में ग्राचार का एक ऐसा महत्व-पूर्णं ग्रंग वन जाय जिससे शताब्दियों तक मानवता ग्रनु प्राणित होती रहे। श्रमण संस्कृति का भाषा विषयक श्रीदार्य श्रति च्यापक रहा है। जन भाषा का सदा से इसने ब्रादर किया है। वह इस प्रकार की भाषा से विश्वास करती रही है कि जनता महत्वपूर्ण ग्राच्यात्मिक सिद्धान्तों को अधिक से अधिक सरलता पूर्वक आत्मसात् कर जीवन को उन्नत बना सके, उसी का प्रयोग किया जाय । भगवान बुद्ध श्रीर भगवान महावीर ने अपने सैदान्तिक विचार उस समय में प्रचलित जन भाषा में व्यक्त कर दिङमूढ मानवता को सत्य का दिग्दर्शन कराया वह भाषा थी अर्धमागघी । उन दिनों घर्म के नाम पर केवल संस्कृत पर ही विशेष घ्यान दिया जाता था। इसके विपरीत ग्रहिंसा के इन समर्थकों ने भापा मूलक साम्राज्यवाद को समाप्त कर जो क्रान्तिकारी परिवर्तन किया वह सर्वया जनतन्त्र के अनुकूल था। तात्कालिक

एवं परवर्ती भाषा विषयक साम्राज्यवाद के समर्थकों न इसे नास्तिकों की भाषा से श्रीभहित किया। यहां तक कि नाटकों में निम्न पात्रों द्वारा इस भाषा के व्यवहार की परम्परा का सूत्रपात किया। वीर शासन की साहित्यक परम्परा ने न केवल स्रर्धमागधी स्रादि जन भाषाश्रों द्वारा शतं। व्दियों तक साहित्य सृजन कर मानव को प्रशस्त पथ की मोर मोड़े रखा मितत, वहां की जन-पदीय भाषायों में प्रपने विचार व्यक्त कर मूल्यवान उच्चतम् भावों को सर्वगम्य वनाया । यही कारण है कि श्रमण संस्कृति की इस उदार परम्परा के कारण हीं ग्राज भारत की विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित जनभापा ग्रीर वोलियों के मूल स्वरूप सुरचित मिल जाते हैं। भाषायों के क्रमिक विकास ग्रीर वैज्ञानिक ग्रध्ययन की महत्वपूर्ण यह ऐसी सामग्री है जिसका अन्यत्र मिलना दुर्लम है। भाषा संस्कृति की ग्रभिन्यक्ति रही हैं। यहां पर सप्ट कर दिया जाना ग्रावश्यक जान पड़ता है कि जिस प्रकार संयममय सावनारत जैन तपस्वियों ने अपने दीर्घ कालिक श्रनुभवों को व्यक्त कर लोक साहित्य का श्रनुगमन करने वाली भाषाओं के भएडार की भरा ठीक उसी प्रकार उच्चकोटि के विदृद्भोग्य प्राणवान् साहित्य की रचना में भी पश्चात पद न रहे दलिक ग्रधिक स्पष्ट कहा जाय तो न केवल दार्शनिक ग्रादि विपयों पर ग्रपने वीदिक विशेषता का परिचय ही कराया ग्रपितु ग्रजैन उच्चकोटि के संस्कृति भाषा से गुम्फित जटिल ग्रन्थों पर ग्रपनी म्रालोचनात्मक टीका टिप्पिण्यां लिख कर उन्हें भी सर्व भोग्य वनाने का जो सत् प्रयत्न हुद्या है वह उन्की भाषा विषयकं ग्रीदार्य का परिचायक तो है ही साथ ही उनकी ग्रंसाम्प्रदायिकत्ता से पूर्ण साहित्यिक विशाल वृति का प्रनु-करणीय निदर्शन है।

मध्यकाल में जब प्राकृत, संस्कृत ग्रादि भाषाएं केवल विद्वज्जगत तक सीमित थी उन दिनों जनपदीय भाषाएं उत्कर्ष की चोटी पर थी। गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, मराठी ग्रीर दिक्ति की कन्नड़ ग्रादि भाषाग्रों में जैन विद्वानों ने श्रमण परम्परा के विचारों को व्यक्त किया है। केवल विद्वद् भोग्य भाषा के साहित्य सृष्टा



सभा मंडव के उत्क्षिप्त वितान का भोतरो कलामय हृद्य जैन मंदिर - आवू

•		

जन भाषा में विचार व्यक्त करने में अपना अपमीन प्रशस्त एवं जोग्रत पथ की स्रोर उत्प्रीरित कर सके। समभते थे। मुभे चमा किया जाय वे सैकड़ों हजारों के मनो विनोद के लिये आत्माभिन्यक्ति को मूर्त करते थे जव जैन श्रमण और विद्वान करोड़ों के लिये लिखते ये तभी तो जनता के हृदयसिंहासन पर उनका ग्राजतक ग्रमिट स्थान बना हुम्रा है। जनतन्त्र के विकास में जनभाषा का भी बहुत महत्वपूर्ण योग रहता है। ग्रीर श्रम्ण परम्परा ने सदा से अपना योग दिया है। हिन्दी साहित्य के विद्वानों की तो श्रम्ण परम्परा द्वारा रचित साहित्य का ऋणी होना चाहिये क्योंकि हिन्दी की जड़ ग्रपभ्रंश भाषा है जिसे सर्वाधिक बल श्रमण विद्वानों द्वारा ही मिला है। प्राकृत भाषा की सभी शाखाओं को सभी विषयों से परिपूर्ण बताने का प्रयास एक प्रकार से भारतीय भाषा विज्ञान ग्रीर साहित्य के विकास में श्रमण परम्परा की मौलिक देन हैं।

# साहित्य-

साहित्य का मुख्य लच्य है मानव को देवत्व के स्थान पर प्रतिष्ठित करना । पर श्रमण परम्परां सदा से साहित्य को उस सम्प्रच्चय ज्ञान की परम्परा मानती धाई हैं जो श्रात्मा को राग और द्वेष से मुक्त कर उन्नत वीतरागत्व की भ्रोर उत्प्रीरित कर सके। शान्ति भ्रीर प्रहिंसक जीवन द्वारा मानव में विभेद के प्रकुर नष्ट करने की और प्राणीमान को समत्व की सुदृढ़ पृष्ठ भूमि पर लाने की जो स्फूर्ति प्रदान कर सके, वस्तुत: वही साहित्य हैं। माना यह जाता है कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता हैं पर श्रमण संस्कृति के ग्रन्यायियों द्वारा रचित साहित्य श्रीर वीरवाणी तो यह मानती है कि साहित्य ग्रात्मां का प्रतिबिम्ब हैं। पूर्व प्रवाहानुसार तूतन जीवन तभी तक उत्प्रेरित हो सकता है जब तक उसमें सनातन सत्य का सन्देश हो। सुदृढ़ श्रीर विवेकमय साघना जनित संतों की वाणी भले ही लक्षण ग्रन्थों में निर्देशित परिभाषानुसार साहित्यिक कोटि में न ग्राती हो पर वस्तुत: साहित्य उसी को माना जायेगा जिससे मान-वता की प्रजस्त्र घारा को विग मिले. ग्रीर वह केवल मनोविनोद का साधन मात्र न रह कर आत्म तत्व के

तथा वैर विरोध की भावना का शमन कर ग्राच्यारिमक व अन्तर्मुं सी चित्त वृति की ओर जीवन को गति मान न वनावे । उसी साहित्य में अनिवंचनीय आनन्दोपलव्यि सम्भव है। लोकिक व लोकोत्तर जगत के प्रति समान ग्रास्थावान साहित्य ही जनतन्त्र मूलक परम्परा में जीवित मानव को शान्ति प्रदान कर सकता है। यद्यपि श्रमणों ने ग्रात्मपरक वाणी का ही विस्तार साहित्यिक माध्यम द्वांरा किया है तथापि सामयिक विशेपताश्रों के प्रति भी वे कम जाग्रत नहीं रहे।

श्रमण केवल शब्दों के शिल्पी ही नहीं थे, न केवल वे वाणी द्वारा चिणक दृष्ति का अनुभव कराते हैं, अपितु वे जीवन शिल्पी थे और वासना विपयक वैभव के विच्छेदक होने के कारए। वे शत। व्दियों की साधना एवं संयम् के प्रकाश में लिपि वद होने के कारण उनकी रचनाएं स्पष्टतः शाश्वत सत्य का सुन्दर समर्थन करती हुई सामाजिक वैपम्य को मिटा कर साम्य की धोर हिट्ड केन्द्रित करती हैं। ब्रान्तरिक सीन्दर्य एवं संयम के द्वारा ही वाह्य सीन्दर्य की सृष्टि का कलात्मक तथ्यों का सजन उनका काम है। जिस प्रकार कला सोन्दर्य चाहती है उसी प्रकार साहित्य साधना की अपेद्धा करता है। साधना-हीन साहित्य ग्रीर अनुभव हीन वाणी व्यभिचार-माप है। साहित्य का स्थायित्व उसके शाश्वत मूल्यों पर ग्रवलम्बित हैं।

श्रमणों द्वारा रचित साहित्य इतना विशाल शौर वैविध्य पूर्ण है कि इसकी समीक्षा के लिए पर्याप्त भव-काश अपेक्ति हैं, पर यहां यह कहने का लोभ संबरण नहीं किया जा सकता कि भारतीय साहित्य में मे इमे ग्रलग कर दिया जाय तो वह मत्यन्त न्यून प्रतीत होगा। ज्ञान आत्मा का मूल गुरा होने के काररा धमराों ने इसकी साधना में तनिक भी पद्मपात का सहारा कभी भी न लेकर केवल सत्य के प्रति ही माकृष्ट होकर जानोउनिद्य की सभी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करते हुए भारतीय संस्कृति और सम्यता के मुख को समुख्यन विया है। साथ हो मानवोपयोगी ही नहीं ध्रिपतु प्रत्य प्रास्तियों के

जीवन से संबद्ध शायद ही साहित्य का कोई ऐसा विषय रहा होगा जिस पर जैन विद्वानों ने अधिकार पूर्वक लेखिनी न चलाई हो।

यित इसके विपरीत बहुत से ऐसे भी ऐतिहासिक आदि विपय जिन पर इस परम्परा के लेखकों का एकाधिकार हैं। उदाहरणार्थं ठक्कुर फेरू के ही साहित्य को लिया जाय, इसने गिणत, ज्योतिप और शिल्प विद्या पर तात्कालिक प्रचलित अनुभवों को तो लिपिबद्ध किया ही साथ ही मुद्राविज्ञान जैसे श्रञ्जूते विपय पर भी लेखिनी चला कर यह सिद्ध कर दिया कि ज्ञान विज्ञान के चेत्र मे जैन क्तिने उदार हैं। ठक्कुर फेरू की द्रव्य परीच्चा (रचनाकाल विक्रम संवत् १३७२) इस विपय में संपूर्ण भारतीय साहित्य में एक ऐसी कृति है जो तात्कालिक प्राप्त व प्रचलित मुद्राशों पर वैज्ञानिक प्रकाश डालती है। इसी प्रकार प्राणी विज्ञान पर भी कुछ ऐसी कृतियाँ हैं जो श्रमणों द्वारा ही रचित है।

यद्यपि चित्रकला स्वतन्त्र विषय हैं पर दृष्टि सम्पन्न कलाकारों ने इसे भी साहित्य में समाविष्ट कर लिया है। कलाकारों की भावाभिव्यक्ति का माध्यम भिन्न हैं। कला-•कार शब्दों के सहारे ग्रात्मस्य सीन्दर्य जब व्यक्त करता है तब वह साहित्यकार की संज्ञा से अभिहित होता है, पर जब वही कलापोपक रेखा व रंगों द्वारा प्रकृति प्रदत्त तीर्थों से सीन्दर्य ग्रहण कर भावाभिव्यक्ति व्यक्त करता है तव चित्रकार वन जाता है। श्रमण परम्परा में ग्रभय समन्वय दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार श्रमणों ने ग्रात्मभावों के शब्दों द्वारा व्यक्त किया उसी प्रकार शब्दों द्वारा व्यक्त भावों को रंग ग्रीर रेलाग्रों द्वारा भी स्वष्ट किया। साहित्य के साथ कला की अद्भुत समन्विति श्रमण परम्परा की चित्रकला का सूत्रपात कर भारतीय चित्रकला के क्रमिक विकास की महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तृत की हैं। भारतीय भित्ति चित्र ग्रीर राजपूत तथा मुगल काल की मंग्याविच-युगीन सामग्री या भित्ति चित्र ग्रौर सूचित काल के विकसित चित्रकला की कड़ी श्रमणसंस्कृ-त्याश्रित चित्र सामग्री है।

सतत ज्ञान व साहित्योपासना को श्रमणों ने घर्म का ऐसा महत्वपूर्ण श्रंग बना लिया था जिसके परिणाम स्वरूप ग्राज लच्चाधिक हस्तलिखित प्राचीन साहित्य का दुलंग संग्रह जैन भंडारों में पाया जाता हैं। मारतीय संस्कृति की गीरव गरिमास्वरूप कई महत्वपूर्ण दुलंग कृतियों का इन में समावेश होता है।

साम्प्रदायिकता

साम्प्रदायिकता जनतन्त्र का ग्रभिशाप है। स्वस्य मानव समाज के लिये यह बहुत ही घातक तत्व है। यद्यपि ग्रद्यतन यूग में ग्रपने ग्रापको ग्रसाम्प्रदायिक घोषित करने का फैशन हो चला है पर श्रमण परम्परा में ग्रसाम्प्रदायिकता या पूर्वग्रह वि ीन विचार जीवन के श्रंग के रूप में रहे हैं। सत्र सम्प्रदायों के प्रति वफादार रहना तो सभी का कर्ताव्य होता है पर इसका म्रहंकार इतना बुरा होता है कि "स्व" के प्रति ग्रत्यिक व्यामोह "पर" के प्रति विद्वेष की भावना फैना देता है। श्रमण परम्परा सदा से सत्यानुगामिनी रही हैं। रागद्वेप को नष्ट करना ही श्रमण परम्परा का एक मात्र लद्य रहा हैं। वह अपनी आत्मीन्नति मूलक साधना से रत रहकर भी दूसरों को घृणा की हिट से नहीं देखती। स्थोकि समभाव उसकी नीति नहीं पर घर्म हैं। ग्रहिसा के ग्रालोक में ग्रनेकान्त द्वारा जहां जीवन की व्यवस्था संतुलित हो वहां ईव्यों होप मादि भावनाएं प्रश्रय नही पासकती।

भगवान महावीर ने स्पष्ट घोषित किया है कि किसी भी प्राणी से वैर विरोध रखना हिसा है । धर्म श्रीर संस्कृति के नाम पर होने वाली प्रचएड हिसा के प्रति ही महावीर का विरोधी था, न कि उसे वर्ग के प्रति । वे हिसक विचारों के विरोधों थे न कि किसी वर्ग के । वे कहते थे कि मैं इनका हृदय परिवर्तन करना चाहता हूं। इससे स्पष्ट है कि श्राहसा द्वारा सिचित जीवन ही मानव समाज मे वैर विरोधों को भुलाकर समत्व मूलक शाखा सौन्दर्य की सृष्टि कर साम्प्रदायिकता को समाप्त कर सकता है। भगवान महावीर ने यह कभी नहीं कहा कि मेरे सम्प्रदाय में श्राकर दीचित हो जागी।

जो मैं कहता हूं उसे ज्यों का त्यों स्वीकार करलो, विल्क वे सदा यही कहते रहे कि हृदय-मस्तिष्क संतुलन द्वारा जो जंचे उसे ही स्वीकार कर जीवन में उतारो। बुदिवाद के वे बड़े हामी थे।

महावीर कालिक जनतन्त्र के युग में भी साम्प्रदा-यिक मनोवृत्ति का प्रवाह प्रचएड देग से प्रवाहित था। महाबीर ने इसके विरुद्ध विचार व्यक्त कर म्रात्म तत्व के प्रति समाज का ध्यान आकृष्ट करते. हए कहा कि साम्प्रदायिकता ग्रात्मा का विभाव है, वह 'ग्रहम्' का पोपण करंती है ग्रीर स्वयं का शोषणं । ग्रतः वह हेय हैं। वीरवाणी एवं इसके परवर्ती साहित्यानुशीलन से स्नष्ट विदित होता है कि विराट मानवता के ग्रतिरिक्त चुद्र साम्प्रदायिकता का उसमें कहीं स्थान नहीं हैं। यह श्रमण संस्कृति की जनतन्त्र की बहुत बड़ी देन है। ग्रदातन युग में जनतन्त्र को सर्वाधिक इति पहुँ चाने वाली कोई वस्तु है तो वह साम्प्रदायिकता ही है। समत्वय मूलक युग में घर्म ग्रीर संस्कृति के नाम पर महम् का पोपण करने दाली किसी भी भावना को प्रोत्साहित करना आहम हत्या के समान है। प्रत्येक धमं के प्रति ग्रास्थावान व्यक्ति का यही कर्ताव्य होना चाहिये कि यह. ग्रपनी परम्परा के प्रति पूरा वफादार रहे, पर विरुद्ध परम्परा के प्रति कटुता का प्रयोग न करें। नयोंकि मान्तेप पूर्ण प्रहार हिंसा हैं। इससे विवेक नष्ट होता हैं। विवेकमय जीवन ऋहिंसा है।

# **भ्र**स्पृश्यंता

- श्रमण संस्कृति ने व्यक्ति का उच्चत्व उसके कर्मानु-सार विभक्त किया है। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा है कि व्यक्ति कर्म से ही ब्राह्मण, चित्रय वैश्य और श्रद होता है। जन्मना जातिवाद को प्रश्रम श्रमण संस्कृति ने नहीं दिया, तभी तो चाएडाल कुलोत्पन्न मेतायं मुनि स्रादि प्रणम्य रहे हैं। किसी भी जाति का व्यक्ति उच्च श्राध्यात्मिक पृष्ठ भूमि पर पहुंचने से पूज्यता का स्यांन प्राप्त कर लेता है। जहां संयम द्वारा श्रात्मा को कमों से पृथक करने का सिद्धान्त स्वीकृत हो वहां आतिवाद स्पृश्यास्पृश्य या मानव मानव में विभेद उत्पन्न करने वाली विचार घारा स्थान पा ही नहीं सकती। प्राणीमात्र का मंगल—जैसा उच्च ध्येय श्रमण संस्कृति की जनतन्त्र को एक ऐसी मौलिक देन है जिसकी सदा श्रावश्यकता रही है विशेषकर इस प्रगतिशील युग में।

जनतन्त्र के विकास में अस्पृश्यता न केवल बहुत बड़ी बाघा ही हैं पर मानवता के लिये एक महान कलंक हैं। इन सब वातों के बावजूद भी समभ में नहीं स्राता कि स्राज श्रमण संस्कृति एक वर्ग विशेष तक ही वयों

सीमित रह गई है।

जिसके धार्मिक और सामाजिक विचार इतने उच्च कोटि के हों वह प्रगतिशील युग में क्यो पश्चात पद है ? इसमें कहीं न कहीं बुटि ध्रवश्य जान पड़ती है । मेरी विनम्र सम्मति में वर्तमान जैन समाज ध्रनेकान्तवाद के सिद्धान्त से इतना प्रभावित नहीं जान पड़ता जितना कि उसे होना चाहिये । क्योकि जैन समाज को नगवान महावीर द्वारा ग्राचार और विचार की को महत्वपूर्ण विरासत प्राप्त है, उसे पाकर कोई भी राष्ट्र और समाज गीरवान्वित हुए विना नहीं रह सकता । पर यहां यह स्मराणीय है कि उच्च काटि के विचार य सांस्कृतिक घरोहर जवतक जन जीनव में साकार नहीं होती तय तक उसका महत्व केवल मस्तिष्क तक हो सीमित रहता है ।

में पुनः कहना चाहूंगा कि इस जनतन्त्र मूलक युग में श्रमण संस्कृति के सर्वाधिक प्रचार की प्रत्यन्त प्रायरय-कता है। मस्पृश्यता ग्रीर साम्प्रदायिकता का दिनारा इसी द्वारा सम्भव है। जब तक इस परम्परा का ऐतिहासिक ग्रनुसन्धान समुचित रूप से नहीं हो जाता ग्रीर देवन्तिक चरित्र सुधार की योजनाएं कार्यान्दित नहीं हो जातो तय तक जनतन्त्र का स्वस्य दिकास नहीं हो सकता। ग्रध्यत्त, राजस्यान पुरातत्व एवं म्यूजियम विभाग जयपुर

# जैन चित्रकला का भारतीय चित्रकला को योगदान

स्तिहास जैन चित्रकला का मध्य एवं उत्तर यध्यकालीन इतिहास जैन चित्रकला द्वारा दिया हुआ इतिहास है। १० वीं ११ वीं शती ई० से १५ वीं शती ई० के उत्तराद्ध तक जैन हस्त लिखित अन्यों में स्थान पाने वाले चित्र व पटलियां ही चित्र सामग्री के रूप में चित्र इतिहास के कोप को भरते हैं।

इस काल के वाङमय में भी चित्र कला सम्बन्बी उल्लेख हैं। मागधी प्राकृत की जैन कहानी 'सुरसुन्दरी कहा' (रचना काल १०३८ ई०) में चित्रों के उपयोग के कई प्रसंग मिलते हैं।

इस काल की एक चित्रित जैन पोयी में मूर्योदय का दृश्य है। पर इसमें मानव की आकृति नहीं है।

यही नहीं, इसमें एक उल्लेख मिलंता है कि किसी राज प्रासाद में फर्श पर मीर-पंख का एक ऐसा चित्र वना दिया गया कि राजा उसे वास्तविक समक्त कर उठाने लग गया ग्रीर उसकें नख में चोट ग्रा गई।

प्राक्तत की एक दूसरी कहानी तरंगवती में ऐसा प्रसंग भ्राता है कि तरंगवती का नायक कहीं चला गया। तरंगवती भ्रपने घर में चित्रों का प्रदर्शन करती है कि शायद उसके द्वारा उसका पता चल जावे।

पादिलप्ताचार्यं लिखित यह ग्रन्थ यद्यपि कुछ पहले लिखा गया था पर उसकी पुनरावृत्ति ग्रौर संचे प्रा इसी काल में हुमा था।

वित्हणकृत कर्णसुरदरी एवं हेमचंद्राचार्य कृत त्रिपिटशलाकापुरुपचारित्र से भी चित्र कला के ग्रम्यास की ११ वीं शताब्दी में पुष्टि होती है। भारतीय चित्रकला का मध्य एवं उत्तर मध्यकालीन इतिहास जैन चित्रकला द्वारा दिया हुआ इतिहास है। १० वीं-११ वीं शती ई० से १४ वीं शती ई० के उत्तराई तक जैन इस्तिलिखित प्रन्थों में स्थान पाने वाले चित्र व पटिलयां ही चित्र सामग्री के रूप में चित्र इतिहास के कीप को भरते हैं। प्रस्तुत लेख में जैन चित्रकला के भारतीय चित्रकला को योग पर प्रकाश डाला गया है।

श्वेताम्बर जैन समुदाय के निशीधचूर्णी, अंगसूत्रं, त्रिसिष्टिशलाकापुरुपचारित्र, नेमिनाय चरित्र, क्या रत्नसागर संग्रहर्णीय सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, तथा कल्प सूत्र, कालक कथा आदि ग्रन्थों की ताड़ पत्र पर लिखित ११०० ई० से लेकर १५ वीं शती के मध्य की सचित्र प्रतियों में तथा उसी शैली की कागज पर लिखी १४ वीं शती के प्राय: अन्त तक की प्रतियों में एक शैली विशेष के चित्र पाये जाते हैं जो या तो पश्चिम भारत शैली के कहे गये हैं यां गुजरात की जैनं शैली के ।

इन चित्रों की संस्थिति पर्वंत के शिखर पर है। चित्रकार ने पर्वंत पर बड़े बड़े वृद्धों को स्नितलघु रूप में स्रं कित कर पर्वंत की महत्ता लिखत की है। इन चित्रों के देखने से हमारा घ्यान उन जैन मुनियों पर केन्द्रित होता है जो तत्व चिन्तन में लीन हैं। जैसलमेर के जैन सम्य भएडार में हमें कई स्नूठे चित्रित ताड़पत्र ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें वि० सं० १२१६ का भद्रबाहुस्वामी रचित सचित्र कल्पसूत्र प्राचीनतम ग्रन्थ है। सम्य

चित्रित ग्रन्थों में वि० सं० १२६६ की रची कालका चार्य कथा ग्रीर विं० सं० १२६५ का प्रवचनसारोद्धार वृति सह (नेमिचन्द्र सूरि कृते ) ग्रप्राप्य ग्रन्थ हैं।

बोस्टन संग्रहालय (संगुक्त राष्ट्र ग्रमेरिका में स्थित )
गुहिल तेजितह के शासन काल में कमलचन्द्र द्वारा रिचत
'सवगपदकाननसुत्तचुन्नी' नामक ग्रन्थ को भारत कला
दीर्घा में स्थान देता है। यह ग्रन्थ १२६० ई० का रिचत
है ग्रीर ग्राघाटपुर (मेदपाट दोत्र स्थित) स्थान में रचा
गया था। रास संग्रह का यह ग्रन्थ वोस्टन संग्रहालय
द्वारा १६३० में प्राप्त किया गया था। इस संग्रहालय
में सर्च १४४७ ई० का कल्पसूत्र तथा कालकाचार्य
कथानक एवं १६ वीं शती के कल्पसूत्र एवं कालकाचार्य
कथानक एवं १६ वीं शती के कल्पसूत्र एवं कालकाचार्य
कथा की हस्तलिखित प्रतियां भी हैं। जैसलमेर के जैन
ग्रन्थ भग्हार में चित्रित ग्रन्थों के ग्रतिरिक्त १२ वीं
शताब्दी की पटलियां भी हैं। ये पटलियां जैन हस्तलिखित ग्रन्थों को ढकने का काम देती थीं पर ये भी
चित्रित हुग्ना करती थीं। ये पटलियां कुमुदचन्द्र तथा
देवसूरि कृत हैं।

इस ग्रन्थ, भएडार में प्राप्त १३ वों शताब्दी की भरत व बाहुवली स्वामी वाली, पटली, हंसमिथुन काल-कादि श्रालंकारिक चित्र प्रयोगों के साथ साथ आलंकारिक लिपि को भी स्थान देने वाली हैं।

इस ग्रन्य भएडार में पटलियों के ग्रतिरिक्त १२७७ ई० का चित्रित ग्रन्य उत्तराध्ययन सूत्र तथा वि० सं० १२७७ की वाचस्पति भिच्चकृत न्यायतात्पर्य टीका भी कागद पर प्राप्त हैं।

मेवाड़ में हमें मोकल के शासन काल का देद कुल-वटक स्थान में रचित एवं चित्रित ग्रन्थ सुपसन्ह चरियम भी प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ सन् १४२२-१४२३ ई० का माना गया है।

इन चित्रों में अपभंश शैली की नागर शैली के रूपों को प्रपम्रटट रूप में रिचत रखने की विशेषता पूर्ण रूप से दीख पड़ती है।

जंगल में सरोवर, चतुष्कोण में ग्रद्धं वृत्तरेखायें इस कथन की पुष्टि करती हैं।

इस शैली की मुख्य विशेषताग्रों में उल्लेखनीय चातें ये हैं—

एक ही ढंग से सब चहरों में सवाचश्म का प्रयोग, नाक का परले गान से आगे को निकल जाना, ठुड़ी का अति छोटा और आम की गुठली के ग्रांकार का होना। उनका उससे बहुत टूर तथा ठुड़ी का उभरा हुआ होना, आंखों का पास पास होना आकृति का परवल की खड़े वल कटी हुई फांक जैसी होना, कटाच रेखा का टूर तक बढ़ा हुआ और पुतली का बहुत ही छोटा होना, लिखाई आलंकारिक चित्रों में प्रयुक्त रंगों की संस्था बहुत अत्र जिनमें लांन और पीले की प्रधानता।

जैन ग्रंथों के चित्रों में ग्रचरों के ११ वीं शतान्दी से १५ वीं शती के प्राय: ग्रन्त तक मिलने वाले उदाहरणों में कोई परिवर्तन नहीं मिलता है। इस शैली के चित्र कभी कभी कुपढ़ कलाकारों द्वारा भी बनाये गये। यही कारण है कि उन्होंने ग्रपनी सूचना के लिए पीयियों के हाशिये पर कहीं कहीं चित्रों के विषय निर्देश टांक लिये। इन चित्रों की ग्राकृति विलकुल बंधी होने के कारण कभी-कभी उन चित्रकारों ने उन ग्राकृतियों के कितपय हनी—गिनी रेखाग्रों द्वारा हाशिये पर लिख भी लिया है। ऐसे चित्रों को बीज चित्र कहा गया है। इन चित्रों के सहारे से कलाकार पूरा चित्र वना लेते थे।

बोस्टन संग्रहालय के एक करूप सूत्र के हाशिये पर इस प्रकार से वित्र बने हुये हैं। कभी कभी इन चित्रकारों ने अपनी निरक्तरता के कारण चित्र को चेतुका बना दिया है। यह कहना भूल होगी कि ये चित्र जैन सापुद्रों हारा बनाये गये थे।

प्रायः जैन शैली के प्रधिकांश चित्र श्वेताम्यरीय जैन ग्रन्थों में मिलते हैं।

इन वित्रों में संपुजन एक प्रतंकार के रूप में हुपा है तथा पेड़ों के गुच्छे उनकी घालति प्रादि भी उन प्रतंकार के बीच छोटे छोटेय भित्राय हैं। राजस्यानी शैली की प्रालंकारिता का पूर्वरूप जैन वित्रकता की राजस्यानी चित्रकला को देन है। जैन शैली के चित्र गुजरात राजस्थान ग्रादि में ही नहीं मिले वरन जीनपुर, बंगाल, उड़ीसा ग्रादि में भी मिले हैं। इन चित्रों में शैली जैन या ग्रपन्न श है ग्रीर चेहरे विरूपाद बने हैं। सारे के सारे चित्रों में गिति ग्रीर जीवन ग्रवश्य है।

दिल्ला भारत में भी इस शंली के चित्र १४ वीं शताब्दि तक बने । ११०० ई० से १५०० तक श्वेताम्बर जैन पोथियां जो ताड़ पत्र पर हैं भारतवर्ष तथा बाह्यदेशों में बिलरी पड़ी हैं। ये जैसलमेर, पाटन तथा श्रमरीका के नगर बोस्टन में पाये जाते हैं।

कागद की विशिष्ट प्रतियों में जीनपुर वाला कल्प सूत्र है। स्वर्णाक्तों में लिखा यह कल्प सूत्र प्राजकल वड़ीदा के नर्रावह जानी के पोलवाले ज्ञानमन्दिर में संरक्तित है। वित्रों के सिवा इसके हाशियों के प्रलंकार भी विविध और वड़े ही सुन्दर हैं। ग्रहमदाबाद के मुनि दया विजयजी के शास्त्र संग्रह में - कल्पसूत्र की एक प्रति है जो १५ वीं शताब्दी के उत्तराह्र की है। इस स्वर्णा-क्तरी प्रति में जैन कला उत्तमता एवं ग्रालंकारिकता की पराकाष्टा को पहुंच गई है। पन्द्रहवीं शताब्दी से देश में सांस्कृतिक पुनस्त्यान हुमा और इस व्यापक पुनस्त्यान ने जैन शैली को एक शैली न रख कर कई का सामञ्जस्य इसमें प्राप्त करा दिया। चित्रकला पुस्तकों तक ही सीमित नहीं रही वरन् ग्रन्य क्षेत्रों में भी घर कर गई। किन्तु जैन चित्र कला ग्रव भी जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त हुई और कुछ सुधार के साथ ग्रन्य स्थानों में जैनेतर विषयीं को लेकर प्रयुक्त की गई। इस जैन शैली ने ही १६ वीं शताब्दी में राजस्थानी शैली की चित्रकला में जन्म दे दिया ग्रीर यह शैली ग्रपनी उप शैलियों के साथ कालान्तर में प्रत्येक चेत्र में स्यापित हो गई। १६ वीं शताब्दी से श्रागे जैन शैली भी उन्हों उपकरणों को चित्रकता में प्रयुक्त करती रही जो राजपूत व मुगल शैली के प्रञ्ज थे। जो जैन शैली राजस्यानी चित्रकला का पूर्वहप था वह अब ज़ैन शैली को इतना प्रभावित कर रही थी कि यही जैन पोथियों के चित्रए। में भी स्यान पाने लग गई थी। श्री साराभाई नवाव के संग्रह में उत्तराध्यपन सूत्र की १५६० ई० का है इसका ज्वलंत प्रमाण है। १६ वीं शताब्दी के साथ जैन शैली अपना अस्तित्व खी बैठती है और १७ वीं शताब्दी में पहुंच कर जैन पीयियां एवं चित्र पूर्णं रूप से राजस्थानी चित्र शैली का प्रयोग करने लग जाते हैं।

इस प्रकार से जैन चित्रकला १६ वीं शताब्दी में तथा यन तक सामयिक प्रभाव को स्थान देते हुये भी जैन विषयों को प्रपता विषय बना कर कला का रूप उपस्थित करती है। इसने संङ्कीर्णता का परिचय न देकर प्रपते निजल्ब की न खोकर बीतरागता का परिचय दिया है। ग्रन्त में यह कहना सत्य ही होगा कि जैन चित्रकला की भारतीय चित्रकला की योगदान ऐतिहासिक हिन्द से बहुत महत्वपूर्ण रहा है।



# पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ अध्यत्त जैन संस्कृत कालेज जयपुर

# तीर्थंकर महावीर

न वाङ्मय में तीर्थं कर का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तीर्थं कर का जन्म एक ऐसी घटना है। जिसका प्रभाव सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों पर पड़ता है। इस घटना के समय जगत के सभी प्राणी आनन्द का अनुभव करते हैं। उनकी महत्ता का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि छोटे बड़े सभी लोग कल्याण के मार्ग का अन्वेपण करने के लिए उन्हीं की चरण छाया का आश्रय लेते हैं। महावीर जैन परस्परा के जीबीसवें तीर्थं कर हैं।

### जनमं श्रौर ग्रह त्याग

ईसा से ५६७ वर्ष पहले एवं तेईसवें तीर्थं कर भगवान पारवंनाथ के निर्वाण गमन के १७८ वर्ष परचात् चैत्र गुक्ला त्रयोदशी के दिन विहार प्रान्त के कुएडलपुर ( चित्रय कुएड ग्राम ) में कुमार वर्षमान का जन्म हुगा। उनके पिता सिद्धार्थ एक समृद्ध चित्रय राजा थे। रानी त्रिशला को पुत्र जन्म से जो भ्रानन्द प्राप्त हुग्रा वह वर्णनातीत था। कुमार जन्म से ही स्रतिशय ज्ञानी श्रीर वहादुर थे। जैन शास्त्रों में उनके ज्ञान ग्रीर वीरता की ग्रनेक कहानियां मिलती हैं, श्रीर उन्हीं के कारण कुमार वर्षमान, सन्मित, महावीर, श्रतिवीर श्रादि ब्रनेक नामों से व्यवहृत किये जाते हैं।

उनके सन्मित और महावीर नाम होने का कारण उनके शिशु जीवन की दो घटनायें हैं। एक वार संजय और विजय नाम के दो महिंपयों को सूदम पदार्थों में कुछ शंकाएं उत्पन्न हुईं। वे कुमार वर्षमान के पास प्राये और उन्हें देखते ही उनकी शंकाएं दूर हो गईं। उसी दिन से कुमार की लोग सन्मित कहने लगे। इसी प्रकार जब एक बार कुमार ग्रपने सम वयस्क वालकों के साथ एक उद्यान में खेल रहे थे, प्रचानक एक भयंकर सांप प्राया सारे साथी वालक उसे देखकर हर गये और महावीर के युग मेंहिंसा, सम्प्रदाय-वाद श्रीर जातिवाद भारतीय राष्ट्र की शक्तियों को छिन्न भिन्न कर रहे थे। भगवान ने इन शैतानों को मानव मानस से निकालने के लिये जो श्रविश्रान्त प्रयास किया उसे इतिहास कभी नहीं भूल सकता।

यदि हमें मानवता को वास्तविक श्रीर स्थायी मान देना है तो तीर्थकर महावीर के उपदेशों को जन जन के हृदय तक पहुँचाना चाहिये।

इघर उघर भाग गये, किन्तु कुमार वर्धमान निर्भय होकर सांप के साथ खेलने लगे, इसी घटना के कारण उनका नाम बीर, महावीर ग्रथवा ग्रतिवीर पड़ा।

कुमार को जीवन की लोकोत्तर सुविघायें प्राप्त थीं। वैभव उनके चारों घ्रोर विखरा पड़ा था। वे वैभव के वीच जनमे श्रीर वैभव में ही पले। जो श्रवस्था संसार के ग्रन्य वालक खेल कूद में व्यतीत कर देते हैं उछे उन्होंने चिन्तन में विताया । उनका घ्यान उस प्रस्त, पददलित ग्रीर उत्पीडित मानवता की म्रोर या जो धर्म के पाय एट की चनकी में पिस रही घी मौर रुडि का सरस जिसे सता रहा था, उन पशु पित्रयों की ग्रोर या जो हिंसा की घाणी में पेले जा रहे थे। यह रियति उन्हें सह्य न हो सकी। उन्होंने एक संकल्प किया धीर गाई-स्थ्य के सारे बन्धन काट कर ३० वर्ष की प्रवस्था में जगत का उद्घार करने के लिये निकल पहे। यह दात विजली की तरह सारे बुएड ग्राम में फैल गयी धौर मोग तरह तन्ह ना विचार करने लगे। यद यह समाचार नगदान की माता के पास पहुंचा तो यह कमल खडा की तरह मुरमा गई मीर मृद्ति होकर गिर परी । शीनीव- चार करने से वह किसी तरह होश में ग्राई ग्रीर खड़ी होकर भगवान के पीछे दौड़ी। वह हृदय को हिला देने वाला विलाप करती हुई यह कहती जाती थी—वेटा मैं तुम्हारे विना कैसे रहूंगी। मेरे लाल! मेरी ग्राखों के तारे! मैं तुम्हें दीचा न लेने दूंगी।

भगवान ठहर कर बोले मां तुम क्या कहती हो ? जैसे तू मेरे बिना मेरे इस जन्म के पहले रही वैसे ही अब भी रहोगी। मां मेरा और तुम्हारा संयोग तो चिंगिक है और वह वियोग के लिये ही हुआ है। अगर यह संसारी जान वूसकर अपने प्रेमी से दूर न हो तो अन्त में मृत्यु तो उसे दूर कर ही देती है। उसके सामने तो किसी की भी नहीं चलती।

माता—पर वेटे ? तुम यह तो वतलाग्रो कि इस छोटी सी उम्र में तपस्या के महान उपसर्गों की तुम कैसे सहोगे।

भगवान—मां मैं छोटा नहीं हूं। छोटा वड़ा ग्रवस्था भीर शरीर से नहीं होता। जिसमें साहस भीर धैर्य है जिसमें कतंन्य निष्ठा ग्रीर हढ संकल्प है वह छोटा होने पर भी वड़ा ही है। तू मेरी चिन्ता मत कर। मेरी ग्रात्मा ग्रनन्त वल का खजाना है। ग्रत्यएव वह संसार के वड़े से वड़े उपसर्गों को सहने के लिये समर्थ है। जो कर्म को जीतने के लिये निकलता है उसको तपस्या के उपसर्ग की क्या परवाह है।

माता—वेटं ! तेरी ये वातें मुक्ते नहीं सुहाती । मेरे मार्ग में ग्रन्वकार ही ग्रन्वकार है । मुक्ते कुछ भी दिखाई नहीं देता । मैं तुम्हें न जाने दूंगी मेरी ग्रांखों के प्रकाश ।

भगवान—मां विवेक की ग्रांखों से देख, फिर तेरे मार्ग में ग्रन्थनार न रहेगा। ग्रभी तू मुफे ग्रासक्ति की ग्रांखों से देख रही है, पर ग्रासक्ति तो ग्रन्थी होती है। उससे ययार्थ के दर्शन नहीं होते। उसे तू छोड़ ग्रीर विवेक के प्रकाश से देख। मां वेटे का रिश्ता नित्य नहीं है। हमारा शरीर, हमारा संबन्ध ग्रीर सब हश्य मान जगत स्वप्न है, माया है भ्रम है। संसार की इस मुगमरीचिका में घकान, वेदना ग्रीर ग्राताप के ग्रतिरिक्त ग्रीर कुछ नहीं है। मां ? तू भी मेरी तरह सत्य के दर्शन कर जिससे जगत की ग्रन्।त्मता तुम्हारी समक में ग्रावे। यह कह कर महावीर ग्रांगे बढ़े।

किन्तु राजा सिद्धार्थं ने उन्हें रोक कर कहा—कुमार ठहरो । मेरी वातें सुनो । तुम चित्रयं पुत्र हो । चित्रयं पुत्र का कर्तव्य अपनी प्रजा का पालन पोपएा करना है न कि अपने इस उत्तर दायित्व से विमुख होकर अगल में चले जाना । क्या तुम्हें यह उचित है कि इस बिलखती एवं दीन अन्दन करती हुई अपनी प्रजा को छोड़ कर जंगल में चले जानो ।

महावीर ने पिता की वार्ते बहुत ध्यान से सुनी और वोले—तात । चित्रय पुत्र का कर्तव्य में जानता हूं । वह चतों (दु:खों) में त्राण करने वाला होता है । में अपने इसी कर्तव्य का पालन करने के लिए सब कुछ छोड़कर जंगल में जा रहा हूं। ग्रब मेरे राज्य के थोड़े से मनुष्य मेरी प्रजा नहीं हैं। जगत के सारे प्राणी मनुष्य, पशु, पची, कीट, पतंग, ग्रीर वृद्ध भी मेरी प्रजा हैं। उन सबकी रचा करना मेरा कर्तव्य है।

सिद्धार्थं — कुमार ? इन सबकी रक्षा तो यहां रहकर भी हो सकती है ?

कुमार—तात् ! यह ग्रसम्भव है ग्राप रक्षा ग्रयवा त्राण का ठीक ग्रयं नहीं समभते । मेरे त्राण का ग्रयं ग्राच्यात्मिक है। मैं सच्चे ग्रयं में क्तिय होना चाहता हूँ। सच्चा क्तिय केवल तीर्यंकर ही हो सकता है। ग्राप लौकिक क्षित्रय की वात करते हैं। मैं विश्व की प्रजा को भव बन्धन से मुक्त करने का प्रण लेकर घर से निकल रहा हूं।

सिद्धार्थं — कुमार यह काम तुम्हारे जैसे बच्चों का नहीं है। योड़ी प्रतीद्धा करो श्रीर संन्यास योग्य हो जाबो तब इस जिम्मेवारी को श्रपने कंघों पर रखना।

महावीर—तात् ! इस महा हिंसा, महा विद्रोह श्रीर त्राहि—त्र'हि के भयंकर झातंनाद के बीच में प्रतीद्धा की गु'जाइश कहां है ? कल क्या होगा किसी को कुछ पता नहीं। इस द्याण भंगुर जगत में जो करना हो उसमें कभी विलम्ब नहीं करना चाहिये। मुफे जाने दो मेरे पुनीत कार्य में ग्राप वाधक मत बनो। मेरा कहना तो यह है कि ग्राप भी इन वंधनों को छोड़ कर मेरे साथ चिलये। इसके वाद महावीर ने ग्रपने ग्रन्य वन्धुग्रों ग्रीर उपस्थित सभी प्रजा जनों को भी इसी तरह सान्त्वना देकर उनसे बिदा ली। ग्रीर बड़े ग्रानन्द एवं उल्लास के साथ प्रव्रज्या के कठोर मार्ग को ग्रयनाया।

# तप और केवल ज्ञान प्राप्ति

भगवान महावीर ने बारह वर्ष की लोकोत्तर तपस्या के वाद अपने जीवन के ४२ वें वर्ष में तीर्थंकरत्व को प्राप्त किया। उन्हें लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। यह एक ऐसा ज्ञान है जो वस्तु स्वरूप की सम्पूर्ण गहराई तक पहुंच जाता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद ही कोई तीर्थंकर हो सकता है। आज के २५३० वर्ष पहले तीर्थंकर महावीर। ने अपनी आत्मा की सम्पूर्ण कालिमाओं को घोकर ज्ञान के दिव्य लोक को प्राप्त किया और जन जन के मानस में तीर्थं की पावन धारा बहाई।

भगवान की कल्मपहीन ग्रात्मा में ग्रहिसा की पूर्णतः प्रतिष्ठा हो चुकी थी। हिसा के न्यूनतम ग्रंश को भी वहां रहने के लिए जगह न थी। यही कारण था कि उनके ग्रम्यंतर में विश्व वन्धुत्व का पावन प्रवाह वह रहा था। उनकी ग्रहिसा मनुष्य तक ही सीमित न थी। उसका विस्तार पशु, पत्ती, कीट पतंग, भूंग ग्रीर वनस्पति तक पहुंच गया था। जाति विरोधी जीव भी उनके सानिध्य में परस्पर सौहादं का ग्रनुभव कर रहे थे। शेर ग्रीर गाय नकुल ग्रीर सांप ग्राह जन्म विरोधी जीवों के स्वा-भाविक वैर भी धुल गये थे। केवलज्ञान की प्राप्ति के वाद भगवान का जहां भी विहार होता था ग्रहिसा की इस पूर्ण प्रतिष्ठा के प्रत्यन्न दर्शन होते थे।

#### भगवान की देशना

भगवान महावीर का प्रतिदिन चार वार प्रवचन होता था। संख्यातीत श्रोता इन घामिक प्रवचनों का लाभ मेते थे। उनकी सभा का नाम "समवसरए" या ग्रीर उनके प्रवचनों का नाम देशना । उनकी समवसरण समा
में किसी के म्राने जाने की रोक टोक न घी । वैटने की
व्यवस्था इतनी सुन्दर थी कि मगवान का प्रवचन सुनने में
किसी को किसी प्रकार की वाघा न होती घी । विद्वान,
व्रती और महिलाओं म्रादि के वैठने के म्रलग स्थान पे ।
पशु पत्ती भी उनका भाषण सुनने के लिए माकर वैठ
जाते थे।

भगवान की देशना के मुख्य विषय सर्व जीव समभाव सर्व जाति समभाव और सर्व धर्म समभाव थे। हिसा, साम्प्रदायिकता भीर जाति कुल भ्रादि का महंकार जव तक मन से न हटे धर्म तत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, घर्म का मूल स्त्रीत श्रहिसा है श्रीर वह श्रहिसा मनेकान्त दृष्टि से प्राप्त किये विना प्राप्त नहीं हो सक्ती-प्रादि विषयों पर भगवान के समवसरए। में गहन चर्चायें होती थीं। जगत की अस्थिरता के विषय में भगवान की दिव्यवाणी का सार था कि जो कुछ भी उत्पन्न हुमा है उसका विनाश नियम से होगा । पर्याय दृष्टि से जगत का कोई भी पदार्थ शाश्वत नहीं है। पदार्थ के उत्पादन में ही उसका विनाश छिपा पड़ा है। जन्म के साथ मृत्यु, सम्पत्ति के साथ विपत्ति ग्रीर योवन के साथ जरा लगी हुई है। लद्मी का अभिमान कभी मत करो। वह भाज तक किसी के पास स्थिरता से नहीं रही। जो केवल उसका संचय करता है धौर जमीन में गाड़ कर उसकी रसा करना चाहता है वह मूर्ख है। वह उसे पापाए। वनाना चाहता है।

भगवान के ग्यारह प्रधान शिष्य थे। ये गण्धर कहलाते थे। ये ही भगवान महावीर के भाषणों का संकलन करते थे। इनमें इन्द्रभूति गौनम प्रधान थे। इन्होंने भगवान के भाषणों एवं उनके लोकोत्तर प्राचार एवं विचारों से प्रभावित होकर जैन धर्म धारण किया धा। इनको संबोधित कर भगवान ने प्रनेक जगह धपनी ध्रमूल्य शिद्दायें दी है एक जगह उन्होंने गहा है:—

दुम पत्तए पंहुनए जहा, निवड्ड राटमणाण घरनए। एवं मणुयाण जीवियं समयं गीयम मा पनायए।।

जैसे वृक्त के पत्ते पीने पड़ते हुए समय धाने पर पृथ्वी पर पड़ जाते हैं उसी सरह मनुष्य जीवन भी ( स्रायु शेप होने पर समाप्त हो जाता है ) हे गीतम ! समय भर के लिये भी प्रमाद न कर।

कुसग्गे जह ग्रोस विन्दुए थोवं विठ्ठइ लम्बमाणए। एवं मराप्याण जीवियं, समयं गोयम मा पयायए।।

जैसे कुश की नोक पर लटका हुन्ना ग्रोस विन्दु कुछ ही समय के लिये टिकता है, वैसे ही मनुष्य जीवन भी है। हे गौतम! समय भर के लिये भी प्रमाद न कर। इह इतरियम्मि ग्राउए, जीवियए वहुपच्चवायए। विह गाहि रयं पुरे कडं समयं गोयम मा प्रमायए।।

श्रायु ऐसा ही नाशवान श्रीर स्वल्प है श्रीर जीवन में विघ्न बहुत हैं। पूर्व संचित कर्मरूपी रज को शीघ्र दूर कर। हे गीतम! समय भर के लिये भी प्रमाद मत कर। दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिर कालेण वि सन्व पाणिणां। गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम मा प्रमायए।।

निरचय ही मनुष्य भव बहुत दुर्लभ है श्रीर सभी प्राणियों को वह बहुत दीर्घकाल के वाद मिलता है। कर्मों के फल बड़े गाढ़—तीन्न होते हैं। हे गौतम! समय भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पर्हुरया हवन्ति ते । से सोयवले य हायई, समयं गोयम मा पमायए ॥

दिन दिन तेरा शरीर जीएँ होता जा रहा है, तेरे केश पककर श्वेत होते जा रहे हैं और तेरी इन्द्रियों (कान, ग्रांख, नाक, जीभ ग्रोर शरीर) का वल घटता जा रहा है। हे गौतम। तू समय भर के लिये भी प्रमाद न कर।

इस प्रकार भगवान के सब भाषण उस समय की लोक भाषा श्रद्ध मागबी प्राकृत में होते थें।

इस तरह भगवान ३० वर्ष तक भारत के विभिन्न भागों में अपनी देशना का दिव्यामृत भक्तों को निलाते रहे। उनका विशाल संघ, जहां भी वे जाते थे उनके साथ रहता था। उनके युग में हिसा, सम्प्रदायवाद ग्रीर जाति वाद भारतीय राष्ट्र की शक्तियों को छिन भिन्न कर रहे थे। भगवान ने इन शैतानों को मानव मानस से निका-लने के लिए जो ग्रविधांत प्रयास किया उसे इतिहास कभी नहीं भूल सकता। किन्तु उस ग्रमर देशना की ग्राज भी न केवल हमारे देश को ग्रपितु सम्पूर्ण विश्व को उसी प्रकार ग्रावश्यकता है जिस प्रवार महावीर के युग में थी। यदि हमें मानवता को वास्तविक ग्रीर स्थायी मान देना है तो तीर्थंकर महावीर के उपदेशों को जन जन के हृदय तक पहुंचाना चाहिए।

# भगवान की मुख्य शिक्षाएँ ये हैं

- (१) जगत के सब जीव बरावर हैं, कभी किसी को मनसा, वाचा, कमंगा, पीड़ा न पहुंचाश्रो।
- (२) जगत के सब धर्मों को गहराई से देखों। उनमें समन्वय की भावना रखों, ब्राग्रह नहीं, क्योंकि ब्राग्रह ही विग्रह पैदा करते हैं।
- (३) जाति ग्रीर कुल ग्रादि किसी भी वस्तु का ग्राभिमान मत करो। ग्रादमी जन्म से नहीं कर्म से वड़ा होता है।
- (४) घन का संग्रह मत करो, किन्तु उसका पात्रों में वितरए। करो।
- (४) सम्पूर्ण जगत के साथ सत्य और स्वच्छ व्यव-हार करो।

इस प्रकार जगत को कल्यामा मार्ग का निर्देश करते हुए भगवान महावीर ने ७२ वर्ष की अवस्था में आज के २५६० वर्ष पहले विहार की "पावानगरी" में निर्वामा प्राप्त किया।

# <mark>श्री प्रवीणचंद्र जैन</mark> प्रॅसिपल हूंगर कालेज, बीकानेर

# जैनधर्म के प्रति एक दृष्टि

भारतीय संस्कृति की लम्बी कहानी है। यह ऐसी कहानी है जिसे पढ़ कर किसी भी विचारवान गनव का सिर गौरव से उन्नत हो सकता है, कोई भी भावुक उसके प्रति श्रदावनत हुए विना नहीं रह सकता । ग्रारम्भ से नेकर ग्रब तक की इस कहानी में मानवमात्र के सुन्दर वेचारों ग्रीर लोक हितकारी कामों को यथेष्ठ ग्रादर मेला है। निर्भयता के साथ विचारों को प्रस्तुत करने की तथा निस:ङ्गता के साथ कर्म करने की जो स्वतन्त्रता मानव को है उसे यहां पूरा प्रश्रय मिला है। इसीलिए भारतीय संस्कृति त्याग-प्रधान, सिहब्स्युता-प्रधान तथा समन्वय प्रधान है। इन गुणों के कारण इस संस्कृति का विशिष्ट स्वरूप है। उद्भ्रान्त एवं पय-भ्रष्ट मानव को इससे सदा ही सम्बल मिला है। उसके मन में निराशा के स्थान पर स्राशा का संचार हुन्रा है। कल की गलती को उसने ग्राज नि:संकोच भाव से मान लिया है, ग्रौर म्रागे के लिए उसकी प्रगति का, विकास का, द्वार खुल गया है।

इस संस्कृति के निर्माण में भारत के सभी घर्मों का चाहे वे इस देश की ग्रीर चाहे वे विदेश की उपज हैं, परम प्रशंसनीय योग रहा है। सभी घर्मों ने मानव के चरित्र को पावन से पावनतम एवं प्रशस्त से प्रशस्ततम बनाया है। घर्मों के इस ग्रनुदान से न केवल मानवों की अपितु प्राणीमात्र की मूलभूत एकता का दशंन हुग्रा है। देश भीर काल की सीमाग्रों से ग्रतीत तात्विक एकता, समता तथा वन्चुत्व की भावना के प्रकाश में भौतिकता के तम से पराभूत मानव को एक दिशा मिली है। नर—भव की उच्चता की स्थापना हुई है। दिव्य एवं दानवीय प्रवृत्तियों पर प्रंकुरा रख कर मानव उस सुख का अधिकारी हुग्रा है जिसे परमानन्द, निर्वाण, मुक्ति घादि नामों से वार-

इस संस्कृति के निर्माण में भारत के सभी धर्मों का चाहे वे इस देश की और चाहे वे विदेश की डपज हैं, परम प्रशंसनीय योग रहा है। सभी धर्मों ने मानव के चरित्र को पावन से पावनतम एवं प्रशस्त से प्रशस्ततम बनाया है। धर्मों के इस अनुदान से न केवल मानवों की अपितु प्राणीमात्र की मूलभूत एकता का दर्शन हुआ है। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने जैन धर्म पर आधुनिक हिंद्ट से विचार व्यक्तिया है।

वार श्रभिहित किया गया है।

माज में जैन घमं के अनुदान को अन्य घमों के सम-न्वय प्रधान परिवेप में प्रस्तुत करना चाहता हूं। इन पंक्तियों को लिखते समय मेरे मन में जैन घमं की उच्चता का अथवा अन्य घमों की हीनता का भाव घणुमात्र भी नहीं है। हां, यह भाव तो अवस्य है कि जिस प्रकार अन्य घमों ने मानवता का उपकार किया, उसी प्रकार जैन घमं ने भी अपना महत्वपूर्ण योग मानवीय गुर्णों के विकास—कार्य में दिया है। इस घमं के सिदान्तों में भी वही जीवन—तस्व प्रतिष्ठित है जो अन्य घमों में है। जैन घमं स्वयं स्याद्वादनय के सहारे दूनरे घमों के वैशिष्ट्य को मानता रहा है। जीवन के भीतिक रूप तो प्रपनी अपनी आवश्य कताओं और मर्यादामों के अनुनार प्राय: सभी देशों में अलग-अलग रहे हैं, और इस पापंत्र के कारण शासाओं तथा सम्प्रदायों का जन्म हुमा है। शानाओं तथा सम्प्रदायों में जो धनिष्ठता अपना संकीर्णंता होती है उसका दर्शन जैन सम्प्रदायों श्रीर उनकी शालाश्रों में भी निरन्तर देखा जा सकता है। यह एक तथ्य है, इससे मैं इनकार नहीं करता बल्कि यह कहना चाहता हूं कि यह तो स्वाभाविक है, नहीं होना एक श्रस्वाभाविकता है, जो चल नहीं सकती। पर जैन तीर्थं करों श्रीर उनके उत्तरवर्ती श्राचार्यों ने जहां जीवन के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, उसके विकास की बात कही है, उनकी दृष्टि प्राय: व्यापक ही रही है। ऐसा करते समय उन्होंने एक वैज्ञानिक की भांति देश श्रीर काल के श्रथवा समाज या वर्गों के श्रारोपित वन्धनों को स्वीकार नहीं किया है।

पहले जैनों के प्रार्थना-मन्त्र को ही लें ! इसे हम एामोकार मन्त्र कहते हैं। इसका जप मन्त्र की तरह किया जाता है। शक्ति-संग्रह के लिए इस मन्त्र में हमारी पूर्ण निष्ठा ग्रमिव्यक्त होती रही है। इस मन्त्र में सिद्ध से लेकर साधक तक की कोटियों के सारे विकास-मार्ग के पथिकों के लिए नमस्कार है। विकास की चरम स्थित को प्राप्त स्थित प्रज्ञ योगिराज ग्रहंत कहलाते है, वे स्वयं तो प्रबोधमयी स्थिति में रहते ही हैं, दूसरे प्राणियों को भी विकासीम्मुख करते हैं। उनकी देशनाएं धर्म-चक्र को प्रवर्तित करती रहती हैं। दूसरी स्थिति होती है सिद्धों की जिन्होंने अपने चरम पुरुवार्थ की प्राप्त कर लिया है। वे स्वयं देशना नहीं देते, किन्तु उनके गूणों का चिन्तन मानव के लिए श्रागे वढ़ने में स्फूर्तिमयी प्रेरणा का रूप घारण कर लेता है। तीसरी स्थिति में वे सावक ग्राते हैं जो अहं त एवं सिद्ध के ग्रादशं की ग्रपने सामने रखते हुए ज्ञानाचार श्रादि पांच श्राचारों की व्यवस्था के साथ लोक के समन्न उसके हित की हब्टि से प्रस्तृत करते हैं। अपने ज्ञान और अनुभव की साची में सिदांतों की भापा देते हैं। चौथी स्थिति उन साधकों की होती है जिनमें याचार्यों के ग्रात्ते वासी समाविष्ट होते हैं, उन्हें उपाध्याय कहा जाता है। ये उपाध्याय ऋहें त्-प्रतिपादित ग्रीर ग्राचार्य-सिद्धान्तित धर्म के स्वरूप को समभते श्रीर फिर उसकी व्याख्या करते हैं। इनका मुख्य कार्य अपने संघ स्थित मुनियों को नाना विध वाङ्मय का ग्रध्ययन फराना है। पांचवीं स्थिति भी साधकों की ही है। इस स्थिति में शेप समस्त सायुजन धाते हैं जो ध्रपने विकास के साथ साय लोक के विकास में प्रवृत्त हैं। इस प्रकार इस मन्त्र में ग्रहें त्, सिद्ध, ग्राचार्य, उपाध्याय एवं सर्व-साधुप्रों को जो नमस्कार किया गया है, उसमें उन सारे व्यक्तियों के प्रति विनति का भाव है जो विकास में ग्रास्या रख कर प्रगति के साथ ग्रांगे वढ़ रहे हैं या सर्वोच्च स्थिति की प्राप्त कर चुके हैं। समाज में 'सु' का प्रतिप्ठापक संपूर्ण जीवन-तत्त्व इन पांच स्थितियों में समाहित है। इस मन्त्र में व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं, संप्रदाय विशेष का श्राग्रह नहीं है, तथा विकास के श्रतिरिक्त श्रंथ किसी कामना या एपएग के इसमें कहीं संकेत नहीं है। सब स्थानों में ऐसे सिद्धों श्रीर साधकों का महान व्यक्तित श्रमिव्यक्त हुन्ना है, श्रीर होता रहेगा। जैनों का यह महामन्त्र सर्व घर्म समभाव को लिए हुए है भीर इसमें विनय की चरम अभिव्यक्ति हुई है। यह मन्त्र किस को ग्राह्य नहीं होगा ? कौन इसका जप नहीं करना चाहेगा ?

मुक्ति का सिद्धान्त सभी घर्मों को मान्य है। वैदिक एवं उत्तर वैदिक घमों में ग्रहङ्कार के विलय को मुक्ति कहा गया है, चाहे वह ज्ञानमार्ग से हो, चाहे भक्ति मार्ग से। गीता ने इस स्थित को स्थित प्रज्ञता की संज्ञा दी श्रीर उसकी प्राप्ति के लिए प्रनाशक्ति-योग का, कर्म-योग का, उपदेशं दिया । एक व्यापक चिर-तत्व की प्रतुभूति को विभिन्न रूपों में वैदिक घमों में मह नों, सिदों, माचामी, जपांध्यायों एवं शेप सभी साध्यों ने कहा, गाया श्रीर अपने अपने कर्मों में उसकी अवतारणा की। इस्लाम की मुक्ति का ब्रादर्श भी ईएवर की सर्व व्यापक एवं सर्वोच्च सत्ता के स्वीकार में ही निहित है। जो ईश्वरीय नियमों को पहचानकर उनका पालन करता है, वह ईश्वर के सान्निध्य को पाता है, ईश्वर ही हो जाता है। व्यापक तस्व का यह साम्रात्कार ईश्वर ही का साम्रात्कार है, भीर साचारकार ही मुक्ति है। यहूदी लोग भी यही मानते आये हैं। जैसे शरीर में आत्मा का अधिवास है, वैसे ही ईश्वर में ईश्वर का। जैसे झात्मा का स्वभाव ध्रमूतं होते हुए व्यापकता है, वैसे ही ईश्वर का स्वरूप भी प्रमूर्त एवं सर्वेण्यापक है। इस व्यापकता की अनुसृति ही मुक्ति है।

वीद जब अपने आपको ब्रह्म, महाब्रह्म और सर्वोच्च कहता है तो इसका अर्थ भी व्यापकता की अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिया जा सकता। सिखों का अकाल ब्रह्म रूपवान होते हुए भी रूपातीत है। वह सर्वोच्च है, सर्वातीत है। यहां भी व्यापकता की अनुभूति ही मुक्ति है। इसी व्यापकता की अनुभूति को जैनघर्म में भी निर्वाण कहा है। आत्मा का अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य तथा अनन्त मुख आदि अपने स्वरूप को प्राप्त होना ही तो मुक्ति है। यह अनन्तता क्या है? यदि हम गहराई से देखें तो यह भी एक प्रकार से व्यापकता की ही अनुभूति है। अनन्तता की उपलिच्च, अथवा उसका भान, वन्चनों से मुक्त होने पर ही होता है। कर्म-बन्चन से मुक्त होना ही तो मोन्न है।

ग्रतः मानव-जीवन का उद्देश्य थोड़े हेर-फेर से प्रायः सभी घर्मी में एक ही है। जैनधर्म ने भी मोच ग्रयवा व्यापकता की ग्रनुभूति को ही परम पुरुषार्थ कहा है।

इसी व्यापकता का दर्शन मानव मात्र को ग्रपना वंधु मानने से आरम्भ होकर समस्त चित्-तत्व को श्रर्थात् प्राणि मात्र को अपना बन्धु मानने की अवस्था तक होता रहता है। इसके आगे तन्मयता की स्थिति होने से जाता और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। मिट ही जाना चाहिए। ऋग्वेद में एक जगह कहा गया है तुम में कौन ऊंचा ग्रीर कीन नीचा ? इसलिए सब मिलकर यत्न करो, समृद्धि को पाग्रो । उपनिषदों में एक ही विश्वात्मा को नाना शरीरों में विभक्त कहा गया है। पुराणों में विश्वात्मा को सर्वाच्च मानकर समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम-भाव फैलाने का उपदेश दिया है। हितोपदेश का नीतिकार समस्त वसुषा को एक कुदुम्ब मानता है। मुह्म्मद साहव का कहना है-याद रखो कि तुम सब भाई-भाई हो। सारे मानव ईश्वर की हष्टि में समान हैं। वाइवल में मानव-जाति को ईश्वर की प्रतिकृति अथवा प्रतिमूर्ति कहा है। यहूदी कहते हैं-मानव मात्र का पिता एक है। वही सब का सर्जक है। तो फिर, एकं भाई दूसरे भाई के साथ विश्वास-धात क्यों करे ? सिखों की गुरुवाणी है-

राष्ट्रीयता व्ययं की चीज है, नामों का मेद व्ययं है। तथ्य तो यह है कि सारे प्राणियों का मूल एक है। शिन्तों धर्म वाले कहते हैं—सारे मानव भाई हैं। सब को एक ही ईश्वर से वर मिलते हैं। इस संसार में कोई पर नहीं हैं। विश्ववन्युत्व का यही भाव जैनवमं को भी मान्य है। जब जीव किसी भी योनि को धारण कर सकता है, जब उसका लक्षण एक है तो किर भेद-भाव कैसा? मादि पुराण के इस कथन में ऊपर जो कुछ कहा गया उसका मानो सार है—समता की भावना रखकर प्रपना कर्तव्य करो। वही कार्य सर्वेत्तम है जिससे समस्त प्रात्मामों की समता प्रतिष्ठित होती है। मानवता तो एक ही है, जाति, वर्ग तथा वर्ण ग्रादि के भेद कृतिम हैं, नश्वर हैं।

विश्व-बन्धुता का सहायक तत्व है हृदय में उत्पन्न होने वाला प्रेम-भाव। भाव से ही सेवा की उत्पति होती है। भावना कर्म की जननी है, श्रीर श्रेष्ठ कर्म वह है जो कर्ता को विनय शील बनावे श्रीर जिसके लिए वह किया गया है उसे वह अधिकाधिक ग्राह्य हो। इस प्रकार प्रेम श्रीर सेवा विश्व-बन्धुत्व के ही दो पत्त हैं। सभी धर्मों ने इन पन्नों को मुक्त हृदय से स्वीकार किया है। महिंद व्यास ने कहा है-जो समस्त प्राणियों का नित्र है भीर जो भन, वचन और कमें से अनके हित में रत है, यही धमें के रहस्य का ज्ञाता है। घयवंवेद का यह कथन कितना प्रेरणा मय है-हम आपस में प्रेम भाव रखें, आपस में प्रिययचन कहें। इससे हमारा जीवन मधुर होगा घीर हम सब अपने दुखों भीर सुखों को बांट लेंगे। भी कृष्णा ने गीता में कहा है-नो किसी भी प्राणी के प्रति पृणा का भाव नहीं रखता, सब के प्रति मित्रता का मात्र रखता है, दयालु है, वही मुक्ते सर्व प्रिय है। इस्लाम मानता है, ईश्वर की समस्त सृष्टि उसका परिवार है। जो व्यक्ति इस परिवार ने प्रेम करता है, उसकी सेवा करता है, वही तो उसका प्रिय है। ईसा मसीह ने कहा मा-हदयों को जीतने का उपाय प्रेम है, घीर प्रेम के प्रवाधन का सर्वोत्तम सायन है मानवमात्र की सेदा 1 गुढ नानक का कहना है-जीवन तो उसी का है जी प्रेम करता है। शरीर भी वही सार्यंक है जी मानवता की ऐया में काम म्राता है। कवीर माला, जप, जीग म्रादि की उसके लिए म्रावश्यकता नहीं समभते जिसका जीवन प्रेममय है, सेवामय है, त्याग म्रीर वैराग्यमय है। यहूदियों के धमं ग्रन्थ में लिखा है—धमं का सार है प्रेम, ग्रीर कमं का सार है सेवा। धम्मपद का सन्त कहता है वही मानव सुखी है जो विशव में सब को प्यार करता है। जो भी उसके सम्पर्क में ग्राता है उसकी सेवा करता है। जियदर्शी म्रशोक पूछते हैं—धमं क्या है? स्वयं ही उत्तर देते हैं-परहानि से विरत रहना, परोपकार में रत होना, प्रेम, दया, सत्यता तथा स्वच्छना, इन भावों को जीवन में उतारना। प्रेम भीर सेवा की महत्ता को जैनघमं में भी पूर्णतः प्रतिष्ठित किया गया है। प्राणि मात्र के प्रति मैत्रीभाव को जीवन के सभी व्यवहारों की म्राधार-शिला कहा गया है। यदि अपने जीवन के दान से भी किसी का लाभ हो. सके तो मानव को अपना जीवन सहपं दे देना चाहिए।

वाइवल में आचरण के विषय में एक सुनहरा नियंम है-वह यह कि मानव अपने पड़ोसियों से उसी प्रकार प्रेम करे जैसा वह स्वयं से करता है, ग्रीर उनके साथ वैसा ही माचरण करे जैसा वह मपने प्रति दूसरों से चाहता है। म्राचरण के सम्बन्घ में इससे उत्तम मापदर्ड प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। महाभारत में कहा गया है कि जो वात तुम्हें प्रतिकूल लगे वह वात तुम दूसरे के प्रति मत करो । मुहम्मद साहव का कथन है-सर्वश्रेष्ठ धर्म है, जिसे तुम अपने लिए प्रिय समको उसी का आवरण दूसरों के लिए करों। जो तुम्हें दुखदायी है, वह दूसरों के लिए, भी वैसा ही है। यहूदियों का यह कथन मर्मस्पर्शी है, तुम यह चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ अमुक प्रकार का व्यवहार न करें, तब तुम उनके साथ क्यों वैसा व्यव-हार करते हो ? उदानवर्ग में ग्राता है, जिससे तुम्हें कष्ट पहुंचता है, उससे तुम भी दूसरों को कष्ट मत दो। गुरु ग्रंगद ने ग्रपने शिष्यों से कहा था, तुम जैसा व्यवहार ग्रपने लिए चाहते हो, वैसा ही व्यवहार तुम दूसरों के प्रति भी करों। मत करो वह काम, जिसे तुम अपने लिए ठीक नहीं समभते । कनफ्यूशस का यह वाक्य स्मरणीय है-दूसरों के प्रति तुम वह काम न करो जिसे

तुम अपने प्रति किया जाना पसन्द नहीं करते । अगरं तुमने प्रतिकृत आचरण किया तो निश्चय ही तुम्हारा व्यक्तिगत एवं सार्व जानिक (सामाजिक) जीवन संकटपूर्ण हो जायगा । अरस्तू ने भी अंगद की भांति अपने शिष्यों से कहा था, अपने मित्रों के साथ तुम्हें वं सा ही आचरण करना चाहिये जैसा तुम उनसे चाहते हो । इस सारी पृष्ठभूमि में जैनवर्म के इस वायय को देखा जा सकता है—सुख में, दुख में, हुपं में, विपाद में हमें सारे जीवों को अपनी स्वयं की साद्यी में देखना चाहिये, तभी हम दुराचरण से वच कर दूसरों को उस दुख से वचा सकेंगे जो यदि हम पर घटित होता तो हमें दुखी बनाता ।

श्रहिसा श्रीर समा का प्रतिपादन सभी धर्मी ने किया है। इनका स्थूल से स्थूल तथा सुदम से सुदम विवेचन मानव ने प्रपनी योग्यता ग्रीर क्षमता के ग्रनुसार किया है। यदि ग्रहिंसा एक भाव है तो चमा तज्जनित एक कमं है। मानव मात्र के लिए श्रहिसा एक संक्रामक भाव है। कोई उसके अनुभाव से वच नहीं सकता। महाभारत में प्रहिंसा को उच्चतम कर्तव्य माना गया है। उससे भी पहले वेदों में कहा गया था, हिसा का जवाब हिसा से न दो । प्रहार ग्रीर ग्रिभशाप पाकर भी शुभ कामनाग्रों की वर्पा करो । इस्लाम धर्म में कहा गया है कि सच्चा मुसलंमान वही है जिसके वचन और कम की मधुर एवं शीतल छाया में मानवता सुरिचत है। अब्दुल्ला अन्सारी ने कहा था, तुम फूल बनो, कांटा नहीं; तुम मित्र बनो, शत्रु नहीं । एक बार ईसा मसीह अपने कुछ शिष्यों के साथ एक ऐसे व्यक्ति के पास से गुजरे जो उन्हें देखते ही जोर जोर से गालियां देने लगा। जीसस ने जवाब में केवल यही कहा, ईश्वर तुम्हें सद्वृद्धि दे।' तुम्हारा भला करे। शिष्यों ने आश्चर्य से गुरुदेव की ग्रोर देखा ग्रीर पूछा, इसने तो ग्रापको गालियां दीं, ग्रापने उसे ग्राशीर्वाद क्यों दिया ? मसीह ने हंसकर संद्येप में कहा-जिसके पास जो होता है वही तो वह दे सकता है। इसा का यह उदाहरण कितना मर्म स्पर्शी है। बुद ने एक बार कहा था, घूंणा से घूंणा नहीं हटती, क्रीय से क्रीय नहीं हटता उसका यमन तो ग्रहिंसा से ही होता है। गुरु मणुन भे

100

भ्रपने शिष्यों से कहा, यदि तुम वास्तविक सुख चाहते हो तो किसी भी प्राणी की हिंसा न करो। जापान में एक कहावत है, तुम उस वृद्ध के समान बनो जो उसे हिलाने वाले के हाथों को फूलों से ढंक लेता है। महात्मा गांधी का जीवन तो श्रहिंसा के, दामा के प्रयोगों से भरा पड़ा है। इस सबसे हम यह अनुमान करते हैं कि अहिंसा ग्रीर चमा की महिमा सर्वत्र गायी गयी। ग्रहिसा के प्रति अहिंसा अथवा चमा के प्रति चमा का व्यवहार भी एक बड़ी बात है, भीर उससे भी बड़ी बात है अहिंसा के वातारए में, क्रोध और रोप की लपटों से चारों ग्रोर घिरा हुया मानव सब कुछ सह जाय श्रीर जवाव में मुसकुरा कर कह दे, भाई, खुश रहो। शान्त होकर देखो हिंसा के अतिरिक्त और भी बहुत से काम हैं जिन्हें तुम कर सकते हो-। जैन घर्म तो अहिंसा का ही घर्म कहलाता हैं। दुनियां ने उसे इसी रूप में जाना पहचाना है। सच तो है यह। इस घर्म में ग्रहिंसा की जीवन-व्यापी समीचा है। भगवान महावीर ने कहा था, मन, वचन मयवा कर्म से या तीनों से की गयी, करायी गयी अयवा अनुमोदित हिंसा से दूर रहो। इसके लिए संयम का स्रभ्यास करो । तुम देखोगे कि तुम्हारा कुछ नहीं विगड़ा है। ग्रौर जिसने तुम्हारा विगाङ किया है वह भी ग्रपने किये पर पछता रहा है श्रीर उसने अपना मार्ग वदल लिया है। म्रहिंसा ही तो वह सर्व श्रेष्ठ भाव है जिसे परमानन्द या ब्रह्मानन्द कहा गया है। एक सूत्र में मानव की इस भावना को वड़ी सुन्दरता से कहा गया है - मैं सव जीवों को चमा करता हूं : ( उनके ग्रस्तिव को स्वीकार करता हूं), वे भी मुभे चमा करें (मेरे ग्रस्तित्व को सहन कर लें )। (सह ग्रस्तित्व को स्वीकार कर लेने के कारण ) मेरे मन में सब के प्रति मंत्री भाव है, किसी के प्रति मेरी शत्रुता नहीं है। यदि जरा घ्यान से देखेंगे तो समभ में आ जायगा कि अहिंसा और चमा एक ही बात को कहने के दो शब्द हैं, वस्तुत: वे एक ही हैं। यह भी कह सकते हैं कि श्रहिसा माता है और चमा उसकी पुत्री है और अहिंसा में ही सत्य, अवीयं, ब्रह्मवयं तथा धपरिग्रह भ्रादि समस्त गुणों का समावेश हो जाता है।

सदाचार के ऐसे अनेक पहलू और हैं जिनका वर्णन सभी घर्मों में मिलता है। ऊपर तो कुछ उदाहरण ही प्रस्तुत किये जा सके हैं। इससे घर्मों के प्रति ग्रादर भाव उत्पन्न हो सकता है। मैं तो केवल यही वहना चाहता हूं कि सभी घर्मों में मानव को ऊंचा उठाने की समता है। ग्रव केवल जैन घर्म के ही सम्बन्ध में एक दो वातें और कहना चाहता हूं।

जैन घमं ने जिसे मोच कहा, उसको पाने का मागं भी बड़ा प्रशस्त बताया। उसे मुफ्त जैसा ग्रल्य-बुद्धि मानव भी इस तरह समभ लेता है। पहले यह संवल्प करो कि जो कुछ तुम करोगे ग्रन्छ। करोगे । सत्-संकत्नी वनो । संकल्प करते ही तुम्हारे सामने भले पौर वुरे सभी प्रकार के प्राणी हा जायेंगे जिनके प्रति तुम्हे श्राचरण करना है। तुमने यह तय किया है कि जो मूछ करोगे अच्छा ही करोगे। इसलिए यह जरूरी हो जायगा कि 'कु' और 'सु' में विवेक करो। यह पता लगाधी कि ग्रमुक परिस्थिति में तुम्हें क्या करना चाहिए श्रीर क्या नहीं, इस बात का ध्यान रखो कि परिस्थिति कैसी भी हो जो कुछ भी तुम करोगे ग्रच्छा ही करोगे। यह विवेक तुम तभी कर सकते हो जब तुम्हारी दृष्टि शुद्ध हो ग्रीर उसका प्रयोग तुम्हें भली प्रकार ग्राता हो। शुद्ध हिष्ट की सही श्रद्धा को सम्यग्दशंन कहते हैं। जब तुम्हें पता चल जाय कि अमुक आचरण करणीय है, और अमुक नहीं, तो फिर ग्राचरणीय कमं की गहराई में प्रवेश करो। गहराई में जाना पहले कठिन था, पर शुद्ध हिट ने माचरणीय कर्म को तुमने चुना है, इसलिए प्रव तुम्हारे सामने कठिनाई नहीं रही । गहराई में पैठकर तुमने उन कमं का सर्वाङ्ग निरीक्ण कर लिया तो समको यह तुम्हारा सम्यन्ज्ञान है। इसके याद तुम्हारा जो प्रगला कदम हो। उस कर्म का योजना पूर्ण धानरण, धर्पान् सभ्यक् चारित्र । दर्शन, ज्ञान धौर चारित्र, तीनों के साध सम्यक्त जो जुड़ा हुमा है वही तुम्हें घनाशक्ति, निवृत्ति ग्रयवा कर्मफल में निःमञ्जता दिलाने वाला है। पना-शक्ति, निवृत्ति, धयवा निःमञ्ज का चरमोलपं ही तो मोद्य है। इस प्रकार सम्यन्यरांन, सम्यन्तान घौर मन्य-रचारित्र से प्राप्त सम्पर्कत तुरहारे जीवन को मणत कर

देगा। यदि तुमने भौतिकता के बीच भी यह हिष्ट देखी तो भी वह तुम्हारे काम की है, क्योंकि, आखिरकार, सारे रास्ते एक ही जगह तो आकर मिलते हैं। वहीं •तुम पहुंच जाओंगे जहां सारे घमं तुम्हें ले जाना चाहते हैं।

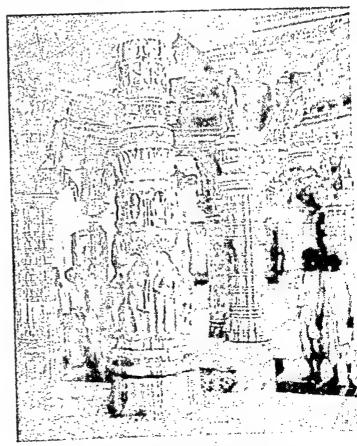
जैन घमं का ग्रनेकान्तवाद भी समभने की चीज है, इसिलए कि इससे हिष्ट शुद्ध होती है। मानव प्रपनी सीमाग्रों में ग्रावद्ध है। उसके देखने, सुनने, सूंघने, चखने छूने ग्रीर समभने, कहने ग्रीर करने ग्रादि में एक काल में किसी वस्तु का के ई एक ही, शायद उसका भी एक ग्रंशांशमात्र ही स्वरूप तो जाना जा सकता है। फिर तुम ही ग्रकेले व्यक्ति नहीं हो जो उस स्वरूप का परिचय देते हो। जिस तरह तुम ग्रपनी जगह सच्चे हो दूसरा भी तो ग्रपनी जगह सच्चा है। यदि वह तुम्हारी वात नहीं समभता, या वह तुम्हारे कथन के विपरीत भी कहता है वो भी तुम्हें शान्ति से उसे सुनना चाहिये, उसकी परिस्थिति या हिष्ट को समभना चाहिये जो वैसा कहने में कारण अन रही है। जब तुम ऐसा करोगे तो तुम्हें जरूर यह जान पड़ेगा कि वह कहता तो ठीक है। गृंगमुक ग्रपेचा से या ग्रमुक परिस्थिति में ऐसा भी हो सकता है। तव तुम

यह भी देखोंगे कि उसने भी तुम्हारी बात को सुनी भौर समभा है। जिस तरह उसकी बात को सही परिदेष में तुमने समभा श्रीर यदि श्रावश्यक हुशा तो तुमने उसका श्रावरण भी किया, उसी प्रकार वह भी कर सकेगा, यह विलकुल स्वाभाविक है। इसी का नाम स्याद्धाद है श्रीर इसी हप्टि से किसी वस्तु के श्रनेक पद्मों का ज्ञान संभव है। स्वतन्त्र- मानव के लिए इस हप्टि की श्रस्त्व-श्रावश्यकता है। उसकी स्वतन्त्रता की स्थायिता का रहस्य इसी हप्टि में निहित है। स्पष्ट है कि इसी हप्टि से सहिष्णुता का भाव बढ़ता है श्रीर मानव श्रीर मानव के वीच सत्सम्बन्धों की प्रतिष्ठा हो सकती है।

श्रन्तिम दो श्रनुच्छेदों में मैंने 'तुम' का प्रयोग पाठकों की साद्धी में अपने लिए किया है। मैं जानता हूं कि यह सारा लेख एक अधूरा वावय है, जो शायद मुभसे कभी पूरा न होगा। इस श्रधूरे वावय के द्वारा मैं यही कहना चाहता हूं कि जैन घमं विश्व के समस्त घमों का सहयोगी घमं है, इसका भी मानवता को श्रपने स्तर पर लाने या स्थिर रखने में महत्व पूर्ण योग है। इसके प्रकाश से भी मानवता घन्य हुई है।



जैन मन्दिर माउन्ट स्राबू में दीवारों पर सुन्दर मूर्तियां



\*\*

देलवाड़ा जैन मन्दिर माउन्ट श्रायू का एक भीतरी हृत्य

### डा० मोहनलाल शर्मा

एम. ए. एम. लिट. पी-एच. डी.

## जैन धर्म और दुर्शन

जिन धर्म का प्रांदुर्भाव सुदूर अतीत में लुप्त है। यहां तिक कि ऋग्वेद के मंत्रों में जैन धर्म के दो तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है। इन दो तीर्थंकरों में प्रथम तो इस धर्म के संस्थापक ही माने जाते हैं। ये थे स्वामी ऋपभदेव । वेदों में ही क्यों, स्वामी ऋषभदेव का उल्लेख तो विष्णु पुराण ग्रीर भागवत पुराण में भी मिलता है। ये पुराग तो इन्हें विष्णु का ही भ्रवतार मानते हैं। ऋग्वेद में जिन दूसरे संत का उल्लेख मिलता है वे हैं भगवान अरिष्टनेमि। ये भी जैनधमं के तीर्थंकर ही थे। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो ज़ाता है कि जैन धर्म उतना ही पुराना है जितना वैदिक घम । जिस घम की प्राचीनता इतिहास के सुदूर गर्भ में लुप्त हो, उसके ऐतिहासिक पहलू पर कुछ विस्तार से निस्संकोच होकर कहना कठिन ही प्रतीत होता है, किन्तु इससे जन-विश्वासों पर ग्राघारित तथ्यों की ग्रसत्यता कदापि सिद नहीं होती है, इसलिए जैनवर्म के २३ तीर्थंकरों के साथ जो जो घटनाएं जनमानस ने संबद्ध कर रखी हैं, वे उन मूल तथ्यों की श्रोर प्रंरित करती हैं जिन पर श्राघा-रित होकर जैन घर्म का सिहासन ग्रव तक स्थिर बना रहा। २४ वें तीर्थं कर भगवान महावीर स्वामी तो महान् ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं। इन्होंने जनता के समज तप-साघना का जो आदर्श रखा वह वस्तुत: अनुपम है। वैसे तो विद्वानों ने तेईसवें तीर्थं कर स्वामी पार्श्वनाथ जी को भी ऐतिहासिक व्यक्ति घोषित किया है, किन्तु महा-वीर स्वामी के अदम्य साहस, आत्म विलदान, तथा जन कल्याएा की भावना से मानव हृदय गद्गद् हो उठता है।

महावीर स्वामी ने स्ट्यं ही ग्रपनी समस्त सम्पत्ति को हुकरा दिया था। त्याग ग्रीर घात्मीत्सर्ग पूर्णं जीवन मूलतः श्रहिंसा जैन धर्म का वह मूल मंत्र वन गई जिससे इस धर्म में नवीन उद्भावनाएं श्राई श्रोर वह समाज के सम्मुख एक देदिएयमान दर्शन के साथ उपस्थित हो गया जिसे साधारण जन से लेकर प्रकांड पंडितों तक ने सहपे गले लगाया। श्रोर तो श्रोर यह महलों में पलने वाले राजाश्रों का भी श्राकर्पण केन्द्र वन गया।

व्यतीत करते हुए उन्होंने जिन घमं तत्वों को प्रसारित किया वे त्रिकालावाधित सत्य है। ग्राज भी उनकी मौलिकता ज्यों की त्यों बनी हुई है। उनकी महत्ता विज्ञान के विपुल एवं चकाचौध करने वाले प्रकाश में भी नष्ट नहीं हो सकती।

श्रहिसा का दिव्य प्रकाश तो उन्हें ऐसा मिल गया या जिसका सहारा लेकर पूज्य वापू तक ने विश्व विश्व कर लिया था। महावीर स्वामी ने जीव और प्रजीव ऐमें दो तत्वों का उपदेश दिया है। इन्ही से विश्व वा निर्माण होता है। उनका तत्वज्ञान द्वैतवादी था। प्रत्येक ध्यक्ति के व्यक्तित्व में दो प्रांशों का समावेश माना गया है—एक भौतिक श्रीर दूसरा श्राध्यात्मक। भौतिक तत्व नश्यर तथा दूसरा तत्व शाश्यत भीर विकामशीन होता है। उन्होंने श्रात्मा पर लगे हुए वन्यन को स्वीकार किया है, यह वन्यन प्रारम्य का होता है। पूर्व जन्म में जिम प्रकार की भी वासनाएं और प्रभित्यापाएं होती हैं, उनका गहरा प्रभाव प्रात्मा पर पड़ता है, वामनाएं जित्रश कम होंगी, ग्राहमा पर लगा हुग्रा वन्यन उतना ही शिथिल होगा। इन्हीं सिद्धान्तों के संदर्भ में महावीर स्वामी ने यह प्रतिपादित किया था कि ग्राहमा के बन्यनों को हटाने के लिए वासनाग्रों को नप्ट करना चाहिए तथा उसे निर्मल निष्पाय बनाने के लिए जहां तक भी हो सके ग्रामलायाग्रों का त्याग करना चाहिए। उनके श्रनुसार ग्राहमा ग्रथवा जीव की मुक्ति क्या है? वस वर्म की शक्तियों का बिनाश। इसका मूज उपाय कपायों एवं नासनाग्रों का दमन करना है। इससे पूर्व के सचित कर्म शनै: शनै: नष्ट हो जायेंगे। कर्मों के नप्ट होने के साय हो साथ ग्राहमा के गुएगों का विकास होगा, ग्रीर वह पूर्ण ग्रामा श्रीर ग्रनन्त महानता को प्राप्त करके भव्य ग्रीर देदिप्यमान हो जायगा।

महावीर स्वामी ने गृहस्य तथा परिवाजक साघुमों के लिए नैतिक नियमों का निर्धारण किया था। जीवन का चरम लक्ष्य मोछ है, जिसके लिए उसे नये कर्म नहीं करना चाहिए, साथ ही पूर्व के संचित कर्मों को भी नष्ट करना चाहिए। व्यक्ति यदि गृहस्य माध्यम का पालन कर रहा है तो उसे पांच प्रतिज्ञाएं माननी पड़ती हैं—महिसा, सत्य, मस्तेय, ब्रह्मचर्यं तथा भ्रपरिग्रह। इनसे उसके म्राचार विचारों में संयम स्राता है। इसी को सम्यक व्यवहार कहते हैं।

महावीर स्वामी के द्वारा प्रतिपादित मत को वैदिक धर्म से पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं हो सकता था, किन्तु फिर भी उसका विकास अवस्द्ध नहीं हुआ। उसका कारण था उनके मत में अनुभूति—जन्य सरलता तथा नवीन उद्भावनाएं। वैदिक धर्म ने किसी शक्ति विशेष को इस समस्त विश्व का सृष्टा समभा तथा यह विश्व उसी सत्ता के द्वारा नियत्रित माना गया। महावीर स्वामी यह मान कर चले कि विश्व का सृजन नहीं हुआ और न कोई सर्वोपिर सृष्टा ही है। उनके अनुसार ईश्वर 'उन शक्तियों का उच्चतम, शालीनतम और पूर्णतम व्यक्ति—करण है जो मनुष्य की आत्मा में निहित होती है।'

सव जीवों में समान शक्ति होती है। प्रयत्न करने पर कोई
भी मुक्तारमा वन सकता है श्रीर वही ईश्वर या परमात्मा
कहलाता है। महावीर स्वामी ने दिवक कर्म काएडों का
घोर विरोध किया। कर्म कांडियों का प्रशुत्व समाज के
लिए ग्रत्यन्त घातक सिद्ध हुआ था श्रीर जन-कल्याण के
लिए ही नहीं ग्रात्मा के विकास पर भी एक घोर पावन्दों
के रूप में वह सम्मुख उपस्थित हो रहा था। वैदिक
किया विधियों के द्वारा न तो हृदय की पावनता का
विचार किया जाता था ग्रीर न ग्रात्मा की शुद्धि का ही।
मोच्च प्राप्ति के लिए कठोर तप ग्रीर संयम जैसी कोई
यात महावीर को वहां प्राप्त नहीं हो सकी। इसी
कारण उन्होंने तप ग्रीर संयम तथा नैतिक सदाचरण पर
पूरा वल दिया।

जैन धर्म की मूल आत्मा है प्रहिसा । श्रहिसा केवल शरीर से ही नहीं मन से भी ग्रावश्यक होती है। किसी प्रपावन विचार को रून में लाना हिंसा के अन्तर्गत श्राता है। श्रहिंसा के शारीरिक श्रीर मानसिक पचीं से उसका ग्रतीव विस्तार हो गया। इन्द्रियों के द्वारा किसी श्रपवित्र भाव को मस्तिष्क तक ले जाना हिंसा के अंत-गंत समाविष्ट हो गया। ऋहिसा की रचा के लिए ही इन्द्रिय निग्रह आवश्यक माना गया। ऐसे विचारों की ग्रभिन्यक्ति जिससे दूसरों की वष्ट का ग्राभास हो, हिसा है। ग्रतएव ग्रहिसा जीवन का वह पहलू वन गया जिससे जीवन नियंत्रण ग्रीर सुखी तो वने ही, साथ साथ इससे कैवल्य की भी प्राप्ति हो सके । कर्मों के वंधन से छूटकारा पाने के लिए ग्रहिसा ग्रनिवार्य हो गई। मूलत: ग्रहिसा जैन धर्म का वह मूल मंद्र वन गई जिससे इस धर्म में नवीन उद्भावनाएं ग्राईं भीर वह समाज के सम्मुख एक देदिप्यमान दर्शन के साथ उपस्थित हो गया जिसे साघा-रए। जन से लेकर प्रकांड पंडितों तक ने सहपं गले लगाया । श्रीर तो श्रीर यह महलों में पलने वाले राजाश्री का भी आकर्पण केन्द्र वन गया।

### डा० कैलाशचन्द जैन एम. ए. पी-एच. डी, अजमेर

### नरेणा का इतिहास

निर्णा राजस्थान में फुलेरा जंक्शन से करीव वारह मील की दूरी पर स्थित है। यह स्थान ऐतिहासिक हिंद्र से बहुत प्राचीन है तथा ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में समृद्ध ग्रवस्था में था। शिलालेखों और साहित्य में इसके प्राचीन नाम नरानयन, निराण श्रीर नराणक मिलते हैं। इस पर सांभर और ग्रजमेर के चौहानों का राज्य था। उस समय यह सैनिक हिंद्र से बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान समभा जाता था। ११७२ ई० में पृथ्वीराज तृतीय ने यहां पर ग्रपना सैनिक कैंप (पड़ाव) डाला था। इसका सैनिक महत्व राणा कुंभा के समय (१४३३–६८) तक चलता रहा। वह इसको प्रसिद्ध किलों में उल्लेख करता है जिसको कि जीतना व तोड़ना बड़ा कठिन है। ४

नरेणा पर प्रारम्भ में मुसलमानों के आक्रमण हुए जान पड़ते हैं। १००६ ई० में महमूद गजनी ने नरायणा पर आक्रमण किया। यहां का राजा बड़ी बहादुरी से अपने देश की रहा के लिए लड़ा किन्तु उसकी हार हुई। सुल्तान ने बुरी तरह से यहां की मूर्तियों को तोड़ा तथा बड़ी लूटमार करके गजनी को लौट गया। प्राचीम समय में व्यापार की हिन्द से भी इसका महत्व था क्यों कि इसका व्यापार भारत के कीने कीने तथा विदेशों से होता था। प्रसिद्ध इतिहासकार किन्धम ने इस स्थान को भलवर के पास वाला नराणपुर वतलाया है। अन्य

नरेणा राजस्थान में फुलेरा जंक्शन से करीव बारह मील की दृरी पर स्थित है। यह स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत प्राचीन है तथा ग्यारहवीं श्रीर बारहवीं सदी में समृद्ध अवस्था में था। इस लेख में विद्वान् लेखक ने नरेणा के इतिहास पर प्रकाश डाला है।

विद्वानों ने भी इसको स्वीकार यर लिया है वितु यह विचार ठीक नहीं ज्ञात होता है। प्रलवर के पास पाला नरायणपुर दसवीं और ग्यारहवी शताब्दी में नरायण के नाम से प्रसिद्ध नहीं था। इसके विपरीत नरेणा प्राचीन समय में नरायण के नाम से विस्यात था। यह नगर उस समय समृद्धिशाली या तथा यहां घनी व्यक्ति वसते थे। यहां पर जमीन से निकली हुई दसवी व ग्यारहवी शताब्दी की मूर्तियां इस बात को सिद्ध करती हैं कि इस स्पान पर मुसलमानों का प्राक्रमण हुमा था। जो राजा महमूद गजनी से लड़ा था, वह शाकंभरी के दुलंभराज या पुत्र गीविन्दरज दितीय था। फिरिश्ता भी इस दात या उल्लेख करता है कि महमूद सांभर की तरफ से मोमनाय की ग्रोर श्राया था।

१. खरतर गच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० २२।

२. पाटण के जैन भंडारों की सूची, पृ० ३१२-३६१।

३. एपिग्राफिया इंडिका जिल्द २६, पृ० ५४।

४. खरतर गच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० २४।

प्राक्तियालाजिकल सर्वे इंडियन एनुग्रल रिपोर्ट १६०७-०८, पृ० २०५।

<sup>.</sup>६. दो स्ट्गल फोर श्रम्पायर, पृ० १०।

७. वही पृ० २३।

चौहानों के राज्य में नरेएा जैन घर्म का वड़ा केन्द्र होगया था । बारहवीं सदी के लेखक सिदसेन सूरि ने इसको ग्रपने सकल तीर्थस्तोत्र में जैनियों के प्रसिद्ध तीर्थ रूप में वर्णन किया है। प जैन साधु इस स्थान पर रहा करते थे। १०२६ ई० की पादुका पर जैन ग्राचार्य का नाम खुदा हुग्रा है। <sup>६</sup> ११७० ई० के विजीलिया के शिलालेख के प्रनुसार प्राग्वाट् जाति के लोल्लक के पुरखे पुन्यराशि ने यहां पर वर्द्धमानस्वामी का जैन मंदिर वनवाया। १० १०७६ के यहां से प्राप्त एक शिलालेख के म्रनुसार प्राग्वाट जाति के मथन नाम के व्यक्ति ने अपने परिवार के सदस्यों सहित मूर्ति प्रतिष्ठा की । ११ इन शिलालेखों से यह विदित होता है कि पोरवाल जैन यहां पर रहते थे। पार्श्वनाथ की खड्गासन प्रतिमा ६५२ ई० की है। १२ यहां पर ग्रन्य प्राचीन जैन मूर्तियां भी हैं। यहां से प्राप्त जैन देवियों की मूर्तियां कला की हब्टि से उच्च हैं। सरस्वती की प्रतिमा पर १०४५ ई० का शिलालेख अंकित है। १3 इसके अतिरिक्त दो १वेत पाषाण तथा एक काले पत्यर की सिंह पर बैठी बहुत ही कलापूर्णं सिहवाहिनी की मूर्तियां हैं। ग्यारहवी शताब्दी के लेखक घनपाल अपनी कविता 'सत्यपुरीय महाबीर उत्साह' में यहां के महावीर स्वामी के मंदिर का उल्लेख करता है। १४ संभव है जो प्राचीन मूर्तियां, स्तंभ तथा तोरराहार भैंरुजी के मन्दिर के समीप से प्राप्त हुए 🔭 वे सब महावीर के मंदिर के प्राचीन प्रवशेष हों। ऐसा लगता है कि यह समस्त मंदिर संगमरमर का बना हुग्रा हो तथा अपनी पूर्ण प्रवस्था में कला का एक अद्भुत नमूना होना चाहिए। यह मंदिर वारहवीं शताब्दी में मुसलनानें द्वारा नष्ट कर दिया गया क्यों कि इस मंदिर में बाद की मूर्तियां नहीं मिलती।

११६२ ई. में मुहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीरांज 'तृतीय को हराने के पश्चात नरेएा। पर देहनी के सुलतानों का ग्रधिकार हमा । १३८८ ई. में फिरोज तुगलक की मृत्यु के बाद मुसलमानों का साम्राज्य छिन्न भिन्न होने लगा। जफरखांने जो नागीर का स्वतंत्र शासक ही गया या, नागीर का राज्य अपने भाई शम्सखां को दिया। शम्सखां के पश्चात फिरोजलां सुल्तान हुन्ना । इस समय नरेणा भी नागोर के अंतर्गत था। मोकल जो १४२० ई. में मेनाइ का महाराएग हुन्ना; उसने नागोर के सुल्तान फिरोजबां को हराकर समन्त सपादलच को जीत लिया। १४ इस प्रकार नरेगा भी मोकल के श्रधिकार में श्रागया। बाद में फिरोजवां के छोटे भाई मुजेरखां ने मोकल का हराकर नरेगा को फिर से हस्तगत किया। १४३७ ई. मे उसने किले तथा तालाब की मरम्मत करवाई तथा अपने नाम पर तालाव का नाम रखा। १६ यहां के मुसलमान सुल्तानों ने हिन्दुश्रों के मन्दिरों को तोड़ा। मुजेदसान ने यहाँ के प्राचीन कला पूर्ण हिन्दू मंदिरों को नष्ट करके

प. पाटन के जैन मंडारों की सूची पृ० ३१२-१६।

६. संवत १०८३ माघ सुदी १४ म्राचार्य गुराचन्द्रस्य इदं पाद युग्म।

१०. एपियाफिया इंडिका. जिल्द २६, पृ० ८४ ( इलोक, ३६ )।

११. संवत ११३५ फागुन सुदि प्राग्वाट् जात्य श्रेष्टि सुजन सुत मथन सुश्रे योर्थं पितृपय भातृ माल्हा भार्या मथन सुत चाहड़ सहिता भार्या प्रथम मनमख बाहुविल देव निज श्रेयोर्थ प्रतिष्ठापित।

१२. संवत १००६ वैशाख बुदि १।

१३. संवत ११०२ वैशाख सुदि ६ श्री नेमिनारवीय समस्त वालमो प्रतिष्ठा कारिति, ग्रों ही सो सरस्वती नमः।

१४. जैन साहित्य संशोधक, वर्ष ३, श्रंक १।

१५. एनुम्रल रिपोर्ट राजपूताना म्यूजियम म्रजमेर, १६२४-२५, नं॰ ६।

१६. एपि ग्राफिया इंडो मुस्लिमिका, १६१३ - २४. पृ० १५ । अभी इस तालाब को गौरीशंकर तालाब कहते हैं।

जामा मिरजद बनवाई । इस मिरजद के स्तम्भ ग्रव भी हिन्दू कला का दिग्दर्शन कराते हैं। मिरजद के समीप ही एक विशाल दरवाजा है जो त्रिपोलिया के नाम से प्रसिद्ध है । यह भी प्राचीन हिन्दूं मंदिरों के ग्रवशेपों से बना है । ग्रव भी कलापूर्ण ग्राकृति के खुदे हुए चित्र इसकी शोभा बढ़ाते हैं । मेवाड़ का फिर से नरेगा पर ग्रधिकार होगया । राग कपूर के १४३६ के शिलालेख से पता चलता है कि मेवाड़ के रागा कुंभा ने फिर से नरेगा के किलें को जीत लिया । ग्रकवर के राज्य (१५५६ ई – १६०६) यह नगर ग्रजमेर सरकार के ग्रघीन था। १७ १६०५ ई. के शिलालेख के ग्रनुसार ग्रकवर स्वयं इस स्थान पर ग्राया था। १५

भुगलों के समय में नरेगा पर कच्छावों का राज्य रहा। श्राम्वेर के राजा पृथ्वीराज के पुत्र जगमल ने तेजिसह श्रीर हम्मीरदेव को हराया श्रीर जोवनेर श्रीर नरेगा पर श्रपना श्रीवकार कर लिया। सम्राट श्रकवर ने उसको एक हजार का इनामत दिया। १६ महारागा प्रताप के विरोध में लड़ने के लिए वह मानसिंह के साथ गया। जगमल के दो पुत्र थे। एक का नाम खंगार श्रीर दूसरे का नाम रामचन्द्र। बड़े पुत्र खंगार से खंगारवंश प्रारम्भ हुआ जो जोवनेर श्रीर नरेगा पर राज्य करता था। उसके छोटे लड़के ने जम्बू राज्य की स्थापना की श्रीर इस कारण वह काश्मीर के राजाशों का पुरखा सम्भा जाता है। राव खंगार एक वहादुर सेनापित था जिसने सिरोही के राव मुल्तान तथा बून्दी के राव दुर्जनसाल हाड़ा को हराया। राव खंगार के नारायणदास तथा मनोहरदास दो पुत्र थे जिनको नरेगा तथा जोवनेर

की अलग अलग जागीर दी गई। नारायणदास के तीन लड़के दुर्जनसाल, शत्रुसाल और गिरघरदास अयोग्य तथा निकम्मे होने के कारण मुगल सम्राट जहांगीर को अपनी सेवाओं से खुश नहीं रख सके। इस कारण जहांगीर ने २४६००० की नारायणदास की जागीर वीकानेर के राजा सूर्रासह को दे दी। २० तथा नरेणा नारायणदास के भतीजे भोजराज को दे दिया। भोजराज एक वीर सैनिक था। जसने जहांगीर के जनाने की खुरम के अचानक आक्रमण से रचा की। जसकी सेवाओं से प्रभावित होकर सम्राट ने उसका मन्सव बढ़ा दिया। वीर होने के साथ—साथ भोजराज को धमं के प्रति भी रुचि थी। जसने नरेणा को दादुपंथी संप्रदाय के संस्थापक दादुदयाल को दान में दे दिया। इसके पश्चात नरेणा इस संप्रदाय का एक वड़ा केन्द्र होगया।

मध्यकालीन युग में भी नरेए। के लोग जैन घमं का पालन करते थे। प्रायः जैन साधु इस समय यहां पर आते जाते रहते थे। १६६१ ई. में ईडर के भट्टारक चेमेन्द्र कीर्ति और चाकसू के भट्टारक जगतकीर्ति एक ही समय में इस स्थान पर आये और उनके उपलच्च में एक बड़ा उत्सव लोगों के द्वारा मनाया गया। २१ भवतामर स्तीत्रवृत्ति की प्रति नयनक्षि ने इसी स्थान पर तैयार की। २२

सामाजिक हिन्द से भी नरेणा का बढ़ा महत्व है वयों कि साढ़े वारह वैश्यों की जातियों में नरेणा जाति का भी उत्लेख है जैसा १६३६ ई० में तिसी हुई सिहा-सन बत्तीसी से पता चलता है <sup>२3</sup>। प्रव भी कुम्हारों के गीत्रों में इस स्थान के नाम पर नरेणा कुम्हार निक्त हैं।

१७. ग्राइने ग्रकबरी, जिल्द २, पृ० २७३।

१८. ग्रांकियालाजिकल सर्वे इंडियन एनुग्रल रिपोर्ट १६२५-२६, पृ० १२८।

१६. वीर विनोद, पृ० १६७।

२०. दयालदास की ख्यात, पृ० १५२।

२१. उदयपुर के संभवनाय के मंदिर में भट्टारक पट्टावली, देखो ग्रंथ संस्था ४३०।

२२. बून्दी के शास्त्रमंडार का ग्रंथ नं ० २४७ ।

२३. जैन गूर्जन कवियों, जिल्द १ पृ० २३५ ।

विचरण करता हुया समये ग्राने पर उस घरातल से कपर उठ ग्रादर्श के घरातल पर पहुंच जाता है। इस प्रकार वह लोक मंगल का पावन सन्देश प्रस्तुत करता है। किसी भी ग्रन्थ को पिढ्ये, प्रायः यही कथानक मिलेगा कि कथा का नायक श्रपने जीवन में यौवन काल में नाना प्रकार के भोग विलासों ग्रीर ऐश्वर्यों का उपभोग करता है। भौतिक दृष्टि से पूर्णतः जीवन की सब ग्रावश्यकताग्रों की पूर्ति उसे हो जाती है। भौतिक दृष्टि से इस उच्च घरातल पर पहुंच कर सहसा कथानायक के जीवन में किसी महात्मा या जैन घर्माचार्य के सम्पर्क से परिवर्तन ग्रा जाता है। उसका जीवन योग से त्याग की ग्रोर उन्मुख हो जाता है। उसका जीवन योग से त्याग की ग्रोर उन्मुख हो जाता है। संसार के विषय भंगों से उसे विरिवत हो जाती है। शृङ्गार रस में रगा हुग्रा कथानायक शान्त रस का ग्रास्वा-दन करने लगता है।

णाय कुमार चरिउ में नाग कुमार ग्रनेक वर्षो तक विषय सुख का ग्रास्वादन करता हुन्ना ग्रीर राज्य भेगता हुया प्रन्त में तपस्वी हो जाता है और पुन: मोच प्राप्त करता है। यशोधर का चरित्र भी इसी प्रकार का है। जंबू स्वामी के चरित्र में भी योग और त्याग का मिश्रण है । सुदर्शन, करकंडु, सुकुमाल, सनतकुमार, जिन-दत्त, नेमिनाय, चन्द्रपय इत्यादि अनेक नायकों का चरित्र इसी प्रकार का है। ये नायक प्राय: युवावस्या में स्वस्य, सुन्दर ग्रीर शक्तिशाली शरीर से नाना रूपवती स्त्रियों को ग्राकृष्ट करते ग्रीर साथ ही ग्रपने पराक्रम से शत्रुग्रों को पराजित करते हुए राज्य सुख भोगते हैं तथा अन्त में ग्रपने पूर्वजन्म का स्मरण कर या किसी जैन साधू के उपदेश से विरक्त हो निर्वाण पद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार कवि ने स्वाभाविकता की रचा करते हुए ग्रादर्श की प्रतिप्ठा ग्रपने काव्य में की है। कवित्व की हिट से वीर रस के साथ श्रृङ्गार रस के भी वर्णन मिलते हैं ग्रीर दोनो रसों का पर्यवसान ग्रन्ततोगत्वा शान्त रस में हो जाता है। फुनतः शारीरिक सौन्दर्य ग्रीर प्रद्वार के सुन्दर वर्णन भी उपलब्ब होते हैं, वीरता एवं पराक्रम कार्यों के वर्णनों की भी प्रचुरता है ग्रीर संसार की ग्रनि-त्यता एवं चएा भङ्ग रता के प्रतिपादक हृदयस्पर्शी वएंन भी मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों ग्रीर उपनिवदों द्वारा वताये हुए त्यागपूर्वंक योगमय जीवन के मधुर उप-देश की भांकी हमें ग्रपभ्रंश साहित्य में भी उपलब्ध होती है। मानव के लिए योग भी अभीष्ट नहीं और न केवन त्याग । दोनों में सामंजस्य की ग्रावश्यकता है श्रीर त्याग से मानव निःश्रीयस की ग्रीर प्रवृत होता है। योग, राष्ट्र में भौतिक विकास करता है ग्रीर त्याग, राष्ट्र को ग्राध्या-त्मिक विकास की ग्रीर ले जाता है। समाज एवं राष्ट्र की उन्नति के लिए योग और त्याग दोनों भ्रमेचित हैं। योग ग्रीर त्याग के इस सामंजस्य में या तो दोनों का पौर्वापयं माव हो सकता है ग्रथवा योगमय जीवन में भी 'कमल पत्र मिवाम्भसा' रहते हुए त्याग को अपनाया जा सकता है। इसी प्रकार के जीवन में मानव का कल्याण है, समाज का कल्याण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साहित्य में सत्यं, शिवं ग्रीर सुन्दरंकी उत्कृष्ट ग्रभिव्यक्ति मिलती है । इस साहित्य में निस्सन्देह स्थान-स्यान पर ग्रलीकिक घटनाग्रों ग्रीर चमत्कारों का भी उल्लेख हुमा है। इस प्रकार की घटन।म्रों को पढ़ कर ग्राज का वैज्ञानिक इन्हें ग्रस्वाभाविक मान कर, साहित्य में भी संभवतः ग्रसत्य का ग्राचेप कर बैठे। किन्तु कपर निर्देश किया जा चुका है कि वैज्ञानिक सत्य ग्रीर कवि सत्य में भेद है। भारतीय हृदय इस प्रकार की ग्रलीकिक घटनाग्रों में प्राचीनकाल से विश्वास करता स्ना रहा है। इसलिए इस साहित्य में भी इस प्रकार की ब्राशंका निमूल समभनी चाहिए।

मिलता है। स्वाप्त महाकि तुलसीदास महाकि व तुलसीदास ने घोपणा की 'कीरित भिनित भूति भल सोई। सुरसिर सम सव कें हित होई।' ग्रर्थात् काव्य वहीं उरकृष्ट है जो सव का कल्याण करे। इसी प्रकार अपभंश कि भी अपने प्रतिपादक विषय द्वारा कल्याण मार्गकी व्यंजना करता है और उसी मार्ग की ओर पाठक को प्रवृत होने की प्रेरणा देता है। इस साहित्य में प्राप्त सीन्दर्य की भांकी तो अनेक उपयुक्त उद्धरणों से ही मिल सकती है। विस्तारभय से उनका दिग्दर्शन यहां नहीं कराया जा सकता। संदोप में हम कह सकते हैं कि अपभ्रंश-साहित्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरं के त्रित्व की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा मिलती है।



ईस्वी पूर्व २०० वर्ष, खारवेल (उदयगिरि) के लेख के प्रारम्भ में श्रीवत्स



कुषाणकालीन मूर्ति पर श्रीवत्स

# विविध पुगों में श्रीवत्स के रूप



99

ईस्वी पूर्व ६०० वर्ष भगवान महाबीर कालीन, श्रीवत्स चिग्हांकित चांदी का सिक्का-कार्षापए। (वींवत श्राकार)





ई० पू० २०० वर्ष खण्डिगिरि-उदय-गिरि



कुषाए कालीन, ई० प्रयम शताब्दी









ई० की १०वीं से ११वीं शताब्दी

ई० को १२वीं शताब्दी—वर्तमानकाल



ई० की ६वीं शतान्दी हस्तपादिवहीना लक्ष्मी



तीर्वेशर के बसस्पत की दाहिनी छोर जिनीगानान धाँवान



### श्रीवत्स चिन्ह

श्रीवत्स चिन्ह शुभ लच्चण का प्रतीक है। जैनों के शब्दमंगल-दर्पण, ध्वजा, कलश, स्वस्तिक आदि में श्रीवत्स भी है। तीथं करों के शरीर में १००८ लच्चण श्रीर व्यञ्जन होते हैं, जो सामुद्रिक शास्त्रों के अनुसार महापुरुषों के शरीर के शुभ चिन्ह या सुलच्चण माने गये हैं। वे सम्भवतः भगवान की स्तुति करने के आधार मालूम होते हैं क्योंकि श्री जिनसेनाचार्य ने लिखा है—

प्रसिद्धाप्टसहस्र द्वलच्चणं त्वां गिरांपतिम् नाम्नामष्टसहस्र ए तोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये इसलिये ''जिन सहस्रनाम'' में श्रीवत्स का भी उल्लेख है—

श्रीवत्सलांछनः श्रीमानच्युतो नरकान्तकः विश्ववसेनश्चक्रपाणिः पद्मनाभो जनार्दनः ॥१०२॥ स्रयात् स्राप श्रीवत्स लांछन हैं । इसकी व्याख्या करते हुये श्री श्रुतसागरी टीका में लिखा है कि 'श्रीवत्स नामा वस्ति लाञ्छनं रोमावर्तो यस्य स श्रीवत्सलाञ्छनः । स्रापके वस्तःस्थल पर श्रीवत्स नामका लांछन सर्थात् रोमावर्ते हैं, इसलिये स्राप श्रीवत्सलांछन कहलाते हैं ।

ं ग्रिभिघानराजेन्द्र (सन्तम भाग, पृष्ठ ६६४) के ग्रनुसार सिरिवच्छ-श्रीवत्स-माङ्गलिक चिन्हभेद । महापुरुषाणो वडचोऽन्तर्वितिन ग्रभ्युन्नताऽत्रयव लाञ्छन विशये।

पुरुषों के वद्यः स्थल ( छाती ) पर वाल स्वभावतः होते हैं। किन्तु महापुरुषों की छाती पर यह रोमराशि संभवतः किसी आकार को लिये होती हो। घोड़े के शुभाशुभ होने की परीद्या करते हुये उसके माये पर भंवरी वगैरह के आकार को देखा जाता है। इसका समर्थन मोनियर विलियम्स ने अपनी संस्कृत—इंग्लिश डिक्शनेरी में किया है। 'श्रीवत्स' के लिये लिया है—

A particular mark or ours of hair on the chest of Vishnu or Krishna

ई० पू० द्वितीय शताब्दी में जैन तीर्थ (सिद्ध चेत्र) खंड गिरि पर्वत की श्रनन्त गुफा के द्वार के ऊपर जो लच्मी छंकित है वह पूर्णे सांगोपांग है श्रीर उसी द्वार के तोरण के ऊपर श्री चत्स भी छांकित किया गया है। यहां लद्मी श्रीर उसका प्रतीक श्री वत्स दोनों एक साथ उपलब्ध हैं। इसी गुफा की भीतर की दीवाल पर मंगल चिन्ह स्वस्तिक, ध्वजा के साथ श्री वत्स भी इंकित है। श्रीर यहां उदयगिरी की रानी गुफा के द्वार के तोरण पर भी ऐसा ही श्री वत्स हैं। वंगाल, उड़ीसा श्रीर दित्त्ए भारत की जैन मृर्तियों के वज्ञ स्थल पर श्री वत्स नहीं होता है। इस प्रकार विद्वान लेखक ने इस लेख में श्री बत्स पर महत्वपृशी प्रकाश डाला है।

(and of other divine beings, said to be white and represented in pictures by a symbol resembling a cruciform flower the emblem of the tenth Jina. अर्थात् महापुरुषों के दक्ष:स्थल पर धवल पुंपुरुषा बालों की गुच्छी जिसका चित्रांकन प्रामनुमा फूल प्रपार ४ पंयु- डियों के पुष्प की तरह होता है। इसी शरदकोश में "श्रीवत्सांकिन्" का धर्य लिखा है—a horse having a curl of hair on his breast (resem bling that of Vishnu) धर्मान् वह एइव डियमें हाती पर प्राप्ता दान हो।

धरतु; यह संभव है कि महापुर्शों हे यस:स्यतः भी रोमराशि के विन्यास के धनुमार धीदाय निगः में मण की मृष्टि हुई हो। यह चिन्ह बहुत प्राचीन है। भगवान महावीर के समय अर्थात् ई० पू० ६०० में जो ब्राहत (कार्यापण) सिक्ते प्रचलित थे उनमें कुछ ग्राहन (Punch marked silver coins) ग्रर्थात् छेनी या ठप्पे हारा ग्रंकित चान्दी के सिक्के श्रीवत्सांकित है—उन पर इस चिन्ह का रूप चित्र नं० १ जैसा है।

प्राचीन शिल्प में चक्र, स्वस्तिक ग्रादि ग्रन्य शुभ चिन्हों की तरह श्रीवत्स के निदर्शन, हिन्दू, जैन ग्रीर बौद्ध तीनों सम्प्रदायों में उपलब्ध होते हैं।

भगवान बुद्ध परिच्छद सहित थे इसलिये उनकी प्रितिमूर्ति में श्रीवत्स का दिग्दर्शन संभव नहीं था किन्तु अन्य शुभ लच्चला उनके शरीर (हाथ पावों) पर मिलते हैं। तो भी बौद्धों के अन्य शिल्प में श्रीवत्स चिन्ह का व्यवहार सांची, भरहुत, अमरावती आदि में उपलब्ध होता है।

श्री विष्णु भगवान के वक्तःस्थल के मध्य में श्रीवत्स होता है। इसके प्रमाण प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। गुप्तकाल की केवल कुछ ही विष्णुजी की मूर्तियों पर यह चिन्ह ग्रंकित है, ग्राधकतम विष्णु मूर्ति पर इसका ग्रभाव है। वंगाल की मध्यकालीन विष्णु प्रतिमा पर यह चिन्ह मिलता है। किंन्तु उनना चक्त स्थल श्रांवि 'ग्रलं-कारों से भूषित होने के बारण इस लक्षण को स्पष्ट रूप से फ्रेंकित करना कठिन था। इसलिये कहीं कहीं उनके हार के भूमका के श्रीर कोस्तुभ रत्न के साथ इसका ग्रंकन किया गया है। पर वह श्रीवत्स ऐसा मिल गया है कि स्पष्ट नहीं मालूम होता है। इसलिये वक्तस्थल के मध्य में इसका ग्रंकन बहुत कम हुम्रा है। मध्यकाल में उत्तर भारत ग्रोर पश्चिम भारत के केवल विष्णु ही नहीं गिन्तु ग्रन्य देवताग्रों के वक्तस्थल पर भी चतुर्दल पुष्पाकार से श्रीवत्स उपलब्ध होता है।

. विष्णु भगवान का वत्तस्थल हारादि से भूषित होने के कारण उनके वत्तस्थल के दित्तण भाग में इस चिन्ह का प्रतीक समभुजा-जिकीण रूप से प्रदर्शित करने न की प्रगाली चील काल में दित्तण भारत में अपनाई गई। इस समभुजा-जिकीण को श्रीदेवी की वेदी का द्योतक माना जाता है। विजयनगर काल में श्रीवत्स का श्रन्तिम

विकास इस त्रिकीए। रूप से प्रचलित हो गया।

मद्रास म्यूजियम में ६ वीं शताब्दी वी पद्मासन लहमी की दो मूर्तियां हैं—जो हस्तपाद विहीना है। अर्थात् देवी के हाथ पांव इस प्रकार गोलाद से मुड़े हुये हैं कि इसके मुख मंडल को छोड़कर इसकी बहिरेंखा (परिधि की रेखा) मान से प्राचीन श्रीवत्स विम्ह सूचित होता है। इससे एक ऐसी प्रदित का भान होता है जिसमें लक्ष्मी की शारीरिक आकृति (सशरीर्) श्रीर उसका (देवीका) प्रतीक श्रीवत्स दोनों वा संयोग प्रदेशित किया गया है।

स्ति के प्रतिरंप की (हस्तपादिवृहीना) इस कराना का कारण है। घन या ऐश्वयं का उपाजंन पुरुपायं (प्रयत्न) करने से होता है। क्योंकि लहमी न तो प्रपने हाथों से देती है घीर न स्वयं पांबों (पैरों) मे चल कर ग्राती है। कहा है कि—

उद्योगिनं पुरपसिंह मुपैति लक्ष्मी: दैवं हि दैव मिति ना पुरुषा वदन्ति ।

इसीलिये ६ वीं शताब्दी में दिए भारत में लक्ष्मी की प्रतिमूर्ति हस्तपादिवहीना रूप से भी निर्मित की गई। किन्तु यह अपवाद—रूप से उपलब्ध है। वैसे सर्वत्र लक्ष्मी की सब प्राचीन मूर्तियां और परवर्ती काल की भी मूर्तियां पूर्णतः सांगोपांग ( अवयदयुक्त ) ही होती

रही हैं।
ई० पू० दितीय शताब्दी में जँन तीर्थ खंडगिर
पर्वत की ग्रन्त गुफा के द्वार के ऊपर जो लक्ष्मी ग्रंकित
है वह पूर्ण सांगोपांग है ग्रीर उसी द्वार के तीरण के
ऊपर श्रीवत्स भी ग्रंकित किया गया है। यहां लच्मी ग्रीर
उसना प्रतीक श्रीवत्स दोनों एक साथ उपलब्ध है। इससे
यह सूचित होता है कि प्राचीन काल में हस्तपाद-विहीना
लच्मी की कल्पना नहीं हुई थी। इसी गुफा की भीतर
को दीवाल पर मंगल चिन्ह स्वस्तिक, ब्वजा के साथ
श्रीवत्स भी ग्रंकित है। ग्रीर यहां उदयगिरि की रानी
गुफा के द्वार के तोरण पर भी ऐसा ही श्रीवत्स है।

खंडगिरि से संलग्न उदयगिरि है, जिसकी सुप्रसिद्ध हाथी गुफा में जैन सम्राट कर्लिग—चक्रवर्ती श्री खारवेल का ई० पू० दिर्ताय शताब्दी का वृहत् शिलालेख संकित है। इस शिलालेख के प्रारंभ में स्वस्तिक ग्रीर श्रीवत्स ग्रंकित है। इस श्रीवत्स को सभी पुरानत्व वेताग्रों ने श्रम से a crown like symbol ग्रथीत् एक मुकुट को तरह का चिन्ह लिखा है। किन्तु यह स्पष्ट श्रीवत्स है। शिल्पी ने इसकी चीड़ाई ग्रंधिक करदी है, इससे श्रम हुग्रा जान पड़ता है।

जैन मूर्तियों पर जो श्रीवत्स चिन्ह श्रं कित मिलते हैं उन पर अब विचार करना है। इससे यह जात होगा कि श्राचीन काल से अर्थात् भगवान महावीर के समय से भौर परवर्ती शताब्दियों में श्रीवत्स के रूप में किस प्रकार परिवर्तन हुये हैं। श्रीर भारत के विभिन्न प्रान्तों की जैन मूर्तियों पर श्रीवत्स किस रूप में उपलब्ध होते हैं। इससे मूर्तियों के काल श्रीर स्थान निर्णय में मुविधा प्रान्त होगी।

श्री जयसेनाचार्य ने प्रतिष्ठापाठ के श्लोक १५१-१०३ में ''विम्वनिर्माण्विधि लिखी है। किन्तु तीर्थं करों के वचस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह की जगह श्रीवृत्त लिखा है। ''श्रीवृत्तभूषि हृदय'' श्लोक-१५२। यह पाठ प्रशुद्ध मालूम देता है क्यों कि श्रीवृत्त ( ग्रशोक तह ) तो प्रष्ठ प्रातिहायों में है ग्रीर श्रीवृत्त का छाती पर प्रक्ति करने का प्रमाण कहीं उपलब्ध नहीं होता है। प्रभी तक एक भी प्रतमा ऐसी उपलब्ध नहीं हुई है। इसके ग्रतिरक्त ग्रजैन ग्रन्थों में भी श्रीवत्स ही छाती पर होना लिखा है न कि श्रीवृत्त ।

गुप्त काल में रचित वराहमिहिर की वृहत्संहिता के प्रध्याय ५८, श्लोक ४५ में—

ग्नर्हतां देवस्य लक्ष्णम् में कहा है कि— ग्नाजानु लम्बाबाहु: श्रीवत्साङ्कप्रशान्तमूर्तिश्च दिग्वासास्तरूणों स्पवांश्च कार्योऽर्हतां देव । श्री भट्टोन्पल ने इसकी टीका में लिखा है— ग्रह्तां देवो जिन ग्नाजानुलम्बवाहु कार्यः

जानु सम्प्राप्तहस्तः

श्री वत्साङ्कः श्रीवत्समङ्कः चिन्ह विशेषो यस्य सः प्रशान्तपूर्तिः जितेन्द्रियो रागद्वे परहितः दिग्दासा नग्नः सक्षाो यौद नोपेतः रूपवान् सुशोभनवयुः ।

अर्थात् अं हैं त भगवान की मूर्ति का रूप घुटनो तक लंबे हाय, बद्धस्थल के मध्य श्रीवत्मिचन्ह, प्रशान्त-मूर्ति, जितेन्द्रिय, रागद्वेप रहित, दिगम्बर, योवन ग्रीर रूप से सुशोभित हो।

"मानसार" शिल्प शास्त्र के घ्रध्याय ५५ के इलोक ७१ से ६५ तक में जिनविम्बनिर्माणविधि मे लिखा है कि—

निराभरण-सर्वांगं निर्वस्त्रांग मनोहरम् सव्य-वद्यस्यले हेम-वर्गं श्रीवरस लाञ्यनम्

अर्थात् भगवान जिनेन्द्र का विम्य ग्राभरण रहित, वस्त्र रहित, मनोहर श्रीर वसस्यल की दांई तरफ श्रीवस्त लन्ण सहित हो। सन्य का अर्घ वार्षे ना दाहिने दोनों होता है—मूर्ति का तो दिस्ण भाग भीर शिल्पी या दश्नं करने वाले के वांई तरफ। यहां विचारणीय प्रश्न यह है कि जैन प्रतिमा के वस्त स्थल की दाहिनी भीर श्रीवस्त चिन्ह का बनाना वयों लिखा। कपर कहा गया है कि भगवान विष्णु का वसस्यल हारादि ग्रलंकारों में आच्छादित (भूषित) होने के बारण, दिस्ण भागत में उनके वसस्यल की दाहिनी ग्रीर श्रीवस्त बनाया जाता था। यह विधि दिस्ण प्रान्त की पांच मात तीर्थवंर मूर्तियों में जो बहुत बाद के ममय में बनी, उनमें भपपाद हप से उपलब्ध होती है।

टी॰ ए॰ गोवीनाय राव ने भी घरती Elements of Hindu Iconography के जिल्द १ भ ग १ के पृष्ठ २२०-२१ पर जहां जैन प्रतिमा का गर्मान लिखा है उनमें श्रीवरस के नम्दन्य में निर्मा है कि यह चिन्ह छाती की दाहिनी घोर घं कित पाण जागा है घोर उसका रूप समान मुझ वाला निकास जिसको नोक लगर की घोर हो-ऐसा मिनता है।

यहां यह बताना द्यावश्यक है, कि बनान, उदीना स्रोर दक्षिण प्रान्त की तीर्थ कर मृतियां क्षीयान निगः रहित होती हैं। दिल्ला के कांची पुरम (जिन कांची) उत्तर ग्राकीट ग्रादि स्थानों में पांच सात तीर्थं कर मूर्तियां जो मध्यकाल के बाद की हैं उनकी छाती के दाहिने तरफ समित्र मुजाकार त्रिकोण चिन्ह है। यह ग्रं कन विष्णु भगवान की दिल्ला प्रान्त में उपलब्ध मूर्तियों का पूरा ग्रं धानुकरण है।

उपरोक्त तीन प्रान्तों को छोड़ कर अन्य सब प्रान्तों के जैन विम्बों पर श्रीवत्स भ्रंकित है-बह भी यद्यस्यल के मध्य में ही-ग्रौर त्रिकोणाकार नहीं । कुछ मूर्तियां श्रीवत्स रहित भी उपलब्ध हुई हैं।

श्रीवरस का प्राचीनतम उदाहरण भगवान महा-वीर के समय में श्रयांत् ई० पू० ६ ठी शताब्दी में उपलब्ध होता है—जैसा कपर वताया गया है। परवर्ती कई शताब्दियों तक इसके रूप में बहुत कम परिवर्तन हुये हैं। संलग्न चित्र में श्रीवरस की श्राकृति के विभिन्न परिवर्तन प्रदर्शित किये गये हैं जिनसे स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि विगत शताबिदयों मे कैसे कैसे परिवर्तन हये।

शुंग काल ग्रीर कुपाण काल तक तो इसका रूप प्राय: ई० पू० छठी शताब्दी जैसा ही रहा। कही कहीं नं. जैसा भी था। इस रूप को लेखकों ने श्रीक्त क कहकर पहिले 'दोनाग चिन्ह'' संज्ञादी । क्यों क इनका रूप ठिठ्ठ जैसा था गुरत काल में यही 'दो नाग'' जैसा अर्थात् एक सीधी कही रेखा के बाई श्रीर अर्थे जी अन्तर ठ श्रीर उसी रेखा के दिन्नण तरफ भी वैसा ही उल्टा हुपाठ रूप श्रीवरस का हुपा और वह ६ ठी शताब्दी तक प्रचलित रहा। (उत्तर भारत में) मध्यकाल में इसका रूप विषम कोणी-सम-चतुभूं क रूप श्रथात् चतुं दल पुष्प जिसके पाश्वं के दल छोटे श्रीर विस्तृत श्रीर शीप श्रीर तल दल किचित् दीधं थे। तदनन्तर सम चतुं भूज पुष्पाकार रूप हो गया।

दिल्ए भारत के प्राचीन शिल्प में श्रीवरस का स्म कुपाए कालीन जैसा ही था, जैसा धमरावती के बोढ़ स्तूप में उपलब्ध हैं। परिवर्ती पत्लव काल में भी इसकी पूर्वाकृति ही रही।

राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली के मिनरचक श्री शिवरामपूर्ति से मुक्ते जो सहायता-इस लेख के लिये प्राप्त हुई है, उसके लिए उनका माभारी हूं।

नोट--कालक्रम-भगवान महावीर ई० पू० ६०० वर्ष

मौर्यकाल-ई० पू० ३२४ से १८४ वर्ष सुंगकाल-ई० पू० १८४ से ७२ वर्ष सुंगकाल-मधुरा-ई० पू० ५७ से २० वर्ष कुपाएगकाल सन १ से सन १७६ गुप्तकाल-सन ३२० से सन १०० पूर्व मध्यकाल-सन ६०० से सन ६०० श्रोर उत्तर मध्य काल सन ६०० से १२००

### प्रो० देवेन्द्र कुमार जैन, हिन्दी विभाग, गवनंभेंट संस्कृत कालेज, रायपुर

# भारतीय वाङ्मय में जैन सिहत्य का योग-दान

भाव लिह्त होता है उसका मूल कारण इस देश की ग्राध्यात्म विद्या है। यह विद्या सनातन है। इसमें लीकिक तथा श्रित लीकिक वृत्तों का प्रतिष्ठान है। सांसारिक ग्रीर निविकत्पारमक ग्रानन्द की उपलब्धि इसका लद्द्य है। प्राणी मात्र सुख के लिए लालायित है। सुख ग्रानन्द मूलक है। यही भारतीय जीवन का परम उपास्य रहा है।

वाङ्मय के दो भेद हैं—शास्त्र ग्रीर काव्य । इसके ग्रन्तगंत, मानव जीवन के विभिन्न ग्रंगों का तात्विक तथा मानसिक ज्ञान समाहित है । यद्यपि भारतीय परम्परा में ग्रागम-शास्त्रों |का विशेष महत्व है पर काव्य को भी जीवन का ग्रंग माना है । विविध शास्त्र ग्रीर ग्रन्थ काव्य को है । प्राकृत, संस्कृत ग्रीर ग्रप्त शे ही नहीं ग्रन्य भाषाग्रों में भी ऐसी रचनाग्रों की बहुलता है ।

प्राचीन जैन-सोहित्य में अंग-उपांग सूत्र, संहिता,
पूर्णि, घवल, वार्तिक, प्राभृत ग्रादि विविध विधाएं
हिष्टिगत होती हैं। समूचे भारतीय वाङ्मय की यदि
ग्रतुल निधि का मूल्यांकन संभव हो तो मेरा ग्रनुमान है
कि परिमाण में नहीं तो भाव-रचना की हिष्ट से लगभग
ग्राधा भाग जैन-साहित्य का होगा। श्रातम-तत्व का
जैसा सूदम विवेचन जैन दर्शन एवं साहित्य में है कदाचित्
ही वैसी अन्यत्र तर्कगुक्त और सटीक हो।
किंग्तु सेद है कि देश ग्रीर काल की सीमामों
से प्रसंयुक्त होकर जो निव्युल राशि इन साहित्य की प्रमूत

भारतीय वाङ्मय को जैन साहित्य की देन अनुपम है। यद्यपि यह विपुल साहित्य आज भी हजारों प्रन्यों की संख्या में भण्डारों में सुप्त पड़ा है तथापि उपलब्ध रचनाओं की तोल कम नहीं है। वस्तुतः भारतीय साहित्य को अनु प्राणित वनाये रखने में इस साहित्य का विशेष योग हैं। इस साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियां आज भी-भारतीय साहित्य में दिण्टगोचर होती है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने जैन साहित्य की विशद विवेचना की है।

हुई थी उसका प्रधिकांश भाग विद्रोहियों का हृदिव्य बन गया ग्रीर जो अवशिष्ट है वह माज भी चहुत बुख ग्रंप-कार की मोटो तहों में लिपट कर सोया हुमा है। एक समय था जब साम्प्रदायिक भावनायें ईप्यों की हृष्टि में जल उठती थी ग्रीर ग्राज भी हम भेदक रेगामों में ऐसे वंट गये हैं कि मन ही मन मुद्रते भीर एनते रहते हैं। इस साहित्य में लौकिक गायामों तथा क्यामों का विशेष स्थान है। वे जीयन के प्रधिक निकट है। उनमें भारतीय परिवार, समाज भीर देश का प्रतिबन्ध है। वैदिक साहित्य के मूल की तरह यहां श्रीत लौणिक घटनामों को मुख्य स्प प्राप्त नहीं है क्योंकि थे जीवन का भंग न होकर शहरान माठ हैं। जान परता है कि रहस्यात्मक शक्ति प्रदर्शन के निमित ही उन्हें यह ढ़ांचा दिया गया है। जैन कथा-साहित्य में यह वात नहीं है। प्राकृत ग्रीर ग्रपभ्रंश का साहित्य

संस्कृत की भांति प्राकृत ग्रीर ग्रयभंश का साहित्य भी मुख्यतः पौराणिक है। दर्शन के ग्रनन्तर पुराण शास्त्र का स्थान माना जःता है किन्तु मेरे विचार में पुराणों का विकास पहले हुमा है। वर्षों तक ये मौखिक रूप में प्रचलित रहे है। पुराणा शास्त्र ग्रीर दर्शन शास्त्र ही भारतीय विद्या की रीढ़ है। पुराणों में जिन मूलभूत सिद्धान्तों की चर्चा मिलती है उनके बीज ',या तो उपनिपदों में विखरे हुए मिलते हैं प्रयवा ग्रंग—उपांग सूत्रों में। वेदों में मतवादों का विवेचन नहीं है। विचारों के सिद्धान्तिक विभेदों में 'ब्रह्म की कल्पना' का ग्रतिशय योग रहा है। इतिहास इसका सबसे सबल प्रमाण है।

जैन साहित्य-का झादि भाग मूलतः प्राकृत में लिखा गया है। प्राकृत सदा से इस देश की जनभाषा रही है। प्राचीन माचार्यों ने इसे 'वालभाषा' भी कहा है । मराठी तो ग्राज तक 'प्राकृत' कही जाती है। महाराष्ट्र में इसे प्राकृत कहने का चलन है। विद्यापति ने काव्य की रचना 'देशीवचन' में की है। उनके मत में 'देसिलवग्रना सवजन मिट्टा' है। ग्रवभ्रंश-काव्यों ने ग्रयनी भाषा को 'देशी' कहा है। प्राकृत के कवि कोऊहल की 'लीलावई' कथा भी देशी, भाषा में निवद है। यही नहीं, जन भाषाओं का 'प्राकृत' नाम कदाचित् पहलें पहलें वैयांकर**्यों** सीर मालंकारिकों ने निर्दिष्ट किया है। 'म्रपम्न'श' शब्द का पता हमें व्याडि, भर्तृंहरी तथा पतञ्जलि के 'भ्रपशब्द' से मिलता है। अपशब्दों की बहुलता देलकर ही देशी भाषा 'ग्रपञ्च' श' कही जाने लगी। ग्रपञ्च'श का श्रधिकांश साहित्य जैन साहित्य ही है। बौदों के चर्यापद, अन्दुल रहमान का 'सन्देश-रासक' तथा कतिपय रासो रचनाग्रों के अतिरिक्त समूचा अपभ्रंश वाङ्मय जैन-साहित्य है। प्राकृत में इस परम्परा का मली प्रकार स्रोत मिलता है। इस साहित्य में प्रायः सभी विषयों पर बहुत कुछ सामग्री है। उदाहरण के लिए-व्याकरण, छन्द: शास्त्र, कोश, ग्रलंकार, नाटक, रूपक काव्य, महाकाव्य, गीतिकाव्य, चम्पू, रासो, ऐतिहासिक एवं प्रेमास्यानक काव्य, खएड काव्य, करुणगीति, कथा काव्य, चरित, प्रनुयोग, पृच्छ, वेलि, चर्चरी, फागु, वारहमासा, चूनरी, दूहा, चउगई, ढाल, गीत, कोप, दूतकाव्य, प्रनुप्रेचा, कव्य, स्तोत्र, स्तुति, कुलक, ग्रमिधेक, कत्याणक, संघि ग्रादि।

### श्रनुपंम देन

साहित्य के अतिरिक्त आयुर्वेद, गणित, ज्योर्तिष, वास्तु शास्त्र, शिल्पविधि, मत्र-तन्त्र, योग, रमलविद्या, होरा शास्त्र, यन्त्र, जातक, काम शास्त्र, धर्म शास्त्र, तया वनस्पतिशास्त्र इत्यादि विभिन्न विषयों के ग्रन्योकी रचनाएं मिलती हैं जिनको देखने पर संरलता से निश्चय हो जाता है कि भारतीय वाङ्मय को जैन साहित्य की देन मनुपम है। यद्यपि यह विपुल साहित्य ग्राज भी हजारों ग्रन्यों की संख्या में भएडारो में सुप्त पड़ा है तथापि उपलब्ब रच नाओं की तोल कम नहीं है। वस्तुत: भारतीय साहित्य की अनुप्र। िएत बनाये रखने में इस साहित्य का विशेष योग है। इस साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियां ग्राज भी-भारतीय साहित्य में दृष्टिगोचर होती हैं। यया-मराठी, गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी में प्रयुक्त झनेक मात्रिक छन्दों का स्रोत प्राकृत एवं अपभ्रंश-साहित्य में निहित है। 'भासा' में लिखी गई प्रारम्भिक जैन रचनामों की बारहमासा, पट् ऋतु वर्णने, चरित-वर्णन, रासो ग्रादि की विविध पदितयां हमें परवर्ती जायसी, तुलसीदास, सूरदास, विद्यापित आदि की रचनाओं में दिखाई पड़ती हैं। अपभ्रंश की अद्धंचतुष्पदी (दुवई) की मराठी ने बहुत अपनाया है। मराठी का 'स्रोबी' छन्द भीर घवलगीत अपभ्र<sup>°</sup>श–परम्परा से विकसित हुँए हैं । 'गाया' तथा 'दूहां<sup>'</sup> जैन-साहित्य के सर्वाधिक प्रिय एवं लाडले छन्द हैं। राजस्थान का ग्रधिकांश साहित्य 'दूहा' में निबद्दे हैं। उत्तर भारत में ही नहीं दिल्ला भारत में भी दूहा, चउपई ( द्विपदी, चतुष्पदी ), गाथा झादि छंदीं की पहले पहल जैन कवियों ने भ्रपनाकर साहित्य रचना की! मराठी के दुहरा, दुपदा, त्रिपदा, पंचपदा, सवाईमा मादि

छन्द प्राकृत के जान पड़ते हैं। वस्तुत: देशी भाषा और मात्रिक छन्दों के पुरस्कर्ता जैन विद्वान एवं मुनि कहे जा सकते हैं।

### म्रादिकालिक रचनायें

मापाविषयक खोज से पता लगता है कि हिन्दी के मादिकाल की प्रारम्भिक रचनाएं जैन-साहित्य है। प्रायः जैन लेखकों ने जनभापा को अपनाया है। 'फ:पा' में भी पांच सो से अधिक काव्य मिलते हैं। आदि वाल में इतनो अधिक रचनाओं की उपलब्धि आरचर्य और गौरव की बात है। भाषा की हिष्ट से इन रचनाओं का अत्यन्त महत्व है। शुक्तजी के शब्दों में भले ही कुछ रचनाएं 'नोटिस मात्र' रही हों पर ये वस्तुत: साहित्यिक तत्वों से समित्वत है। सामाजिक और सांस्कृतिक हिष्टिकोण से भी कितपय रचनाएं उपयोगी हैं। कुछ रचनाओं में हमें मुगलकालीन भारत की अच्छी भलक मिल जाती है। हिन्दी के विकास की सारिएि। को समभने के लिए जो महत्व अपभंश भाषा का आंका जाता है उससे कम इन रचनाओं की भाषा का नहीं है।

प्राकृत में ई० पू०-३००-४०० के लगभग लिखा गया 'ज्योतिष करएडक' जैसा उपादेय तथा सुलभा प्रत्म कहा जाता है वैसा भारतीय वाङ्मय में दिरल है। कदाचित् तभी आर्यभट्ट प्रथम ने 'आयभटीय' संस्कृत में लिखा था जिसमें पृथ्वी की परिधि ४६६७ योजन कही गई है। किन्तु सूर्य-सिद्धान्त सम्बन्धी युक्तियुक्त विवेचन ऋषिपुत्र ने सबसे पहले किया था। इनना प्रभाव विराट मिहर पर भी हैं। ज्योतिष और सम्बन्धी विचारों में भी विभेद दिखाई देता है।

सन्यदरांनों को भांति जैनदरांन में भी मौलिकता मीर नवीनता के दर्शन होते हैं। इस दर्शन के प्रायः सभी प्रन्य न्याय-पद्धति पर प्रौढ़ संस्कृत भाषा में लिखे हुए मिलते हैं। भाषा की हिन्द से भी अंग-सूत्र, भ्रागम, कपाकीय, काव्य, पुराख भादि का दिशेष महत्व है। संचार्य सोमदेव का यशस्तिलक, घनपाल दी तिलक-मञ्जरी वादीभ सिंह की गद्यचिन्तामिण, एवं इस चूडामिण, हरिचन्द्र का धर्म शर्मा म्युद्यम दि संरहत-रचनाएं तथा पडम चरिड, समराइच्च कहा, लीलावती, वासुदेव हिएडी प्राकृत के ग्रन्य भीर-भविसयत कहा, पडम चरिड, महापुराण, रासी -भपन्न श की महत्वपूरा हैं। इनमें लोक-भीवन की मांकी के साथ ही-देशी राट्यों की बहुलता दिखाई देती है।

### ग्रन्य भाषाओं में भी

प्राकृत, संस्कृत, अपश्रंश और हिन्दी में ही नहीं
गुजराती, राजस्थानी, कन्नड़, तिमल तथा प्रज में भी
विपुल जैन-साहित्य रचा गया है। गुजराती, राजस्थानी
तथा कन्नड़ भाषा और साहित्य का आरम्भ जैन-रचनाओं
से माना जाता है। गुजराती का प्राचीन साहित्य तेरहवी
शताब्दी का कहा जाता है। इस काल भी मुरा रचनाएं
हैं: भरतेश्वर बाहुवित्रास (शालिभद्रमूरि), रेवन्तिगिरिरास (विजयराजेन्द्रसूरि) बुद्धिरास (शालिभद्रमूरि)
तथा गयगुदुमाल रास (देवेन्द्र सूरि) रूट्यादि।

उपलब्ध रचनाओं में बन्तज़ की सबसे प्राचीन रचना 'कविरालमार्ग' है। इसके रचियता जैन विश्व श्री विजय माने जाते हैं। 'वर्डाराघने' शिवकोट्याचाय की प्रसिद्ध गद्ध-रचना है जिसमें महापुर्यों का जीवन-चिरत्र विश्वत है। बन्तज़-साहित्य पर 'पम्प रामायण' का विशेष प्रभाव कहा जाता है। इस साहित्य के इतिहास में 'पम्प-युन' ( ६५० ई०— ११५० ई०) सत्यन्त समृद्ध है जो 'स्वर्णवाल' के नाम से भी-प्रिच्छ है। इस काल का दूसरा साम है 'जैनयुन', वयोजि इस गविध में कल्लड़-साहित्य की श्रीहृद्धि करने में जैनमजायनस्थी कवियों वा हाय मुख्य रहा है। प्रत्येक विव ने पामिन बाव्य के साथ ही— लोविक सबदा शुद्धकार रचे हैं। वैदिक साहित्य की भांति जैन साहित्य में भी-राम नथा कृष्णा चरित विषयक प्रयुर मामधी उपलब्ध है। ईन सम्प्रदाय में भी—सीटा—उपति के मन्दन्य में दी तरह

१. विस्तृत विवर्ण के लिए; 'भारतीय ज्योतिष' नैमिचन्द्र साहनी, पृ० १२=

२. 'हिन्दी साहित्य कोश', पृ० १८७।

को मान्यताएं तथा तत्सम्बन्धी साहित्य है। दिल्ला भारत से लेकर उत्तर तक की राम चरित विषयक विविध धारणाएं जैन साहित्य में अनुम्यूत है।

यद्यपि हिनल-साहित्य की सर्वप्राचीन रचनाएं ग्रनुपलव्य हैं पर उपलब्ध ग्रन्थों के ग्राधार पर पता लगता है कि 'संघोत्तर-काल' या काव्य-काल में जैनियों का ग्रत्यन्त योगदान रहा। इस यूग में 'पञ्चबृहत्काव्य' तथा 'पञ्च लघु काव्य' की रचना मुख्य वताई जाती है। पांच महाकाव्यों में से इलंगो विरचित 'शिलाप्यदिकारम्' ग्रीर जैन मृति तिरुत्तक्कदेवर-कृत 'जीवक-चिन्तामिए' प्रसिद्ध प्रवन्ध काव्य हैं। जीवक चिन्तामिए। की रचना महत्वपूर्ण हैं। इसमें नीति ग्रीर रीति का भी उचित समावेश है। पांच लघु काव्य हैं-नीलकेशि, शूनामिश, यशोदरकाबियम्, नागकुमार कावियम् ग्रीर उदयणन् कदै। कौतूहल का विषय यह है कि ये दसों काव्य जैन एवं बौद्ध मृतियों-कवियों द्वारा रचित है। १ तेलुगू में भी -जैन कवि प्रयर्वण, विजयराघव ग्रादि उल्लेखनीय हैं। कन्नड-साहित्य के पम्य-युग में जैन कवियों ने जिस चम्पू शैली का प्रचलन किया था वह ग्रह्मन्त लोकप्रिय होने से कालान्तर में वीर शैव किवयों के द्वारा भी सपनाई गई। २ इस प्रकार प्रबन्ध काव्यों की तन्त्रात्मक

तथा शैलीगत विकास का श्रेय-जैन-रवियों की प्राप्त है।

इस साहित्य के सुदम तथा गम्भीर ग्रन्थयन से कई ऐसे तथ्य प्रकाशनीय हैं जो मेवल साहित्य-जगत में ही नहीं अपितु गिएत, विज्ञान, श्रायुर्वेद, ज्योतिप, भगोल तथा वास्तु एवं शिल्प विषयकं विभिन्न जानकारी से पूर्ण होंगे। सभी तक जैन साहित्य का पूरा अन्वेपण नहीं हुआ है इसके अनेक कारण हैं। जैन मतानुयायियों की संख्या वैसे भी ग्रल्प है। फिर इस कठोर सावना में लगने वालों की संख्या तो ऊंगलियों पर गिनाई जा सकती है। यदि निष्पच हृष्टि से देखा जाय तो यह साहित्य अपने आन्तरिक परिधान में कहीं भी-साम्प्रदायिक नहीं दिखाई देता है। सबसे वडा ग्राश्चर्य तो यह है कि मुल साहित्यिक दार्शनिक ग्रन्थों में कहीं भी-किसी तीर्थ विशेष या मतवाद का प्रतिपादन नहीं है। जीवन की सहज प्रनुभूतियों के साथ मनुष्य की उन्नति शील बनानें के लिए वाह्य तथा आन्तरिक नियमों एवं सिदान्तों का सांकेतिक रूप में स्थान-स्थान पर जल्लेख हैं। वस्तुत: ये नियम व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक मनुष्य के लिए महत्वपूर्णं हैं। इनका 'मत' श्रीर 'वाद' से कोई सम्बन्ध नहीं है श्रीर-इस तरह के नियम लगभग सभी घर्म श्रीर मजहवों में पाये जाते हैं।  $\times \times$ 

जैन-धर्म सर्वथा स्वतंत्र है। मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नहीं है। और इसलिए प्राचीन भारतवर्ष के तत्व ज्ञान का, धर्म पद्धति का अध्ययन करने वालों क लिये वह बड़े महत्व की वस्तु है।

—हा० हर्मन जैकोवी

१. 'तमिल श्रीर उसका साहित्य,' पूर्ण सोमसुन्दरम् पृ० १३।

२. 'हिन्दी साहित्य कोश', १६१।

डा० हरीश एम. ए., डी. फिल. एम. बी. कालेज, उदयपुर

# आदिकाल की प्राचीनतम हिन्दी कृति "मरतेश्वर बाहुबली घोर"

हिन्दी साहित्य की विषय प्रधान रचनाओं में एक अपने ही प्रकार की रचना "भरतेश्वर बाहुवली घोर" है जो अद्यावधि प्राप्त रचनाओं में पर्याप्त प्राचीन-मत है। सं० १२४१ में शालिभद्रसूरि विरचित भरतेश्वर बाहुवली रास ही अब तक सबसे प्राचीन कृति समभी जाती रही है। परन्तु यह रचना इससे भी पुरानी है। रचना की मूल प्रति जैसलमेर के खरतरगच्छीय पंचायती भंडार में सं० १४३७ की संग्रह प्रति में लिखी हुई है। एक रचना श्री भंवरलाल नाहटा ने प्रकाशित करदी है। रचना की पुष्पिका तथा। श्रन्य विवरण को देख कर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पर्याप्त महत्व-पूर्ण ग्रीर प्राचीनतम है।

घोर संज्ञक रचनाएं श्रद्धाविष्ट एक से अधिक नहीं उपलब्ध हो सकी तथा घोर नाम से कोई छन्द विशेष या रचना प्रकार का भी उल्लेख नहीं मिलता अपितु इसके विषय को देखकर यह कहा जा सकता है कि भरतेश्वर भोर बाहुबली की युद्ध जन्य भयानकता के कारण ही कि ने इसका नाम घोर रख दिया है।

भरतेश्वर ग्रीर वाहुबली के युद्ध का प्रसंग नया नही है। प्राकृत ग्रीर संस्कृत में इस कथा पर कई विस्तृत हिन्दी साहित्य की त्रिपय प्रधान रचनाओं में एक अपने ही प्रकार की रचना भरतेश्वर बाहुबली घोर हैं जो श्रद्यविध प्राप्त रचनाओं में पर्याप्त प्राचीनतम हैं।

यह रचना इससे भी पुरानी है। रचना की मूल प्रति जैसलमेर के खरतर गच्छीय पंचायती भंडार में सं० १४३७ प्रति में लिखी हुई है। प्रस्तुत लख में लेखक ने इस रचना पर खोज पूर्ण प्रकाश डाला है।

उल्लेख मिल जाते हैं। दे साथ ही यनेक मंदिरों और मृतियों में भी भरत और बाहुबली की मूर्तियां तज्ज्ञ्य इतिहास को स्पष्ट करती हैं। प्रति में कही भी रचना वाल नहीं मिलता पर वयो कि इसके रचनाकार यक्कनेत मूरि के गुरु देवसूरि का काल सं० ११७४ तक या घतः इसवा रचनावाल १२ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रथ्या १३ वी के पूर्वार्द्ध के प्रथम दी दर्शकों में ही वहीं रहा होगा। रचना प्राचीन है और गुद्ध की भयंकरता को विव ने नुस

१. पंचायती मंडार जैसलमेर-स्वाध्याय पुस्तिका कुल पत्र ४४० पत्रांक ३६२-३६८।

२, शोध पत्रिका भाग ३ अंक २ पृ० १४१-१४७ पर श्री भंवरलाल नाहटा का लेख ।

३. पुस्पिका—सं० १४२७ वैशाख सुदि द्वितीया दिने सुगुरू श्री जिनराजनूरि सदुउदेशेन पं० देदापुत्र देव गुर्बाशा चित्रामि विभूषते मस्तक्या माक श्राविक्या सात्म पृष्यार्थ स्याध्याय पुष्पिता लिखिता वाच्यमाना श्राचंद्राक नंदतु ६॥

४. वद्धमान सूरि रचित म्रादिनाथ चरित (जैसलमेर)

४८ छंदों में संजोया है। १३ वीं शताब्दी में गुजरात ग्रीर राजस्थान में युद्ध चल ही रहे थे। ग्रतः कवियों की समयानुकूल प्रेरणा स्वाभाविक घी जिसके फलस्वरूप घीर ग्रीर उसके प्रसंग की परवर्ती रास संज्ञक दोनों रचनाएं लिखी गईं।

घोर की इस भाषा में प्राचीनता हिंग्टगोचर होती है। कृति में रचना स्थान भी कहीं नहीं मिलता। पर बहुत संभव है कि यह राजस्थान में ही रचा .गया होगा क्यों कि वादिदेव सूरि के शिष्यों की प्रसिद्धि नागौर से हुई, जो मारवाह का प्राचीन नगर रहा है।

रचना नमस्कार से प्रारम्म हुई हैं। काव्यात्मक हिन्द से यह कृति वीर रस की सुन्दर रचना है। वयाँ कि पूरा काव्य युद्ध के प्रसंग को लेकर शान्त रस में जाकर समाप्त हुमा है। कया में म्रतेश्वर की दिन्वजय ही प्रमुख प्रसंग है। प्रयम पंक्ति से १० पदों तक एक छन्द और ११ वें पद से अन्त तक दूसरा छन्द प्रयुक्त किया है। मरतेश्वर के गर्व पर वाहुवली का चित्र किन प्रारम्भ में ही चित्रत कर देता है:—

पहु भरहेसर ऐव, बाहुविलिहि कहा वियव जह वहु भन्निहि सेव तो प्रशावत संग्रामियित गएमा एकड नांव, दूत्रोलिहि गंज्या विषय सो बाहुविल ताव दूसर गलइ नियावियर रे...

भाषा की सरलता, वर्णन का प्रवाह और काव्य की सुग ठतता का अव्ययन युद्ध के इस वर्णन से हो जाता है। ओन का प्रवाह रस निष्पत्ति में पूर्ण योग देता है। किन ने निविध हण्टान्तों हारा काव्य में युद्ध के वातावरण को उभारा है। कुछ निविध चित्र देखिये:—

स्ततह गांगह तीरि दहन जेव उच्छालियन

धान म होन सरीरि पड़त न्दय करिमालियन

तं वीसरिय प्रानु, भरहेसक भय भिमलक

न्द करिलाधन र.जु तिक प्रम्ह सेन मना विस्पह
गंग सिंघु दुइ रांड प्रनु नइ नाहल साहिया

प्रे तीणाइ छह खांड जीतन मानइ भागरन १५-१७)

×

कोवानल पज्जलिन तान, भरहेमक जंपइ

रे रे ! दियह पियाण ठाक, जिमु महियलु कंपइ
गुलु गुलंत चालिया हाथि नं गिरवर जंगम
हिसारिव जहिरिय दियंत हिल्जय तुरंगय
घर डोलइ खलंभलइ, सेनु दिणियर छाइज्जइ
भरहेसरू चालियज कटिक कसु ऊपम दीजुइ
तं निमुणो निणवाहु निलाण-छीवह गय गुडिया
रिण रहिस हिच उरंग दिलहि ने उपासा जुडिया
प्रति चानिक पाडरं होइ प्रति ताणि उत्तूटइ
प्रति मिथयं होइ कालकूट प्रति भरिय फूटइ(२०:२४४
इस प्रकार किन की नीतिज्ञता भी साथ-साथ स्पट्ट
होती है जिससे काव्य के प्रयं गांभीयं का परिचय
मिलता है।

दोनों भाई रए। में ग्रनल वेग की भांति जूमे। भीर अन्त में दोनों के द्वन्द युद्ध निश्चित हुए पर भरतेश्वर के ग्रमर्यादित होने पर बाहुवली को वैराय्य हो स्राया । द्वन्द युद्ध वर्णन का प्रवाह कुछ सोरठों में देखिए:-

जइ वूभिस तउ वूभि काई मांडलिए मारिए पहरण पारवह भूम झंगो झंगिहि की जिसइ तउ घुरि जोवैताह ग्रासिहि पाणिउ ग्राइयउ वादिह बोलंतोइ भरयिह पहिक तरू निह मूम्बि मुद्रदेडेहि मत्त्र भूमुतिह निम्मियं भूठिहि ग्रह्दंडिह भगहुजीतु वाह्वलिहि X करियालि चनकु घरेवि, जाल फुल्लंगा मेल्हतक मूकवं विल घवलेवि, प्रवहद नाहदं गोवियह (३७) तो पाऐ लागेवि भर हेसरि मनावियड वंघव । मूज्मु समेहि तइं जीतव मडं हारियउ कतरू ताव न देइ, बाहबलि भरतहेसरह राणे सरिसंड ताव, भरहेसरू घरि म्राइयंड (४१) मावए। तिव मावेड, जिव भावी भरहेसरिहि तउ केवल पावेह (ए) राजु करंतां तेएाजिव (४८) रचना की समाप्ति शान्त रस-में हुई है। उक्त

उदरणों से रचना की काव्यात्मकता स्पष्ट हो जाती है।

वस्तुन: रचना पर्याप्त प्राचीन होने से इसका ऐतिहासिक

श्रीर काव्यात्मक महत्व है।

१. भरतेरर वाहुवली घोर : पद ११-१२ पृ० १४४ जोवपत्रिका ग्रंक २।

# त्र्रामेर गादी के महारकों की साहित्यक एवं सांस्कृतिक सेवा

्रेन समाज में भट्टारकों की परम्परा बहुत प्राचीन .. , है। भगवान महादीर के पश्चात विभिन्न गए। गच्छ एवं ग्राम्नायों के रूप में सैकड़ों भट्टारक हुए जिनका उल्लेख पट्टानिलयों, ग्रंथ-प्रशस्तियों, मूर्ति एवं शिला लेखों, भट्टारकीय गीतों म्रांदि में हमें उपलब्ध होता है। इन भट्टारकों ने जैन घर्म के प्रचार एवं साहित्य तथा संस्कृति के विकास में जो अपना महत्वपूर्ण योग दिया था उसकी हमें किसी प्रामाणिक इतिहास के ग्रभाव में कोई जानकारी नहीं मिलती। वास्तव में देखा जावें तो ये भट्टारक अनुमानत: एक हजार वर्ष तक जैन धर्म एवं साहित्य पर छाये रहे और उसके विकास में उन्होंने अपने जीवन के बहुमूल्य समय का संदुपयोग किया। वागुंड़ एवं गुजरात प्रदेश में भट्टारक सकल्कीति जैन घर्म के ह्मास को देख कर ही गृहस्थ से साधु बने तया ब्राठ वर्ष तक घोर परिश्रम पूर्वक अध्ययन करके उस प्रदेश में जैन धर्म एवं साहित्य की ऐसी नींव डाली कि उनकी मृत्यु के परचात की वह परम्परा ३०० वर्षी तक उसी रूप में चलती रही। ये भट्टारक जहां घमं गुरु थे वहां जैन समाज के एक प्रकार से सम्राट भी कहलाते थे।

भट्टारक परंपरा का प्रारंभिक इतिहास-

भट्टारक पट्टाविलयों के अनुसार सर्व प्रथम आवार्य भद्रवाहु संवत् ४ में भट्टारक हुए और उसके पश्चात् गुप्त गुप्ति माधनंदि, जिनचन्द्र कुन्द कुन्द उमास्वामि, जैन समाज में भट्टारकों की परम्परा बहुत प्राचीन हैं। भगवान् महावीर के पर्स्वात् विभिन्न गए गच्छ एवं त्राम्नायों के रूप में सैकडों भट्टारक हुए जिनका उल्लेख पट्टावित्यों, यंथ-प्रशस्तियों, मृर्ति एवं शिला लेखों, भट्टारकीय गीतों त्रादि में हमें उपलब्ध होता है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने भट्टारकों की परपरा पर विशद प्रकाश डाला है।

लोहाचार्य ग्रादि ग्राचार्य भी भट्टारकों की परम्परा में ही होने वाले मान लिये गये। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में ये भट्टारक नग्न होते थे लेकिन बाद में परिस्थितियों वश शिथिलता शाने के कारण इन्होंने यह घारण करने की परम्परा डाल दी। इस परम्परा को सबसे श्रीयक बल मुस्लिम कार्ल में मिला जिसका एक प्रमाण निम्न उल्लेख से मिलता है।

"संवत् १३१६ के सालि दिल्ली में भट्टारण प्रभा-चंद्र जी राघोचेतन स्युं बाद कियो तय जीत्या। तम हुरमां पातिस्याह पेरोजसाहि ने वही जु हम पर्स प्रतीत का दरसन करें तब सांखा खावेंगे। तम पातिस्याह ग्ररज करी ग्रर गूजर चांदोपिता पाप्टीयास न सं ग्ररज कराई तब क्यडा १३१६ के सानि पहरण भट्टारक प्रभावन्द जी कलंकी ग्रसावदी के पाई १२ पाटि सारंग- साह वोसवाल के चरपादार पेरो ज्यो सिकराका वैठिया किर पाटि वैठो २७ लाख घोडा को घएी हुवौ" (गुटका नं० १५२ मंदिर पाटोदी जयपुर पत्र सं० १८)

भट्टारक प्रभाचन्द भट्टारक रत्नकीति के शिष्य थे।
ये वड़े प्रभावशाली विद्वान् एवं मंत्र तंत्र के जानने वाले
थे। दिल्ली में जाने पर वादशाह फिरोजशाह द्वारा ग्रद्वितीय
राजकीय ठाठ वाट से स्वागत किया गया। इसे देख
विद्वान राघव को ईर्ष्या हुई। उसने मंत्र वल से भट्टारकजी
की पालकी को कीलित कर दिया। भट्टारकजी ने तुरन्त
ही ग्रपने विद्यावल से पालकी को चला दिया। इसंके ग्रदिन
रिक्त यमुना नदी में घड़ों की नाव से ग्रघर के ग्रघर
राघव को पार कर देना तथा ग्रमावस्या को पूर्णिमा वना
देना ग्रादि चमरकारों से वादशाह भट्टारकजी से बहुत ही
प्रसन्न हुग्रा तथा उन्हें रावल पद से विभूपित किया। उक्त
चमरकारों का उल्लेख ठोलियों का मन्दिर जयपुर के
गुटका नं० ६२ में निम्न प्रकार संग्रहोत हैं—

"दिली सुयान करता प्रवेस । प्राया सामहणी नर नरेस । पालिकी चलत किलीय प्रतिख छिए एक मांभ मुनिराज लखि। विद्याविलास करि इष्ट पारा। पालिकी चली उतर प्रमासा। कमंडल सु वाद कीयो प्रचंड। राघव वचन कीय खंड खंड। जमना जल तर्गी कुंभ भार। राखिया राघी ने ग्रघार। मुनिराज कुंभ ते विघटि दीय। कुं जाभिलिमल आनु अरुएकीय। पतिसाहुचाव देखें इ श्रपार । राघौ ने मुनिवर ततसार। ग्रमावस हुत पुत्यो प्रमाण । मोटी राघव तणी माण । पतिसाहु वंदै मुनिराज पाव। जग ऊपर मोटा जतीपराव ।

रावल पद दीयो दिलीय नाध । तुम बड़े सुगुरु हम कीयेसनाय । दोहा

तुम सनाथ हम की कियो बढ्योउ दिली सबील।
श्री प्रभावन्द वाद्यां तिलक कीय पेरोज सतील॥
विभिन्न गरा एवं गच्छों की स्थापना

प्रारम्भ में मट्टारकों का एक ही गए। (संघ) या किंतु फिर यह मूल संघ, सेन संघ लाड बागडगच्छ तया फिर देशीय गए। वलात्कार गए। सेनगए। प्रांदि अनेक गए। एवं गच्छों में बंट गया। ज्यों ज्यों भट्टारक संघ लोक प्रिय होने लगे त्यों त्यों जनने प्रयने २ पाट स्यापित किए प्रीर प्रयने प्रयने प्रदेश भी बांट लिये। भट्टारकों का यह विकास संबत् १८०० तक व्यवस्थित एवं प्रवाधितरूप से चलता रहा।

### भट्टारकों की साहित्य सेवा

भविकांश भट्टारक बढ़े भारी विद्वान हुए हैं। साहित्य निर्माण एवं ग्रंथ संग्रह की ग्रोर उनका विशेष ध्यान रहता था। गांवों एवं नगरों में बहुत से शास्त्र मंडार उन्ही की प्रेरणा से स्थापित किये गये थे। वर्ती-द्यापन एवं प्रतिष्ठा समारोहों के धवसर पर ये श्रावक श्राविकाओं को जैन ग्रंथ लिखवाने के लिये प्रेरित करते ग्रीर फिर उन्हें विभिन्न शास्त्र भएडारों में विराजमान करते। ग्राज भी नागीर, ग्रामेर, ग्रजमेर, ऋपभद्व कुचामण जयपुर ग्रादि स्थानों में जो बड़े भएडार मिलते हैं वे सब इन्ही भट्टारकों की देन हैं। ये स्वयं विद्वार होते थे और श्रावकों के झाग्रह से ग्रंथ रचना किया करते थे। भ० सकल कीति, शुभचन्द्र, व्र. जिनदास, भ० रल कीर्ति, ज्ञान भूषण झादि कितने ही भट्टारकों नेजो प्र" रचना की घी उसमें प्रधिकांश श्रावकों की ही प्रेरणा थी। भट्टारकों के संघ में प्राचार्य, मुनि, ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणियां एवं पंडित हुम्रा करते थे जो पठन पाठन ग्रंथ लेखन आदि का कार्य किया करते थे।

### भट्टारकों का ऐश्वर्य

पहले भट्टारक स्वस्त्र होने पर भी मुनियों के समान . जीवन विताते थे; किंतु फिर ये मंदिरों के एक भाग में ही रहने लगे। वहां यह वर्ग साधुत्व की ग्रोर से हट कर घोरे घोरे शासकत्व की ग्रोर भुक गया। ये लाल वस्त्र धारण करते थे तथा स्वयं को राजगुरु एवं जैन सन्नाट कहते थे। इनका पट्टाभिषेक राजामहाराजाग्रों की तरह बड़ी घूमधाम से होता था। इनको राज्याश्रय प्राप्त था इसलिये पट्टाभिषेक के समय राज्य की ग्रोर से भी इन्हें भेंट मिला करती थी। राजा के समान ही इन्हें पालकी, चत्र मोरफल ग्रांदि के उपयोग करने की छूट थी। राज्य की ग्रोर से इन्हें बड़ी बड़ी जागीर मिली हुई थी ग्रीर उसका प्रबंध भी इन्हों को करना पड़ता था। इस प्रकार ये धीरे शान शौकत की ग्रोर बढ़ने लगे ग्रोर जिस उद्देश्य से इस संस्था का जन्म हुग्रा था वह धीरे धीरे समाप्त होने लगी।

### श्रामेर गादी के भट्टारक

भट्टारक पट्टाविलयों के देखने से ज्ञात होता है कि दिल्ली के भट्टारक पट्ट से ग्रामेर का सीधा संबंध था। दिल्ली में बलाहकार गएा की शाखा स्थापित थी। वहीं से नागीर तथा ग्वालियर के पट्ट भी ग्रलग हुए। संवत् १६६२ फागुएा बुदी ऽऽ को भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति ने बाक्स (चंपावती) में ग्रपनी स्वतंत्र गद्दी स्थापित की। इसके पश्चान् संवत् १६६१ कार्तिक बुदी म को सांगानेर में भट्टारक नरेंद्र कीर्ति का पट्टाभिषेक हुग्रा ग्रीर वहां एक गद्दी को शाखा स्थापित की। संवत् १७२२ में भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति ग्रामेर में ग्राये ग्रीर उनका पट्टाभिषेक भी यहीं हुग्रा। इसके बाद जयपुर तथा श्री महावीरजी में भट्टारक केन्द्र स्थापित हुए। चाकस तथा सांगानेर जयपुर की गए। ना है ग्रतः देवेन्द्रकीर्ति के पट्टस्य होने से वत्तां मान तक भट्टारकों की नामावली नीचे दी जाती है।

पट्टाभिषेक होने का स्थान १ भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति सं. १६६२ चाकसू २ ,, नरेन्द्रकीर्ति ,, १६६१ सांगानेर ३ ,, सुरेन्द्रकीर्ति ,, १७२२ ग्रामेर ४ ,, जगत्कीर्ति ,, १७३३ ,,

,, १७७०

57

देवेन्द्रकीति

Ę	72	महेंद्रकीति	,, १७६२	दिल्ली
Ø	"	चेमेन्द्रकीति	,, १८१५	जयपुर
5	13	सुरेंद्रकीति	,, १८२२	33
3	71	सुखेन्द्रकीति	" १८५२	37
\$ o	13	नरेन्द्रकीति	,, १८५०	35
\$ \$	"	देवेन्द्रकीति	,, १८५३	51
१२	,,	महेंद्रकीर्ति	,, १६३=	31
\$ \$	93	चन्द्रकीति	,, १९७४	1)

इस प्रकार आमेर की भट्टारकीय गद्दी पर १३
भट्टारक हो चुके हैं। इन सभी भट्टारकों ने जैन धर्म
साहित्य एवं संस्कृति की महत्वपूर्ण सेवाएं की घो जिनका
उल्लेख मंदिरों में प्रतिष्ठित पूर्तियों के लेख, प्रं घो एवं
उनकी प्रशस्तियों तथा पट्टावितयों से मिलता है। प्रव
यहां कुछ प्रमुख भट्टारकों की सेवाओं का उल्लेख किया
जा रहा है।

### भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति

राजस्थान में भट्टारक परम्परा की नींव डालने वाले भट्टारकों में देवेन्द्रकीति को प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए। ये भट्टारक चन्द्रकीति के शिष्य थे। ये भपने समय के प्रतिभाशाली विद्वान भट्टारक थे। इन्होंने धपनी अलग ही परम्परा स्थापित करने का निश्चय किया। चाकसू जिसे प्राचीन समय में चंपावती कहते धे उस समय साहित्य एवं संस्कृति का केंद्र या । इसलिए एन्होने भी अपना यहीं पट्टाभिषेक किया । इस समय इनकी बया अवस्था घी इसका तो कहीं उल्लेख नहीं मिलता लेकिन इन्होंने २ = वर्ष ७ मास तथा २५ दिन तक जैन समाज पर माध्यात्मिक शासक के रूप में शासन फिया । देवेन्द्र-कीति की गादी स्वापित होते ही राजस्थान में प्रतिष्ठा महोत्सवों एवं मंदिर निर्माण का कार्य इन्हों को प्रेरणा से होने लगा । संवत् १६६४ में मोजमायाद में महाराजा मानसिंह के घ्रमात्यनानू गोघा द्वारा जो विधाल प्रतिष्टा हुई थी उसके प्रतिप्ठाचार्य यही महारक देवेन्द्र कीर्ति पे । संबत् १६८० में तद्धवगढ़ (टोटारायितह) के पहाड़ पर एक जिनालय निर्माण करवाने का भी रन्हों को धेय है। माज भी इनके नाम का शिलालेख मंदिर के द्वार पर लगा हुमा है।

### भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति

भट्टारक देवेन्द्रकीति के पश्चात् नरेन्द्रकीति भट्टारक वने । इनका पंटटाभिषेक चाकसू के स्थान पर सांगानेर में संवत् १६६१ कार्तिक बुदी द के दिन हुगा। उस समय जैन समाज में सुघार का जो मान्दोलन चला था सांगानेर ही उसु का प्रमुख बेन्द्र था। देवेन्द्र कीर्ति एक बच्छे विद्वान एवं वत्ता थे। इनके कितने ही शिष्य एवं प्रशंसक ग्रन्छे साहित्य सेवी थे। कितने ही स्तोत्रों की हिन्दी गद्य में टीका लिखने वाले अखयराज इन्हीं के शिष्य थे तथा सं० १७१७ मे उन्होंने संस्कृत मंजरी की प्रति इनको भेंट की थी। टोडारायसिंह के प्रमुख विद्वान एवं कवि जगन्ताथ भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति के प्रमुख शिष्यों में थे। ये संस्कृत के अधिकारी विद्वान् थे। एक ग्रन्य कवि वस्तराम साह ने मिथ्यात्व खंडन नामक पुस्तक मे नरेंद्रकीति वा उल्लेख करते हुए लिखा है कि तेरहपंथ (शुद्धाम्नाय) जिसका कि पहले झागरा और कामा में प्रचार हुपा था वह अब इन्ही भटारक के समय सांगानेर मे उदय हुआ। इससे पता चलता है कि उसी समय से भट्टारक संप्रदाय एवं उनकी कायं विधियो से लोगो में प्रनास्या भी फैलने लगी। एवं उन्हें काफी विरोध का-सामना करना पड़ा होगा।

भ० नरेंद्रकीर्ति साहित्य सेवी तो ये ही साथ में बड़े

भारी प्रतिष्ठाकारक भी थे। इन्होने पांवापुर (सं० १७००) गिरनार (सं. १७०६) मालपुरा (सं. १७१०) हस्तिनापुर (सं. १७१६) में प्रतिष्ठायें करवायी।

### भट्टारक सुरेन्द्रकीर्नि

भट्टारक सुरेन्द्रकीति भ. नरेन्द्रकीति के प्रमुख शिष्य थे तथा उनके बाद भट्टारक वने । भट्टारक वनने से पूर्व इनका नाम दामोदर दास या तया ये कालागोत्रीय खडे-लवाल थे। ये प्रारम्भ से ही एक प्रच्छे विद्वान् थे तथा वत नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे । प्रनेक नगरों एवं ग्रामों में विहार करके जब भ० नरेन्द्रकीर्ति रे सांगा-नेर प्राये तो दामोदर दास व संघपति जीवन को देखकर मत्यविक प्रभावित हुए भीर दामीदरदास से दीकित होने की कहा। प्रारम्भ में उन्होंने ४ मास के लिए दीचा ली। भ० नरेन्द्रकीति ग्रामेर में गही स्थापन करना चाहते थे। यत: उन्होने ग्रामेर के तत्कालीन सभी पंचों को लिखा। इस पर संघपति कत्याण ने सभी की सम्मति ले भ० नरेन्द्रकीति को यह लिख भेजा कि योग्य एवं सुमयं विद्वाने होने के कारण दामोदरदास <sup>3</sup> ही की भट्टारक पद दिया जाना चाहिए। पट्टाभिषेक के लिए सभी प्रकार की सामग्री एकत्रित की गई । स्वर्ण के कलशो से पंचा-मृताभिषेक कर बड़े ठाठवाठ से महोत्सव किया तथा

१. प्रयम चल्यो मत आगरे श्रावक मिले कितेक ।
सोलह से तिपासिय गही कितू मिलि टेक ॥
फिरि कामा में चल परयों ताही के अनुसारि ।
रीति सनातन छांडि के नई गही- प्रथकारि ॥
भट्टारक आंबेरि के नरेन्द्रकीति सुराम ।
यह कुपंथ तिनके समै नयो चल्यो अध्धाम ॥

गुटका नं. ६२ ठोलियों का मंदिर जयपुर

- २. श्री गुरु सांगानइरि मधि ग्राये करण प्रकास।
- - मुक्त काया तो एम गति देखि दमोदरदास।।
- े कागद मिंघ एही परकास दीजे पाट दमोदरदास । वडो जोग्य पंडित सु ग्रपर बल सुन्दर सील काइ ग्रति निर्मल ॥ यो जैन घरम लाइक परमारा एम कह्यो संगपति कल्यारा ।

उनका नाम सुरेन्द्रकीति रखा । यह महामहोत्सव १ संवत् १७२२ सावण वृदी म मंगलवार को भ० नरेन्द्रकीति के हाथों से ही हुमा । सुरेन्द्रकीति आमेर की गद्दी के सर्व प्रथम भट्टारक थे । ये अपने समय के मच्छे विद्वान थे । इनको आदित्यवार कथा सं० १७४४ की हिन्दी की भ्रन्छी रचना है । साहित्य सेवी होने के कारण इनकी भ्रनेक प्रन्थों की प्रतिलिपियां करवाने की ग्रोर विशेष

### भट्टारक जगत्कीति

भट्टारक जगत्कीर्ति ग्रपने गुरु सुरेन्द्रकीर्ति से भी मधिक प्रभावशील विद्वान थे। इनकी ग्रधिक ग्रभिरुचि मंदिर निर्माण एवं पंच कल्याणक प्रतिष्ठाओं में थी। 2 संवत् १७३३ में इनका आमेर में पट्टाभिषेक हुआ ग्रीर तभी इन्होंने करवर (सं० १७४१) तत्त्रकगढ़ (सं० १७४१) चांदखेड़ी (सं० १७४६) जोवनेर (सं० १७६१) ग्रादि स्थानों में बड़ी बड़ी प्रतिष्ठाग्रों का संचा-लन किया। चांदखेड़ी में जो प्रतिषठा हुई वह ग्रपने ढंग की राजस्थान में अकेली प्रतिष्ठा थी जहां हजारों मूर्तियां प्रतिष्ठित होकर राजस्थानके विभिन्न मंदिरों में विराज-मान की गई। ये ३७ वर्ष तक भट्टारक रहे तथा साहित्य एवं संस्कृति की सेवा में अपना जीवन व्यतीत करते रहे। इनके कितने ही विद्वान शिष्य थे। उन में नेमिनाथ रास के लेखक नेमिचन्द्र का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। अपनी रचना में दुन्होंने भट्टारक जगत्कीति का वर्णन करते हुए लिखा है:--

भट्टारक सब उपरै जगकीरति जगजीति अपार तौ कीरति चहुं दिसि विस्तरी पंचाचार पालै सुभसारती। प्रमत में जीते नहीं चहुं दिसि में सब तादी मार्गती खिमा खडग स्यो जीतिया चौराश वै पटनायक भागतो ॥ भट्टारक महेन्द्रकीर्ति

ये भट्टारक देवेन्द्रकीति के शिष्य थे। देवेन्द्रकीति स्वयं भी संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान थे जिन की विविध कथाओं एवं पूजाओं का जैन समाज में प्रच्छा प्रचार रहा है। इन्हों के शिष्य महेन्द्रकीति का संवत् १७६२ में देहली में पट्टाभिषेक हुमा । ये.खंडेलवाल नाति के पःपड़ी-वाल गोत्रीय श्रावक थे । इन्होंने स्थान स्थान पर विहार करके घर्म एवं साहित्य का प्रचार किया । ग्रामेर शास्त्र भग्डार का इनके समय में ग्रत्यधिक विकास हुगा। इस-लिये इस शास्त्र भएडार को महेन्द्रकीति शास्त्र भएडार भी कहा जाने लगा या। भएडार में म्रापने प्राचीन प्रत्यों का जो उत्तम संग्रह किया वह प्रापको साहित्य प्रियता मा द्योतक है। इसी भएडार में जम्बूस्वामी चरित्र (सं० १७६३) पाश्वंनाथ चौपई (सं० १७६३) सम्यवस्य कीमुदी (सं० १७६३) हरिवंश पुराण (सं० १७६३) त्रिलोक दर्पेण (सं० १७६३) यशोघर चरित्र (सं० १८०१) वर्द्धमान पुरासा (सं० १८०४) सीता चरित्र (मं० १८०८) मादि कितने ही प्रन्थों की प्रतिनिपियां मापने करवाई । दयाराम सोनी इनके प्रमुख शिष्य थे जिनके द्वारा लिखे हुए सैंकड़ों ग्रन्थ जयपुर के भएटारों में मिलते हैं। सं० १७६४ की प्रतिष्ठा के लेखों में इनकी परम्परा में भ० ग्रनन्तकीति का भी नाम पाया जाता है किन्तु उनका पट्टाविलयों में कही नाम नही मिनता। भटटारक सुरेन्द्रकीति

ये जयपुर के भट्टारक चेमेन्द्रकीति के शिष्प मे।

१. सत्रासे साल भगां वाइसे संजम सावणा मधि ग्रह्यो । सुभ ग्राहै मंगलवार सही जोतिगमिले पिल किसन कहयो । गुटका सं. २६ ठोलियों का मंदिर जयपुर—

१. संवत् सत्रासे ग्रर तेतीसे सावण बुदी पंचमी भिण । पदवी भट्टारक ग्रचल विराजित घणदान घणराज तणं। ग्रांवैरि नइरि त्रपराम राज मिंघ विमलदास निधि सिंहत दीप । परिमल भिर पंच कलस प्रति कुंदन पंचा मिलि कल्याण दीप । सांखीण्या वंस सिरोमिण सव विधि दुनिया घ्रम उपदेश दीप ।

सं० १८२२ में इनका जयपुर नगर के पाटौदी के मंदिर में पट्टाभिषेक हुमा। ये संस्कृत एवं हिन्दी के अच्छे विद्वान थे तथा जैन संस्कृति एवं साहित्य के प्रवल प्रचारक थे। यद्यपि इनके समय में जयपुर में महा पंडित टोडरमलजी ने समाज में ज्याप्त अंधविश्वासों एवं कुरी— तियों के विरोध में सुधार का बीड़ा उठाया था तथा भट्टारक संस्था के विरुद्ध समाज में प्रवल जनमत का निर्माण किया था। लेकिन सुरेन्द्रकीर्ति के प्रभाव में कोई विशेष कभी नहीं खाई वयोकि ये स्वयं भी साहित्यिक थे स्रीर पूजा स्तीत्र एवं कथा स्नाद विषयों पर १५ से भी ग्रधिक रचनामें लिखी जिनमें ग्रष्टान्हिका कया (सं० १८३१) ज्ञानपच्चीसी (सं० १८४०) महावीर द्वा-विशिका, जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति (सं० १८३३) ग्रादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

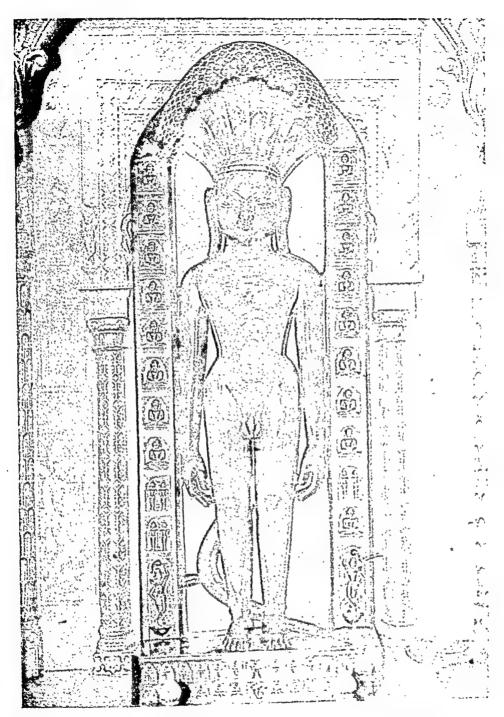
जयपुर में रहते हुए उन्होंने पाटोदी के मंदिर के शास्त्र भएटार में ग्रन्थों का ग्रन्छा संग्रह किया। ५० ते भी ग्राधिक ग्रन्थों की प्रतिलिपियां करवा कर जयपुर के विभिन्न मंदिरों में संग्रहित की गई। प्रतिष्ठाचार्य की हिष्ट से इन्होंने सं० १८२३, १८२६ (सवाई माघोपुर) तथा सं० १८३६ (पूलेट नगर) में प्रतिष्ठायें करवाई।

जैन दर्शन बहुत हो ऊंची पंक्ति का है। इसके मुख्य तत्त्र विज्ञान शास्त्र के श्राधार पर रचे हुए हैं। ऐसा मेरा श्रनुमान ही नहीं, पूर्ण श्रनुभव है। ज्यों ज्यों पदार्थ विज्ञान श्रागे बढ़ना जाता है, जैनधर्म के सिद्धान्तों को सिद्ध करता है श्रीर मैं जैनियों को इस श्रनुकूलता का लाभ उठाने का श्रनुरोध करता हूँ।

श्रहिसा सभ्यता का सर्वोपिर श्रीर सर्वोत्कृष्ट दरजा है। यह निर्विवाद सिद्ध है श्रीर जबिक यह सर्वोपिर श्रीर सर्वोत्कृष्ट दरजा जैनधर्म का मूल है तो इसकी श्रोर सर्वोद्ध सुन्दरता के साथ यह कितना पिवत्र होगा, यह श्राप खुद ही समभ सकते हैं। जैनी लोग श्रिहिसा देवी के पूर्ण उपासक होते हैं श्रीर उनके श्राचार बहुत शृद्ध श्रीर प्रशंसनीय होते हैं, उनके व्रत श्रीर सप्त व्यसन वर्गेरह वातों के जानने से मुभे बहुत खुशी हुई श्रीर उनके चित्र की तरफ मेरे दिल में बहुत श्रादर उत्पन्न हुशा। जैन मुनियों के श्राचार देखने से मुभे वे श्रित किन जान पड़ते हैं लेकिन वे ऐसे तो पिवत्र हैं कि हर एक के श्रन्त:करण में बहुत भिक्तभाव श्रीर श्रादर उत्पन्न करते हैं। ऐसे चित्र से सर्व साधारण पर प्रभाव पड़ता है।

मैं इस निश्चय पर श्रा पहुँचा हूँ कि मैं भी जहां तक वने जैनधर्म के मुख्य नियमों के श्रनुसार चल्ं।

—डा० एल० पी० टेसीटोरी इटालियन ' —धर्म देशला से '



पार्क्वनाथ स्वामी की मूर्ति - दि. जैन पार्क्वनाथ मन्दिर, जयपुर

ग्रध्यात्मवाद तरगो ! जगदेकवन्धो ! सद्ज्ञान-सच्चरगा—सत्करगौकिसन्धो ! संतप्त-भूतल-पयोद ! महामुमुक्षो ! त्वद् वीतरागपदवी प्रगमामि भनत्या !

**–** २ –

त्वं विश्वतोच्चकुल-राजकुमार श्रासी, र्लक्ष्मी त्वदीय पदपङ्कज-सेविकाऽऽसीत्। सर्वं सुखं त्वदनुगं; न रुचिर्मदीया, त्वद् वीतराग-शुचितां शिरसाऽभिवन्दे।।

**-** 3 -

त्वं सेवितोऽसुरसुरैः सुरनायकैश्च,
लक्षाधिकै जनगरौ रिभवन्दितोऽपी ।
श्रावेष्टितो विश्तयाः न ममाऽत्र निष्टा,
त्वदु वीतरागसररोः शररां प्रपद्ये ॥

-8-

छत्र-त्रिकं, कुसुमवृष्टि रशोक वृक्षो, भामंडलं, धवलचामर-दीव्यभाषा। नैके वरा ग्रतिशया; न मयि प्रभाव, स्त्वद् वीतराग गरिमां किल कीर्तयामि॥

- 1 -

रागादिदोष-दनुजा मनुजान तुदन्ति, सीदन्ति सज्जनजनाः स्वजनाः व्वनन्ति । ग्रालोकपुञ्ज ! तिमिराकुल-मङ्गलाय, त्वद्वीतराग महिमां विवृगोमि लो ॥

### Importance of the Jaina Grantha Bhandars

CINCE the Adoption of system of writing, manuscripts were probably being written and placed in the Grantha Bhandars. Grantha Bhandars are; therefore, amongst the earliest literary institutions of the Country. The collections are not of today but centuries old. They are the results of hard and continuous efforts from generation to generation. Before the manufacture of paper, the manuscripts were written. leaves, cloth and other palm material but when the plam leaves industry was replaced by paper indust try, all the manuscripts were re-written on paper.

These Grantha Bhandars were literary centres in the true sense. They provided help to the scholars and public in enhancing their knowledge. But their importance lies not only in this but also in the fact that they saved knowledge treasure of destruction. In this respect the contribution of Jainas is really great. Even today the earliest and authentic manuscripts, of several works, written by scholars other than the Jainas are preserved only in these Bhandars:

But apart from literary importance of these Bhandars their importance may be acknowledged also from

The author, who has worked extensively in the research of Jaina Bhandars throws in this article a vivid light on their importance. Grantha Bhandars were literary centres in the true sense. They helped the scholars and the public in enhancing their knowledge But apart from their literary importance, these Bhandars are the store-houses of Indian Art, Cultural and Historical works and the manuscripts lying hidden in the pothies of these Bhandars, if properly scrutinised, may throw a new light on the history of our country.

other points of view. They quenched the thirst of scholars and provided help to the lovers of History. Art and Culture also. There is a great scope for research in these subjects on the basis of collections in these Bhandars. The manuscripts were collected from the place where the Grantha Bhandar exists but they were brought from various places which were the centres of literature, culture and of political activity.

Amongst such places are Delhi, Agra, Ajmer, Abu, Nagaur, Todaraisingh, Chatsu, Sanganer, Bharatpur, Jaisalmer, Jodhpur, Taipur, Mandalgarh, Sikandarabad. Bundi. Dungarpur, Chittor, Ranthambhor and written manuscripts Udaipur. The or copied in those places provide information regarding names of the places, names of rulers by whom they were got copied; after being copied to whom they were presented and lastly sometimes they mention also the cost incurred in obtaining them. This information is available in most of the manuscripts. The Authors of Apabhramsa and Hindi works also give some description about the rulers of their time. The city or town where the manuscripts were written and the general conditions of the people there are !described, which information if coordinated would collected and provide good material for a cultural history of the times. 'These Bhandars have played a great part in the development of the educational and cultural life of the Country, because in the past they were literary centres and continue to be so even at present. There are many manuscripts on the basis of which love of the common people for Art and Painting at that time can be judged. Taking into consideration all these points, we shall now judge the importance of the Grantha Bhandars under the following heads :--

- (1) Historical Importance
- (2) Literary Centres
- (3) Educational Centres
- (4) Material for Art-and Painting
- (5) Treasure houses of earliest manuscripts and
- (6) Treasure Houses of non-Jaina works.

#### 1 .Historical Importance

The Grantha Bhandars are very important from the historical point of view. There are several works exclu-

sively on the subject of History, Besides, we find that the authors and copyists of the manuscripts give some description of the rulers, the cities or towns where they wrote or copied and the patrons who encouraged learning. Such colophons called Prasastis, are written generally either at the end or in the beginning of the works. On the basis of these, the time of many rulers can be determined, history of old cities and towns can be prepared. As manuscripts dated from 10th Century on wards are available, so a history of past one thousand years can be reconstrurcted also on the basis of the material found in the Jaina Grantha Bhandars.

There is a manuscript in the Shastra Bhandar of Pandya Lunakaran of Jaipur which gives the description of empercrs who had been on the Delhi throne. It also describes the history of the foundation of Delhi. According to it. it was in the time of ANANGAPAL, that the city-was founded and called Dhilli. The same word 'Dhilli' for Dalhi was used by Sridhara, an Apabhramsa scholar of the 12th Century in his PARSVANATHA CHARITA (1). Similarly in the Shastra Bhandar of Jaina temple Terapanthi, Jaipur there is a manuscript called "RAJAVAMSA VARNANA" which presents a complete description of the rulers of Delhi from the Pandavas onwards. It gives years and months of various rulers. the reign of

१. विक्कमण्रिद सुपितद्ध कालि, टिल्ली पटटिण घणकण्यिसानि । सण्यासी एयारहसएिह, परिवाडिए वरिसह परिनएिह । कसण्डिमीहि ग्रागहणमासि, रिविवारि समाणिङ सिसिरमानि ।

example about Prathvi Raja of Delhi the author says:—

पृथ्वीराज महिपाल: क्रमात् पौडशवत्सर: । एकविशदिनास्तत्र मासैक घटिकां त्रयं ।। ७ ॥

In the same way, the manuscript of 'Pati Sahika Beora' the author narrates the reasons of downfall of Prathaviraja as follows:—

त्व राजा पृथ्वीराज संजोगता परगी। जीह राजा कैसा कुल सौला १६ सूरी का १०० हुम्रा त्याके भरोसे परगी ल्यायो। लडाई सावता करी। पगी राजा जैचंद प्रेंगली प्रयो नहीं। संजोगता सरूप हुई। तहिं के बसी राजा हुने। सो म्हैला ही का रही। महीना पंदरा बारा ने नीसरयो नहीं।

We find references not only to the rulers of Delhi but also to rulers of states, Governors of Provinces and Districts and Big Jagirdars. Information also obout the rulers of various Rajput states of Jaipur, Jodhpur Bikaner, Udaipur, Bundi, Kotah, Bharatpur and others can be collected. The references show that some of the Rajput Rulers and Administrators were great patrons of literature and Art and under their rule several manuscripts were written. They encouraged scholars and patronized them.

Apart from the independent historical works, there are several works in which the authors make casual or incidental references. They are also sometimes helpful.

Banarsidasa, a famous poet of 17th Century makes brief but correct references to Akbar and Jahangira and Sahjahan in his "ARDHA KATHANAK", a life history of the poet himself. संवत् सोलहसै वासठा.

ग्रायो कातिक पावस नठा ।
छत्रपति ग्रकवर साहि जलाल,
ग्रगर ग्रागरे कीनो काल ।। २४६ ।।
ग्राई खबर जीनपुर मांह,
प्रजा ग्रनाथु भई बिनु नाह ।
पुरजन लोग मए भयभीत,
हिरदै ध्याकुलता मुख पीत ।। २४७ ।।

References like the following, in the Prasastis of Adipurana written in Sanskrit by a scholar in Sambat 1693 (1636 A. D.) are found in many manuscripts:—

संवत् १६६३ वर्षे शावण सुद ४ भीमवासरे नगरे चोग्रदुर्गाच्ये ।

साहिजहां - दिल्ली - पते राज्यं सेवकोग्रिसिंह घम्मपूर्वं कुर्वति ॥ ४ ॥

In the SATMALA VARNAN, a Hindi work of 1764 A. D. the poet Srutasagar gives an enlogic description of Bharatpur and its founder Surajmal.

देस काटहड विराज में, वदनस्यं राजान ।

ताक पुत्र है भलो, सूरिजमल गुणधाम ॥

तेजपुंज रिव है भलो, न्यायनीति गुणवान ।

ताको सुजस है जगत में, तपै दूसरो भान ॥

तिनह जु नगर वसाइयो, नाम भरतपुर तास ।

सा राजा समिदिष्ट है, परविच्यार उपवास ॥

Manna Lala Scholar of Jaipur wrote

"CHÄRITRASARA" in the year 1814

A. D. and at the end of the work he describes Jaipur as follows:—

तहां सवाई जयपुर नाम,
लसत नगर रचनां ग्रिभराम ।
बहु जिन मन्दिर सहित मनोग्य,
मानू सुरगण वसने जोग्य ।। ४ ॥
जगतसिंह राजा तसु जान,
कंपत ग्रिरंगन करें प्रनाम ।
तेजवंत जसवंत विशाल,

The writer of Padmanandi Panhca-Vinsati, Jagat Rama writes about Aurangzeb:

नवलंड में जाकी ग्रांन, तेजवंत दीप जिम भांन। राज करें श्रीश्रवरंगसाहि, जाके नहीं किसी परवाहि॥ Lohat, a famus poet of Hindl literature completed his Yasodhar Chaupai in the year 1664 A.D. He gave some description of the Raja of Bundi named

् वूंदी इन्द्रपुरी जिलपुरी कि कुनेरपुरी, रिद्धि सिद्धि भरी द्वारिका सी घरी घर में । धौलहर घाम घर घर में विचित्र वाम, नर कामदेव जैसे सेवे सुखसर में । वापी वाग वाल्गा वाजार वीथी विद्या वैद, विवुध विनोद जानि बोले मुखि नर में । तहां कर राज भावस्यंघ महाराज, हिन्दूधमं लाज पातिसाहि आज कर में ।

Bhavsingh in the following way:--

There are hundreds of the references in the Prasastis of the texts written by the Jaina authors.

Apart from the historical material about the rulers, there is material for the Jaina Devans and Administrators of States like Jaipur, Jodhpur, Bikaner, Udaipur and Bundi. Jainas occupied high posts in the States and always remained loyal to their Rulers. The Devans and Administrators served the Rulers not only in the time of peace and prosperity but also in the time of the war and troubles.

For the history of some ancient cities and towns not only of Rajasthan but also of India, the manuscripts preserved in these Bhandars can supply material because in the most of the Prasastis the names of the cities and towns are invariably mentioned and some descriptions supplied.

#### Literary Centres

The Rulers of Rajasthan States took great interest in literature and patronised poets and scholars, Charanas and Bhats who were court poets and created poetic literature. In the States there were Grantha Bhandars or Pothikhanas established by these Rulers. Bhandars are of great importance and exist in Jaipur, Alwar, Udaipur, Bikaner The capitals of these States etc. were the literary centres as the prominent Scholars used to live in the Darbars of these Rajput Rulers. The Darbars of Udaipur. Amer, Bikaner, Jodhpur and Bharatpur were well known among them. In the ancient time the cities like Champavati, Toda-Malpura, Chittor, Nagaur. Jaisingh, Merta, Jaiore, Ranthambhore, Mandalgarh and Kumbhalgarh etc., were main centres.

But apart from these libraries patronised by the Rulers, there were several literary centres which were related to Jainas. These literary centres were generally called the Grantha Bhandars where the work for writing of new works and copying out the old ones used to be done by Scholars. The Grantha Bhandars or literary centres were under the spiritual heads of Jaina Church or scholars of high calibre. Jaisalmer, Nagaur, Ajmer, Baran, Fatehpur, Bikaner, Kotah, Ranthambhore, Dungarpur were the centres under the Bhattarkas or Jatis while the Bhandars of Sanganer, Jaipur, Bundi, Campawati, Udaipnr and Sagwara were under the scholars who were generally

requested by the house holders to compose works for the laity.

These Grantha Bhandars remained the centres of literary activities of many scholars. Padmanandi, Harisena (10th Century), Hari Bhadra Suri, Asadhar (13th Century), Bhattaraka Sakal Kirti (15th century), Bhuwan Kirti (16th Century), Subha Chandra (16th Century) Raimalla (16th Century), Todarmal (18th Century), Java Chandra (19th Century), and hundreds of others composed new works sitting in these Bhandars. The work of copying out the manuscripts was also continuously done for years together in the Bhandars of Todaraisingh, Malpura, Jaisalmer, Nagaur, Aimer, Amer, Champawati, Sagawara Udaipur, Dungarpur, Agra, Delhi, Patna, Surat, Khampat. These Cities remained big literary centres.

#### Educational Centres

The importance of the Jaina Grantha Bhandars is not only from the historical and literary point but they are :equally important from the educational point also. These Grantha Bhandars were great-educational centres also. In the big centres like Amer. Aimer. Jaisalmer, Nagaur, Sagwara, there were arrangements for imparting education to the adults and children. After primary education the students were taught Prakrit and Samsakrit. At least for every Jaina 'child primary education was socially compulsory and after completing his education, the students used to read Grammar, Kosa. Kavya, Dramas and books of Philosophy. The books on grammar, Kosa and Kavya were not restricted toworks written by Jaina authors only, but the famous books on grammar like Saraswata, Siddhanta Chandrika, Katantra Rupmala etc. were also read. In lexicography, the books like Amar Kosa and Namamala of Dhananjaya were taught. In the Kavya literature, the Kavyas written by poets like Kalidasa, Bharvi, Harsa etc. were often studied.

In this respect the services of Bhattarakas like Shubha Chandra (2) (1393 to 1450 A. D.) Jina Candra (1450 to 1514 A. D.). Prabha Chandra (15th century A. D.), Sakal Kirti (15th Century), Subha Chandra (16th Century) Gyana Bhusana (16th Century) Davendra, Kirti (17th Century), etc. are remarkable. They were the main propogators of education. Under each of them there were hundreds of students getting education. Like Bhattarakas, Acharyas also 'towards rendered some services enhancement of education. There were hundreds of students under Acharya education Hemachandra receiving There various subjects. no systematic or classwise education but the students were educated on the basis of books.

#### Material for Art & Painting

The Grantha Bhandars of Rajasthan are equally important for illustrated manuscripts. The Jaina monks and Shravakas both took great interest in beautifying the manuscripts. They were the lovers of art and painting. These illustrated manuscripts are use-

ful for a study of the History of Indiaminiature and painting. There are three kinds, of illustrated manuscripts namely those of Palm leaves, paper and cloth. Besides these three main: kinds, there are also wooden plates which have some coloured paintings. Illustrated Palm leaf manuscripts arefound only in Jaisalmer Bhandars while the other kind of illustrated manuscripts are found in several Bhandars and mainly in the Bhandars of Jaipur, Mozmabad, Ajmer, Nagaur, Bharatpur, Baswa and Bundi. Though there is not a big number of the illustrated. manuscripts yet the material which is found in these Bhandars of Rajasthan are sufficient to establish the importance of Bhandars regarding painting. and miniature.

#### Palm Leaf Manuscripts

In preservation of early paintings on Palm leaves, the Jaisalmer Bhandar is the foremost one. Though this Grantha Bhandar was established in the 15th Century the collection of the illustrated manuscripts throws light on the art of painting from the 12th to the 16th Century. There are 35 illustrations in all and the 2 illustrations which are related to Assembly Hall of Jinadatta Suri clearly shows that the old system of Paintings of Elora gardually developed further. There are many good illustrations on the mixture of Buddhistic and Jaina paintings. The illustrations on the life of Lord Neminatha reveal that the painters of the 12th Century were not limited to the paintings of the portraits only but they were experts also in making other paintings. The most wonderful paintings which has been found on the palm leaves relates to the illustration of lotus Creeper. The date of this painting must be about 12th Century. The system of this Patrika is just like the painting in Bharat and Bahubali Chand. But there is some special art in the ornaments. In one of the paintings, two ladies are shown enjoying boating.

# Treasure Houses Earliest Written Manuscripts

The importance of these Grantha Bhandars is not only that these have thousands of manuscripts, but also on the basis that these Bhandars are the centres of earliest written manuscripts. whether the manuscript is on palm leaves or on paper. The Jain Grantha Bhandar possess earliest written manuscripts. The earliest manuscript written on palm leaves is of Samvat 1117 i. e. 1060 A. D. The name of the manuscript is Ogha Nirjukti Vratti composed by Dronacharya. The original book is in Prakrit while the commentary is in Samskrit. The Prasasti of the maunscript is as follows:-

संवत् १११७ मंगले महाश्री ॥ छ ॥ पहिलेन लिखितम् मंगलं महाश्री ॥ छ ॥

Now we shall give two important Prasastis of old manuscripts available in the Granth Bhandars of Jaisalmer and wirtten on palm leaves:

(1) Panchasara Prakarana Laghu Vritti: ( पंचतार प्रकरण सपुतृति ) The manuscript was writen in the year 1084 A.D. by Jasodhara. It is preserved in Birhad Gyana Bhandar, Jaisaimer, the Prasasti of which runs as under:—

संवत् ११२१ ज्येष्ठ सुदि ११ वुत्रदिने जसोघरेण लिखितम् ॥

(2) Kuvalayamala Katha ( कुनलयमाला क्या ) of Udyotan Suri was written in the year 1082 A.D. The work is in Prakrit and has 254 folios of 25½" X 2" size. In the Prasasti only name of the year has been mentioned.

संवत् ११३६ फाल्गुन वदि १ रविदिने लिखितिमिदं पुस्तकमिति ।

#### Treasure Houses For Non-Jaina Works

The Grantha Bhandars are not only the treasure houses for the books written by the Jaina writers but they are also the good centres for the manuscripts written by the scholars other than Jainas. The Sadhus and also the house-holders made no difference while collecting the manuscripts for these Bhandars and they collected giving them the some importance to the manuscripts written by non-Jaina scholars also. Some of the

manuscripts are also such which are available in these Jaina Bhandars alone. In this respect the Grantha Bhandars of Amer, Jaipur, Nagaur, Bikaner, Jaisalmer Churu, Kotah, Bundi and Ajmer are important.

The Jaina Scholars not only saved the manuscripts from destruction but also wrote commentaries, Vrittis, and Bhasyas on them. They translated them into Hindi and gave full support for their wide circulation.

The manuscripts relating to the subject of Kavya, Katha, Vyakarana, Ayurveda, Jyotisa and subjects of other general interest are found in good number. Manuscripts even on the religious subject based on the Smritis. Upnisadas. Samhitas, Brahmanas are also available in collection of these Bhandars. There are about 500 manuscripts only in Jaina Shastra Bhandar of Mandir Patodi Jaipur on the above subjects.

The manuscript of Kavya Prakasa of Mammata written in the year 1158 A.D. exist in the Jaisalmer Bhandar. It was written in Anhilpattan when King Kumarpala was the Ruler.

# भगवान महावीर के प्रति

देव तेरी लो जलायें।
विश्व के इतिहास में, अन्ठा तुमने स्थान पाया।
विश्व के कल्याण को, आदर्श का माध्यम बनाया।।
मानवीय-परम्परा का, किया उच्च विकास तुमने।
दानवी दुवृ त्तियों का, किया सफल विनाश तुमने।।
आत्म-मूलक साधना में, नया तुमने प्राण फूका।
आत्म घाती-पाप मूलक, वासना का स्रोत स्खा।।
साधकों की भूमिका, कितनी परम पावन बनाई।
शिवं, सत्यं, सुन्दरं की, सुधा-शैविलिनी बहाई।।
आप्त ! मीमांसा तुम्हारी, आत्म-अनुभवगम्य पाये।
देव ! तेरी लो जलायें।।

तामसिकता दूर सात्विक-वृत्तियों को ठेलती थी।
मूक प्राणों से ऋहर्निश, श्रिधक खुल कर खेलती थी।।
स्वर्ग--प्रेपण का पुरोहितवाद था कैसा निराला।
धर्म सूत्रों में अधार्मिक-सूत्र का था योल याला।।
वधक-वोधक, वध-विरोधी, सफल आन्दोलन चलाया।
तिमिर पूरित मन्दिरों में, ज्ञान का दीपक जलाया।।
श्रिहंसा के श्रस्त्र से, जगने श्रमय सन्देश पाया।
श्रिहंसा के जलद से, विध्वंस दावानल बुमायें।
देव! तेरी ली लजायें।।

श्रर्थं की श्रभ्यचेना बस, लोक-मानस कर रहा था। समर से जर्जरित जग का, याव भी कब भर रहा था।। श्रर्थं ने पतनोन्मुखी, वैपन्य का निर्फर बहाया। श्रर्थं ने पतनोन्मुखी, वैपन्य का निर्फर बहाया। श्रर्थं के केन्द्रीकरण को, श्रम्थां का मृल माना। समें श्रपरिप्रह बताया, स्त्रयं पर रखने नियंत्रण। शान्ति मृलक क्रान्ति करने के लिए वह था निमंत्रण। विश्व के वैपन्य की, स्थायी चिकित्सा कर दिखायें। देव! तेरी ली जलायें।।

निन्द्नीय परम्परा ने, वर्ण-भेट्रों को दराया। पाठ कृतिपत उच्चता का, दिवा-श्रम्यों को पदाया॥ सनुज के मौलिक श्रितिल-श्रिधकार जिसने कुनल याने। पतित-पायन देवता के, द्वार पर लग गरे नाने॥ एक मानव-जाति का, देवी विगुल तुमने वजाया। क्षेमकारी चीर-नीर-विवेक को, सहसा जगाया।। उच्चतम-आचार से ही, उच्चता की सृष्टि होती। आतम-शोधक दृष्टि से ही, सद्गुणों की वृष्टि होती।। आज फिर आचार और विचार को ऊंचा उठायें। देव! तेरी लो जलायें।।

नारियों की योग्यता पर, श्राक्रमण नर का रहे थे।
पन्न-पोपक शास्त्र के, उद्धरण श्रागे धर रहे थे।।
विशव पातित्रत-प्रणाली, स्वार्थ का संवल बनी थी।
प्रथा के कारागृहों में, नारियां दुवेल बनी थी।।
साधना में स्थान स्त्री को, पुरुप के समकरा दे कर।
श्राम्थश्रद्धा से किया विद्रोह, सच्चा पन्न ले कर।।
नारियों का स्वाभिमान, सहस्र रूपों से जगाया।
हृद्य से दौर्वल्य-सूचक, हीन भावों को भगाया।।
श्राज महिला-जाति की फिर, सुप्त श्रातमा को जगाये।
देव! तेरी लो जलायें।।

सत्य शोधक दार्शनिकता, दुराग्रह में फंस रही थी। शुक्क तार्किकता समुज्जल, तत्त्ववल को डस रही थी।। शान्ति का स्थल धर्म भी, संघप का स्थल हो रहा था। एकता का अमर गायक, एकता को खो रहा था।। दार्शनिक संसार को, स्याद्वाद का अमृत पिलाया। पूर्व-पश्चिम से विरोधी, तत्त्व सृत्रों को मिलाया।। समन्वय की दृष्टि ने, संघप का कारण मिटाया। संकृचित चिन्तन-प्रणाली में, स्वतः औदार्य आया।। समन्वय की साधना से, सांप्रदायिकता मिटायं। देव! तेरी लो जलायें।।

वीसवीं इस शतान्ती के, मोड़ पर हम रह रहे हैं।
गगनचुम्बी महल कितने, ढह गये हैं, ढह रहे हैं।।
क्रान्ति की अभिन्यक्तियां, अस्तित्व को देती चुनोती।
जागरण के च्रणों में, जलती नहीं निस्तेई ज्योति।।
शब्द की अभिन्यंजना को, क्रिया की रहती अपेचा।
अन्यथा निर्जीवता से, प्राप्त होती है उपेचा।।
समय है; आदर्श को, न्यबहार में साकार कर के।
वचना की न्याधियों का, मूल से उपचार कर के।
योग्यतम अनुगामिता का, दीप आकासी जलायें।
देव! तेरी लों जलायें।

Dr. K. C. Jain, M.A., Ph.D. Government College, Ajmer.

# HISTORY OF NAGARI

NAGARI, one of the oldest towns not only of Rajasthan but of India, is situated at a distance of 8 miles from Chittor. Its ancient name was Madhyamika. There are legendary traditions about the antiquity of this place. The old remains discovered in the excavations prove that this town flourished from the Mauryan period up to the Gupta period. The punch marked coins were also found in a large number.

In the third or second century B. C., Nagari was a place of importance. At this time, Gajayana Sarvatata, son of a lady of the parasara Gotra3, constructed the Pujasilaka Prakara for the divinities Samkarshana and Vasudeva and has performed an Asvamedha sacrifice at Madhyamika4. The place, where the sacrifice specially the Asvamedha is celebrated, could not but be the capital and the person, who performs it, is the paramount sovereign who alone is entitled to perform that sacrifice. Now who could this Gajayana Sarvatata be? Dr. Bhandarkar takes him to be the Kanva ruler<sup>5</sup>. His view

Nagari, one of the oldest towns, not only of Rajasthan but of India, is situated at a distance of 8 miles from Chittor. Its ancient name was Madhyamika. There are legendary traditions about the antiquity of this place.

Along with Vaishnavism, Jainism and Buddhism also continued to exist at Nagari.

does not seem to be tenable because Kanvas were ruling over Magadha with Pataliputra as their capital. Their empire was not so extensive as to include region of Rajasthan. Besides, the ruler named Sarvatata is not included in the list of Kanva rulers. He may be the ruler of some local Parasara Brahmanical dynasty ruling over this area.

In about second century B.C. Nagari seems to have been attacked by the Greeks, who aspiring for becoming the supreme rulers of India, cannot possibly leave the king of Madhyamika unvanquished. Patanjali<sup>6</sup> (150 B. C.), the grammarian speaks of Madhyamika as being besieged by a Yavana king and refers to it in such a manner as to show that this event took place in his time. The Greek king has been identified with Menander who invected this

<sup>1.</sup> ASC., VI, p. 196.

<sup>2.</sup> IAr, 1957-58, p. 63.

<sup>3.</sup> Parasara Brahmanas are found in a large number at Pushkara

<sup>4.</sup> EI, XXII, p. 198.

<sup>5.</sup> Ibid., p. 205.

<sup>6.</sup> Mahabhashya 3-2-111

town. His silver coins also have been discovered.

In the first century B. C. Nagari seems to have been occupied by Sibis. The Sibis as known from the Mahabharta originally settled in the Punjab. When their homeland was threatened by the foreigners, they migrated to Rajputana where they settled in the district around Madhyamika. Coins of the Sibi tribe found in this area have the legend 'Madhyamika Sibi Janapadasa' i.e. Coins of the Sibi State struck as Madhyamika' in a script of the first century B. C³.

The fact that with the rise of the Kestern Kshatrapas from the second century A. D., Nagari seems to have been conquered and annexed to their dominions, is known from the testimony of their coins. In the third century A. D., the Malavas did not permit the kshatrapas to rule over them peacefully. From the inscription of . Nandasa<sup>3</sup>, a place near Nagari in Udaipur district, it is known that a Malaya leader named Sri Soma raised the standard of revolt and celebrated in 225 A. D. the Ekashashti sacrifice to proclaim the independence of his republic. Curiously, this record does not mention the name of the enemies defeated but it is clear that they could not have been none other than the Western Kshatrapas.

Tha Malava rule appears to have been supplanted the Hunas from the sixth century A. D. A fragmentary inscription of about the sixth century A. D. discovered at Chittor, probably brought from Madhyamika mentions Rajasthaniya of Dasapura (Mandasor) governing Madhyamika<sup>5</sup>. From the Mandasor inscription dated 532 A. D. it is known that Abhayadatta of the Naigama family performed the functions of Rajasthaniva of some ruler of the Aulikara dynasty of Dasapura. He protected the region containing many countries presided over by his own upright counsellors. The Rajasthaniva mentioned in the Chitor inscription might have performed the same functions. The relations between the Hunas and Aulikaras are not definitely known. This place was well known to Varahamihira who lived in the fifth or sixth century A. D. After the Hunas, the Mauri rulers took possession of this place in about the seventh century A.D. In course of time, they deserted it and went to Chitor where they constructed the fort7. This place seems to have retained this name upto the

<sup>1.</sup> RIO, p. 111.

<sup>2.</sup> ASC, VI, pp. 198-204; See also I. Ar., 1957-58, p. 63.

<sup>3.</sup> EI, XXVII, p. 265; See also ASC, VI, p. 201.

<sup>4.</sup> BCV, p. 216.

<sup>5.</sup> IAr. 1958-59, p. 65.

<sup>6.</sup> CII, III, p. 52 (V17)

<sup>7.</sup> JNSI, XVII (1955)

<sup>8.</sup> VV., p. 163.

eleventh century A. D. as it is clear from the *Vipakasutra* of Abhayadeva Suri.

Madhyamika was a place of great importance from the religious point of view. We come across the early traces of three great religions of India namely Vaishnavism, Jainism and Buddhism. The cordial relations seem to have existed among their followers who erected excellent buildings of worship for their religious divinities.

The earliest trace of Vaishnavism is noticed at Nagari, An inscription of about the third or second century B.C. speaks of the erection of a Pujasilaprakara by Saravatata Gajayana, son of a lady of the Parasara Gotra for the gods Samkarshana and Vasudeva. According to Dr. Bhandarkar<sup>2</sup>, Pujasilaprakara may mean a stone enclosure round an object of worship to distinguish it from enclosures surrounding residential buildings. But this interpretation is doubtful. Puiasila and Prakara were two different things. Two things were erected in Narayanavatika. One is Silapata for worship and the other was the surrounding wall. It was just like the Ayagapatta of the Jainas. In ancient times, temples

appear to have been built in this form. Silapata was on the platform which was surrounded by the walls. It was known as Naravanavatika. This is the earliest mention of the existence of the Vaishnava temple. The next earliest trace of this type of temple is found at Besanagar in Madhyadesa. Narayanavat ka continued to be associated with Vaishnavism because there are letters Shei 'Vishnu Padabhyam's engraved in the characters of the seventh century A.D. on a stone of the wall of the enclosure. Besides, there was another temple of Vishnu built in the fifth century A.D. An inscription found at Nagari dated 424 A. D. records the erection of a temple over foot marks of Vishnu by Satyasura and his brothers who were Vaisya by caste!. Fragment of an amalaha, the crowning members of a Sikhara temple unhearted at this place and datable in the fifth century A. D. testify to the existence of the Sikhara temple as early as the Gupta period'. With the rise of Vaishnavism, there started a revival of the Vedic sacrifices. The Vajapeya sacrifice was performed in the fourth century A. D. by some person, and his sons erected a Yuna in order to commemorate it.

<sup>1.</sup> JASG, p. 187.

<sup>2.</sup> PRAS., wc., 1916, p. 49.

<sup>3.</sup> EI, XXII, p. 198.

<sup>4.</sup> This enclosure is known as Hathibada because when Akbar came here to reduce Chitor, he used it as his elephant stable. Actually, it is not a structure of the Muhammadan period. The high massive dressed blocks of stone piled one upon another into this structure point out to the much early period.

<sup>5.</sup> ARRMA, 1916, p.2.

<sup>6.</sup> KHT II, p. 348.

<sup>7.</sup> URI, p. 55.

Along with Vaishnavism. lainism and Buddhism also continued to exist at Nagari. Jainism was probably found in about the fifth century B. C. as it is clear from the Badali inscription which mentions the place Majhamika.1 The Majhamika branch of the Jaina church Organization mentioned in the Sthiravali of the Kalvasutra<sup>2</sup> became famous after the name of this place. Privagantha, the second pupil of Susthita and Supratibuddha, founded this branch in about the third century B. C. Some Kushana inscriptions of the second century A.D. of the Madhyamika Sakha are found at Mathura,3 This indicates that the Siavakas of the Madhyamika migrated to Mathura where they settled. Like the lainas, a sect known as among the Buddhists Madhyamika arose probably from this place. It does not seem to be doctrinal but territorial in origin. The Madhyamikas emphasized on Nihilism. An inscription of about the third century B. C. with the meaning 'constructed for the welfare of all living beings' has been discovered5. It may be either of the Jainas or the Buddhists.

One Stupa has been discovered at Nagari. It is constructed of moulded bricks and decorated with teracotta tiles of high artistic merit rivaling those of the best kind in Gandhara. These

terracotta tiles are of three types-1). Moulded bricks with human busts (2) Moulded bricks with animals in profile and (3) Moulded bricks with floral decorations. The art of this place does not seem to have been influenced by the Greeks but is an independent artistic creation of the Sibis. Actually, it does not seem to be the creation of the Sibis as Dr. Bhandarkar thought. It should belong to a period when moulded brick temples decorated with terracotta figures were in vogue. It is in the Gupta period when we first meet such stupas and temples. Scholars hold that it was the Buddhist Stupa but there is nothing definite to prove it. As Madhyamika was also associated with the Jainas in early times, it may also belong to them. The Jainas are noticed in erecting the stupas in early times at Mathura and other places. This stupa was converted into the Saiva temple in the fifth century A. D.7 There is a stone Torana or arched gateway of the fifth century A. D. which was constructed when the stupa was converted into a Saiva temple. Most probably, this conversion was done by the Hunas who remained associated with this place. Mihirakula, who was the follower of Saiva religion, performed persecutions both on the Jainas and Buddhists. Probably, it was converted into Saiva temple at that time. × × ×

<sup>1.</sup> NJI, p 402, Dr. Sircar thinks that it is not a BC. See JBORS, March 1954, p. 8.

<sup>2.</sup> SBE, XXII, p. 293.

<sup>3.</sup> EI, pp. 381-97 (Jaina Inscriptions from Mathura)

<sup>4.</sup> Sadasadvada by Pt. Madhusudana, p. 15. The author mentions other Buddhist sects, along Madhyamika, such as the Vaijananika, Srotarantika and Vaibhashika.

<sup>5.</sup> URI, p. 54.

<sup>6.</sup> PRAS wc., 1916, p.49.

<sup>7.</sup> PRAS. wc., 1916, p. 49.

#### A hhraviations

- 1. ASC = Archaeological Survey of India Reports by Sir Alexander Cunningham.
- 2. IAR = Indian Archaeology.
- 3. El = Epigraphia Indica.
- 4. RIO= Rajasthan Ka Itihasa by Ojha.
- 5. BCV = Bhandarkar Commemoration Volume.
- 6 CII = Corpus Incriptions Indicarum.
- 7. JNSI = Journal of Numismatic Society of India.
- 8. VV = Viravinoda.
- 9. JASG = Jaina Agama Sahitya me Gujarat.
- 10. PRAS wc. = Progress Report Archaeological Survey, Western Circle.
- 11. ARRMA = Annual Report Raiputana Museum, Aimer.
- 12. KHT = Hindu Temple by Stella Kramrish.
- 13. URI = Udaipur Raiva Ka Itihasa by Ojha.
- It. NJI = Nahar laina Inscriptions.
- 15. SBE = Sacred Books of the East.

## With the Compliments of:

## DADHA & COMPANY

CHEMISTS & DRUGGISTS

P. O. Box 541

Madras-3.

Telephone: 34716

Telegrams: "increase"

# दुखी विश्व को महावीर ने समता का संदेश सुनाया....

हिंसा से जलते प्रांगेण में, करुणा का श्रमृत वरसाया। दुखी विश्व को महावीर ने समता का सन्देश सुनाया।।

ग्रभी याद है वह दिन जब मानव ने खेली खूँ की होली। धर्म-ग्राड़ में भाई ने भाई पर ही बरसाई गोली। लेकर नाम यज्ञ-बलि का, पशुग्रों की मारी जाती टोली। मांस ग्रीर मदिरा के भक्षक, पूजे गये लगाकर रोली।

दूर किया पाखण्ड, धर्म का ज्ग को सच्वा रूप दिखाया।। खो विश्व को महावीर ने समता का सन्देश सुनाया।।१।।

चैत्रमास की त्रयोदशी को कुण्डग्राम में जन्म लिया था।
पिता-नुपित सिद्धार्थ तथा मां त्रिशला को सानन्द किया था।
था निःस्वार्थ प्रेम की प्रतिमा, सहज साधनायुक्त हिया था।
तपी, संयमी, सेवक, त्यागी, ज्ञान-प्रकाशी दिव्य दिया था।
उसने जग को सात तत्व व नव पदार्थ का भेद बताया।।
दुखी विश्व को महावीर ने समता का सन्देश सुनाया।। २।।

"मैं ऊंचा हूँ, वह नीचा है," यह विचार होगा दुखदाई। राग-द्देप से युक्त, जीव ने वतला शान्ति-सुधा कव पाई। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कहकर करता है व्यर्थ लड़ाई। त्यागो क्रोध, लोभ, माया को, पाटो द्देष दम्भ की खाई।

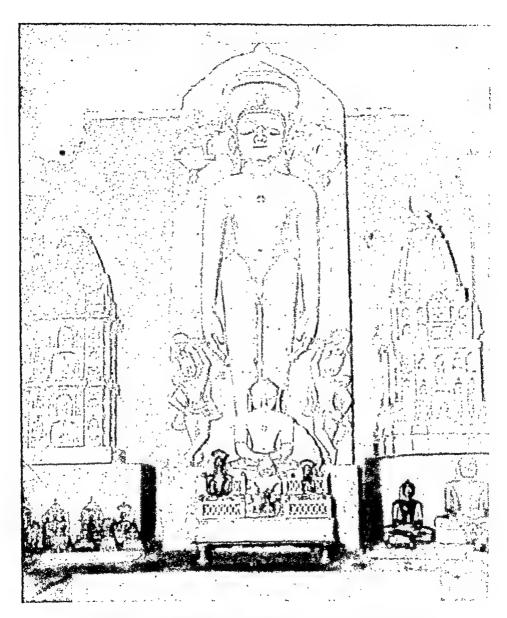
छोटा-बड़ा कीन है पगले, सब में उसी तत्व की छाया।। दुखी विश्व की महावीर ने समता का सन्देश सुनाया।। ३।।

''मेरी वात सही, वह भूठा,'' यह एकान्त राह को रोड़ो। स्याद्वाद का सारयही है, हठ धर्मी से मुखड़ा मोड़ो। भावगुद्धि के लिये तपस्या करो, ढोंग का पहा छोड़ो। सहन शीलता, क्षमा, त्याग से टूटे हुए हृदय को जोड़ो।

शान्ति ग्रात्मा के ग्रन्दर है, व्यर्थ पोसता नश्वर काया ॥
दुखी विश्व को महावीर ने समता का सन्देश सुनाया ॥ ४ ॥

हो ग्राचार ग्रहिसामय, व्यवहार प्रेम की पावन धारा। ग्रनेकान्त हो यदि विचार मे, जीवन होगा सुखी तुम्हारा। जीवो-जीने दो सवको; यह महावीर का पावन नारा। मूड़ समफता नहीं, किन्तु है समफदार को एक इशारा।

इच्छाम्रों को जीत, संयमी बना, साधना को समकाया ॥ दुखी विश्व को सहावीर ने समता का सन्देश सुनाया ॥ ५ ॥



बीकानेर के जैन मन्दिर के भीतरी भाग का एक हथ्य

# ववेताम्बर अपभ्रं श साहित्य

उत्तर भारत की सभी प्रान्तीय भाषाग्रों का विकास अपभंश से हुमा है। हिन्दी, राजस्थानी, गुज-राती का तो प्रपन्नंश से सीघा एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन भाषायों को यवभंश की देन महान है। ५० वर्ष पहले तो प्रपन्नंश जैन ग्रंथों को प्राकृत भाषा का माना जाता रहा इसलिए इनके महत्व की श्रोर विशेष ध्यान नहीं गया । पर पाश्चात्य जर्मन विद्वान डा० हमन जेकोबी को जब सर्व प्रथम घनपाल की ग्रपन्न श की रचना 'भवि-संयत्त कहा' मिली तो वे बड़े प्रसन्न हुए घौर उनको प्रकाशित करने ग्रीर उसकी भाषा का वैज्ञानिक ग्रध्ययन करने को वड़े उत्साहित हए । उसके वाद जैन मंडारों की ज्यों-ज्यों खोज होती गई, बहुत सी श्रपश्रंश रचनाएँ मिलने लगीं। कुछ वौद्ध रचनाएँ भी मिलीं। उन सबको बहुत ही महत्व की मान कर हिन्दी श्रीर गुजराती के विद्वानों ने प्रपने साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में उनका उल्लेख करना प्रारम्भ किया धीर धव तो ध्रपश्रंश साहित्य इतना घधिक प्रसिद्ध हो चुका है कि उसके सम्बन्ध में कई शोध प्रवन्ध लिसे जा चुके हैं। इधर कुछ वर्षों में दिल्ली, श्रामेर, जयपुर, नागौर, श्रजमेर ग्रादि के दिगम्बर जैन भएडारों में बहुत सी प्रज्ञात रचनाएं मिली हैं। जिनमें से कुछ की जानकारी तो प्रभी तक उन भएटारों की सुची बनाने वाले या उन भएडारों का धवलोकन करने वालों के प्रतिरिक्त प्रन्य विद्वानों को नही है। वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित "ग्रनेकान्त" में प्रयन्न श के ग्रन्थों की प्रशस्तियां प्रकाशित हुई भीर जयपुर से प्रकाशित प्रशस्ति-संग्रह में भी कुछ सपसंश प्रत्यों की प्रशस्तियां छपी भीं पर स्सके बाद तो घौर भी बहुत से म्रपभंश ग्रन्य मिले हैं उनकी जानकारी शीघ ही। प्रकाश में लाना धावश्यक है।

जैन धर्म के हो प्रधान सम्प्रहाय हैं-दिगम्बर श्रांर रवेताम्बर। इन दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों ने श्रपश्रंश भाषा में बहुत से प्रंथ लिखे हैं। दिगम्बर प्रम्थ एक तो बड़े बड़े हैं श्रांर संख्या में भी श्राधिक हैं इसलिए उनकी श्रोर विद्वानों का जितना ध्यान गया है, उतना रवेताम्बर श्रपश्रंश रचनाश्रों की श्रोर नहीं गया है। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने रवेताम्बर श्रपश्रंश साहित्य पर विशव प्रकाश डाला है।

जैन धर्म के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं। दिगम्बर भीर श्वेताम्बर । इन दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों ने धरान रा भाषा में बहुत से ग्रन्य लिये हैं। पर दिगम्बर ग्रंथ एक तो वड़े हैं मीर संस्या में भी मधिक हैं इसलिए उनशी भीर विद्वानों का जिलना ध्यान गया है, उतना श्वेलाम्बर श्रपभंश रचनात्रों की स्रोर नहीं गया है। कई रचनामी का उल्लेख जैसलमेर भीर पाटमा भएटार के साहरवीय ग्रंथों की सूची ( सन् १६३७ ) में गाफी वर्षों पार्क प्रकाशित हो चुका है। जैन साहित्य महारची मार्गीय मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने घपने 'जैन युजर परियो' के प्रथम भाग के प्रारम्भ में उनका दिस्तृत दिवस्ता भी दिया या भीर परिटत लालचन्द भगवानदाम गांधी ने ब्राभ्रंश बायजवी में भी पुछ रचनामों वा उन्हेस दिया या पर इन प्रत्यों की घोर हिन्दी के दिवानों ने हम की ध्यान दिया। इमलिए हा० हरियंग मीएड में 'बाररा'श साहित्व' नामक शोध प्रदेशा में भी राज्याता प्रतिर्धित 'विलाश दर्द बहा' अने महत्रपूर्ण प्रवेशास्त्र बाल्यांत कपा प्रत्य पा उल्पेय तक नहीं हमा अब कि दलना

विवरण अव से ३६ वर्ष पूर्व जैसलमेर जैन भएडार के सूचीपत्र में प्रकाशित हो चुका था। इसी तरह पाटण भएडार की सूची में भी अनेक फुटकर अपअंश रचनाओं का विवरण छा। या, उनका भी पूरा विवरण इस शोव प्रान्य में नहीं मिलता। यद्यपि कुछ का उल्लेख उन्होंने किया भी है। उदाहरणार्थ जिनप्रभ सूरि की तीन रच-न'ग्रों का ही उन्होंने उल्लेख किया है जब कि उनकी ग्रन्य कई रचनाम्रों का विवरण भी इसी पाटण भएडार की सूची में छपा है जिसके कि ग्राघार से उन्होंने उनकी तीन रचनाम्रों का उल्लेख किया है। हिन्दी मनुशीलन में कुछ वर्ष पूर्व मैंने भी जिन प्रभसूरीजी की अपभंश रच-नाग्रों का विवरण प्रकाशित किया था पर उस लेख की ग्रोर भी किसी का ध्यान नहीं गया प्रतीत होता है। इसी तरह राजस्थानी पत्रिका में "ग्रपन्न श के सन्घ काव्य ग्रीर उनकी परम्परा" नामक मेरा लेख छपा था उसमें भी जिनप्रभ के अपभ्रंश के सन्वि काव्यों का विवरण दिया गया उसकी ग्रोर भी किसी का ध्यान नहीं गया । कुछ ग्रमभंश रचनाएं तो हमने ग्रमने ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह ग्रीर दादाजिनदत्तसूरि ग्रादि पुस्तकों व पत्र पत्रिकाम्रों में प्रकाशित भी करदी हैं। ग्रपभ्रंश भाषा का सबसे बड़ा श्वेताम्बर महाकाव्य हरिभद्र सूरि कृत 'ग्ररिट्रनेमिचरिय' ग्रभी तक यप्रकाशित है। इसी तरह साधारण की 'विलासवई नहा' भी। इन दोनों महत्वपूर्ण श्वेताम्बर ग्रन्थों की ताडपत्रीय प्रतियां पाटण ग्रीर जैसल-मेर के भएडारों में है। अिंद्रनेमिचरिय का एक अंश 'सनतकुमार चरिय' तो डा. हरमन जेकवी ने प्रकाशित विया था, उसी का उल्लेख डा. को छड़ ने किया है।

इसके अतिरिक्त कुमार पाल प्रतिवोध में भी कुछ अपभंश कयाएँ मिलती हैं। और उनको जानकारी तो प्रकाश में आगई है क्यों कि यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। पर श्वेताम्बर ग्रन्थों की टीकाओं में अपभंश भाषा को कयाएं प्राप्त होती हैं। उनकी ग्रोर अभी तक हिन्दी के किसी विद्वान का घ्यान नही गया है। मुनि पुर्य विजयजी ने ऐसे ग्रन्थों में से देवेन्द्र सुरि कृत, उत्तराध्ययन सुत्रवृत्ति, रत्नप्रभमूरिकृत उपदेश भाग दोछरी वृत्ति, मूल

शुद्ध प्रकरण वृत्ति, ग्राख्यानमणि कोप वृत्ति ग्रीर भव-भावना प्रकरणा, स्वोपच वृत्ति वा उल्लेख विया है। संयम मंजरी वृत्ति वा परिचय मैंने हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित किया था। प्रस्तुत लेख में उपदेश भाग दोछरी-वृत्ति में जो ग्रपभ्रंश के छ: संधि काव्य प्रकाशित हुए हैं उनका संचिप्त परिचय करवाया जा रहा है। यह वृत्ति २३ वर्ष हुए श्री ग्रानन्द हेम जैन ग्रन्थमाला द्वारा ग्राचार्य हेम सागर सूरि सम्यादित प्रकाशित हुई है। इस वृत्ति के प्रथम विश्रांम में ऋपभ पारणक संवि, द्वितीय विधाम में गजसुकूमाल मुनि संघि ग्रीर तृतीय विश्राम में शालिभद्र महर्पि संधि, अवन्ति सुकुमाल संधि (मेतार्थ मुनि संघि प्राकृत) ग्रीर पूरण संघि, नामक प्रपन्नंश कया प्रकाशित हुई हैं ग्रीर ग्रन्य भी कुछ कथाग्रों में ग्रपभंश भाषा के प्राकी एांक पद्य प्राप्त होते हैं। अपभ्रंश के संधि काव्यों की भाषा और शैली वा पाठकों को परिचय मिल सके इसलिए उनके प्रारम्भ ग्रौर श्रन्त के कुछ पद्य नीचे दिये जा रहे हैं।

#### १ ऋषभ पारएक संधिपद्य ७८:--

ग्रादि—जंकर पावपंकु पनलालइ, भवियह भोनल सोनलु दिनलालइ संघि वंघ संवंघ लन्नज, चित्तु न रिसहैजिंग्यिदह वन्नजं ।। ३ ।। दाहिण मेरहलंड चूड़ामणि, साव सुवत नाई सोयामणि ।

ग्रित्य ग्रउजम नाभि सुर्पसिद्धी, नयरिपउर चलाइन समिद्धी ॥४॥ ग्रन्त-दससहसिहि साहुहु सहमह, बाहुहं ग्रहुशवई विच्छिन्नरिखा।

माहाइमतेरसि, निस्पम सुहरसि, गउ निन्वािंग जुगाई जिंगु ॥ ७८॥

२. चन्दन वालावीर पारगासंधि पद्य १०१

ग्रादि-तिसला देविक्रु विखकल हंसह, खत्तियनादस ग्रवयंसह । छिन्न सुवन्न सुवन्न सरीरह,

पारवसंघि भगाउँ जिग्मीरह ।।१।।

दहिराभरहखडि संजायज,
खितय कुंडु गामु विक्खायज।
तुंगतारपाया रविराइज,
ग्रासि नयरु न परेहि पराइज ।।२॥
ग्रंत-सिरितिसलानंदगु करायच्छिवतरगु,
पञ्जकासरासंठियज
कितपभाव ऐसिहि साइहि गोसिह,
एकोच्चिरा निव्वास्ति गठ (१०१)

### ३. गज सुकुमाल सन्धि पद्य, ८५

स्रादि-म्रासि नयरि वालइ पसिद्विय,
सावसुवन्तसिनिद्वय ।
जा जोयणवारह दोहत्तिणि,
सिकि कराविय नवपहुलतािणा ।।१।।
जिह घणकमयकौडिसिज्जिज्जी,
दाणि मणोरह जणह न पुज्जिह ।
भीस्मिद्निछारियरोगिहि,
घन्न तरि मन्नियइ न लोगिहि ।।२।।
प्रात—इस गयसुकुमालिहि,
चरिज स्रवालिह, ग्रद साहसिनिज्वाहवरू ।
जो पढ़इ भत्तिभरि, गुणई महूरसिर,
जाइ दूरितसुदुरियभर ।।=५।।

## ४. शालिभद्र महाऋषि संधि पद्य ४४

म्नादि— सालि 'गायु' नामेण प्रसिद्ध मी,

म्नासि गायु घणवन्न समिद्ध मी।

पन्नानामि कावि विह्वगण,

तिहं कम्मयरी म्नासि मिक्स ॥१॥

में त— इतते रवीणाय जाया,

मन्युयदावि देव सवविद्वर ।

महतिम्म विमुक्त नरभिव,

दुक्त सिज्भिस्तिह निरु एस्य पर ॥६४॥

५. अवन्ति सुकुमाल सन्धि पद्य ५७ बादि-इह बित्पनवरि नामिण प्रदेति,

जहि तुंगचंगचे इय सहंति।

तहताण पुरच मुपयट्ट नट्ट,

चच्चर-चडनक-चडहट्ट-हट्ट ॥१०
कण किए रकणयिकिकितिमस्पित,

मस्त हरि पहिल्तर पत्ते वेहि
जा हसइ सन्ति पुरपायद्वेहि,

तह तज्जइ, सज्जिय धयवटेहि ॥२॥

ग्रन्त-कालनकिम जायत सो किननायत, तिरपु तित्यु लोयहं तरात । 'महाकालु' कहिन्ज ग्रन्जिन, विज्जह मिर्णि सियालि सवग जुयत ॥ १७ ॥

## पुरणार्ष संविपद्य उरे

ग्रादि-प्रत्यि एरयुक्ति भरहवासमि वेभेलउ नामिपुरु वाविक्तवेदे उलसमित्रिः तिहि निवसइ सध्यगुणु पूरस्यु ति उत्तम कुट्ठेविड ।

जमु दीसहि घरि उच्य कु स्ट्रकंचण घणधन्नाह, जे पुणहरि करह प्युमुंह संय जुजाणर्दनाह ॥ १ ॥ धन्त-चमरु पत्तड चमरच चाह्मिच्चिय नच्चिय तेहि पुरम्बुहि तुह्ड, विस्तिजिव, परम्परपय पर् पुर उत्तर सददुसंगेड सिजिवि,

स्वसरि बीरिजिएसिस विकालसम् पारेदः,
जिव जंगमु वरंकणतस् महिगंदिनि पिहरेर्दे ।।३२।।
कालिसाल नवंश सानायं हेगनस्य के गुरु देशसम्ब्र सूरि ने 'मूल शुद्धि प्रकरण्' की टीका १३००० स्लोकों की बनाई है। उस टीका में 'सुलतुश्वरणामुं' सर्पाद् सुलसास्यान नामक १७ वटयक का एक पूरा प्रवर्भा स सुख पत्र ''जैन युग'' में वर्राय २० दर्षं पूर्व लेग प्रका-शित हुझा या पर हिन्दी के किसी पिदान का इस महरूर-पूर्ण काव्य की प्रोर ध्यान नहीं गया। इसके घन्य के प्रय इस प्रकार हैं:—

भेह संवि पुरम्यः वस्तियमः, देववंदमूरी ही समस्यमः। इय बहुगुणः भूतितः जिगरन् पर्मतितः, सुल्तः परिस्मारिकं महिः। निवृश्तंतः परंदरः मन्तिः, संस्ताः सौम्यः गीमस्थितः।

प्रस्तुत अपभंश काव्य मूल शुद्धि टीका के अन्तर्गत सिन्धी जैन प्रन्य माला से प्रकाशित होने वाला है । देवेन्द्रसूरि की उत्तराव्ययन सूत्रवृत्ति घीर मलघारी हेमचन्द्र सूरि की भवभावना स्योपन वृत्ति तो प्रकाशित हो चुकी है, ग्राख्यान मण्डि-कोप वृत्ति प्रकाशित होने वाली है। इनके ग्रतिरिक्त संवत् १६६० में वर्द्धमान सूरि रचित ग्रादिनाथ चरित्र संवत् ११६६ में लदमण् गिण् रचित सुपान नाह चरियं ग्रीर देवेन्द्रसूरि रचित शान्तिनाथचरित्र नामक प्राकृत काव्यों में भी वीच वीच में ग्रपभ्रंश के पद्य प्राप्त होते हैं। ग्राचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धत ग्रपभंश के दोहे तो प्रसिद्ध हैं, पर उन्हीं के छन्दोनुशासन में प्राप्त ग्रपभंश पद्यों को ग्रोर प्राय: ध्यान नहीं गया है। वरदत्त रचित वयरस्वामी चरित्र दो सन्वियों का अपभ्रंश काव्य है जिसमें १२ ग्रीर ६ = कुल २१ कड़क है। पाट्या और खंभात के भंडार में प्रतियां हैं। रचना का परिमाण ३०० श्लोकों का है। इसके भी प्रारम्भ स्रीर स्रन्त के कुछ पद्य 'जैन गुर्जर कवियों के प्रारम्भ में दिये गये हैं। जूनी गुजराती वो इतिहास' के पृष्ठ ७३ में उद्धृत है। उक्त ग्रन्य में ग्रीर भी कई श्वेताम्बर ग्रप-भ्रंश रचनाग्रों का विवरण ३६ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुगा था। अपभ्रंश भाषा का १२वों-१३वीं शताब्दी तक काफी प्रभाव था। इसीलिए उपरोक्त श्वेताम्बर प्राकृत ग्रन्यों में ग्रपभंश की कथाएं एवं फुटकर पद्य उद्दृत मिलते हैं। प्राचार्य हेमचन्द ने अपभ्रंश का व्याकरण ही बना दिया एवं देसी नाम माला और छन्दोनुशासन में भी अपभंश शब्दों एवं पद्यों को उद्धृत किया है। १४वीं शताब्दी तक की राजस्यानी-गुजराती रचनाग्रीं में ग्रपभंश का प्रभाव ग्रच्छे रूप में मिलता है ग्रीर जिन प्रभमूरि जी ग्रादि की कई ग्रयभंश रचनाएं भी १४ वीं शताब्दि की प्राप्त होती है। १५ वीं शनाब्दी के प्राचीन राजस्यानी या गुजराती रचनाग्रों में अपभ्रश का प्रमाव कम बहुत होता गया है।

श्वेताम्बर अपभ्रंश रचनाएं चाहे दिगम्बर अपभ्रंश रचनाओं की अपेद्धा छोटी-छोटी श्रीर संख्या में कम मिलती हों पर उनका कई दृष्टियों से महत्व बहुत श्रिषक है। पहली बात यह है कि इन रचनाश्रों में विविघता वहुत अधिक पाई जाती है और अनेकों काव्य-रूप जिनकी परम्परा राजस्यानी एवं गुजराती भाषा में कुछ लम्बे काल तक चलती रही है, उनका मूल श्वेताम्बर ग्रपभंश रचनाश्रों में मिलता है। प्रान्तीय लोक भाषाश्रों में क्रमशः जो परिवर्तन ग्राया उसका भी सबसे ग्रधिक क्रमिक विकास का स्वरूप इन्हीं रचनाग्रों में प्राप्त होता है। वैसे छोटी-छोटी रचनाग्रों की संख्या भी कम नहीं है पर उनके संग्रहित करने का प्रयत्न ज़ैसा चाहिए नहीं हुमा । उन रचनाम्रों की कई प्राचीन संग्रह प्रतियां मिलती हैं जिनमें कुछ ताड़ पत्र की १२वीं, १२वीं, १४वीं, शताब्दी की हैं और कागज की प्रतियाँ भी १ ४वी-१५वीं शताब्दी की वहुत सी मिलती हैं।

अपभ्रंश से हिन्दी भाषा का विकास किस तरह होता गया, इसके ग्रव्ययन के लिए दिगम्बर ग्रपभंश वत कथाओं का अध्ययन बहुत ही आवश्यक है। पर श्रभी उनकी ग्रोर भी विद्वानों का घ्यान बहुत ही गया है । महापिएडत राहल सांकृत्यायन ने स्व. परिडत महेन्द्र कुमार जैन का परिचय प्रकाशित करते हुए 'सरस्वती' में यह भी सूचना दी थी कि महेन्द्र-कुमारजी को किसी जैन भएडार से अपभ्रंश गद्य की कोई कथा मिली है। ग्रपभंश गद्य की कोई स्वतन्त्र रचना स्रभी तक ज्ञात नहीं थी, स्रत: वह गद्य व्रत कथा शीव्र ही प्रकाशित होनी चाहिए। इसी तरह संवत११२३ में साघारण (सिद्धेनसुरि) रचित ११ सन्धिवाली 'विलासवई' कया भी शीघ्र ही प्रकाशित होनी स्रावश्यक हैं। ग्राशा है कि हिन्दी के विद्वान ग्रपभंश साहित्य की खोज विशेष तत्परता से करेगे और उसके अध्ययन एवम् प्रकाशन में पूर्ण याग देंगे ।

१. वाई अपभ्रंश व्रत कथाओं का विवरण मैंने जैन सिद्धान्त भास्कर में प्रकाशित किया है। यतकथाओं की कई संग्रह प्रतियां श्री० दि० भंडारों में प्राप्त है। सुगन्वदसमी कया सिचत्र को हीरालालजी जैन छपवा रहे थे। उसे उन्हें शीघ्र प्रकाशित करना चाहिये।

## प्रो० नरेन्द्रकुमार भानावत, एम. ए., साहित्यरत्न, हिन्दी विभाग, गवनंमेन्ट कालेज वून्दी

# 'भगवान महावीर विषयक तीन वेलि-ग्रन्थ'

महान पुरुषों का गुएए-गान करना भारतीय धर्म एवं संस्कृति का एक प्रमुख तत्व रहा है। कभी आत्म-निवेदन के रूप में किवयों ने अपने आराध्य की गुएए-ग्रिमा का उद्घाटन किया है तो कभी इतिवृत्त के माध्यम से अपने चिर्य नायक की महानता का कीर्तन। रासो, रास, पवाड़ा, सज्भाय, विलास, मंगल, धवल, स्तवन, स्तोत्र, ढाल आदि संज्ञक रचनाएं इसी प्रकार की है। 'वेलि' नामक ग्रंथ भी इसी श्रेणी के हैं। जैन वेलिकारों ने तीर्थं कर, चक्रवर्ती, सती, धर्माचार्यं तथा अन्य महापुरुषों की जीवन-गाथा को आना वएयं-विषय बनाया है। तीर्थं करों में वाइसर्वे तीर्थं कर भगवान नेर्मिनाय सम्बन्धी वेलियां सबसे प्रधिक मिलती हैं। प्रस्तुत निवन्च में भगवान महावीर के सम्बन्ध में प्राप्य तीन वेलि-ग्रंथों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) वर्द्ध मान जिनवेलि:- विल २४ वें तीर्धं विजय मूरि के कि कर भगवान महावीर के पंचकत्वाएक (गर्भकत्वाएक, भीर १६६० के जन्म कल्याएक, तप कल्याएक, ज्ञान कल्याएक भीर हालों के ६७ पर मोच कल्याएक) उत्सव से सम्बन्ध रखती है। इसके इस प्रकार है—

महान पुरुषों का गुण-गान करना भारतीय धर्म एवं संस्कृति का एक प्रमुख तत्व रहा है ! कभी आत्म-निवेदन के रूप में कवियों ने अपने आराध्य की गुण-गरिमा का उद्घाटन किया है तो कभी इतिवृत्त के माध्यम से अपने चरित्र नायक की महानता का कीर्तन। रासो, रास, प्रवाड़ा, सञ्काय, विलास, मंगल, धवल, स्तवन, स्तोत्र, ढाल आदि संद्राक रचनाएं इसी प्रकार की हैं। 'वेलि नामक प्रथ भी इसी श्रेणी के हैं।

रचिवता सकलचन्द्र उपाध्याय र नतरहवीं शती वे मध्य के प्रसिद्ध किवयों में से ये। ये तपागच्छीय प्राचार्य हीर विजय मूरि के शिष्य थे। उस्मती रचना मं. १६४३ भीर १६६० के मध्य किनी समय हुई होनी। यह इ हालों के ६७ पदों की रचना है। इसका वर्णन-मार इस प्रकार है—

- १. इसकी हस्तलिखित प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विचा मंदिर, प्रहमदाबाद के नगर सेठ कस्तूरभाई मिएाभाई के संग्रह के ग्रंथांक ११२१ में मुरक्षित है। यह ४ पत्रों में लिखी गई है।

  पुस्तिका में लिखा है—भाछनं पुस्तकं हुएटां ताछनं लिखीतं गया।

  यदि गुढ़ं म गुढ़ं वा, मम दोषों न दीयते।।
- २. वेलि में किव ने भ्रपना परिचय इस प्रकार दिया है— वीर पटोधर श्रेणि श्रायो, ही रविजय गुरु ही री। सकलचंद कहें सो नित्य समरें, चरम जिनेनर वीरो रे।।
- ३. विशेष परिचय के लिए जैन गुर्नर कविना भाग १. पृ० २७४-२४ तथा भाग ३ पृ० ७६६-७८

1-0

(त्र) गर्भ कल्याण्क उत्सव:-वर्द्धमान के गर्भ में ग्राने पर माता त्रिशला ने स्वप्न देखे। गर्भस्य शिशु ने माता को कष्ट न पहुंचाने के विचार से हलन-चलन वन्द कर दिया। इससे माता त्रिशला को गर्भ गल जाने की ग्राशंका से ग्रत्यधिक वेदना होने लगी। यह जानकर वर्द्धमान ने पुनः हिलना-डुलना प्रारम्भ कर दिया जिसमे सर्वत्र ग्रानन्द छा गया ग्रीर देवियों ने ग्राकर माता का ग्रिभिषेक किया।

(व) जन्म कल्याण्क उत्सवः— गर्भ पूरा होने

(य) जन्म कल्याग् क उत्सवः — गर्भ पूरा होने हिंडोले में उ पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वर्द्ध मान का जन्म हुग्रा। तथा गले में इससे इंद्र का ग्रासन कांप उठा ग्रीर देवताग्रों के यहां होने पर खेल स्वयमेव घटे बजने लगे। जन्मोत्सव मनाने के लिए इंद्र इतने वीर ग्रं भगवान को मेरु पर्वत पर ले गये वहां उनका ग्राभिषेक इन्द्र की बात हुग्रा। वर्द्ध मान जन्म से ही ग्रत्यन्त रूपवान थे। उनके बन कर उस मुख-सौन्दर्य के ग्रागे चन्द्रमा पराजित था। उनके होठ कर दूर फॅक गुलाल की तरह लाल, ग्राखें कमल-पंखुड़ियों सी सुकुमार, धारण कर व्य १. गाभ गल्यों में भोलें जांण्यों, चिंता सागर साल्यों रे।

कपोल स्वर्ण-वेलि सहश, जीभ कमल-पत्तों सी कान काम-हिंडील से, नासिका श्क-चोंच सी, कंठ शंख-सदृश तथा भूजा कमल-नाल सी थी। नाभि ग्रमत की कुंभी थी, हृदय पर श्रीवत्स का चिन्ह था । रेऐसे बालक वदं मान को ग्रप्सराग्रों ने कुएडल-माला ग्रादि से ग्रलंकृत कर माता त्रिशला को सींप दिया। महावीर का वचपन वड़े लाड़-प्यार से बीता। उनके पैरों में रत्नों के घुंघरे बांघे गये, नाक में फुल्ली पहनाई गई। मिएा जटित स्वर्ण हिंडोले में उन्हें भूलाया गया। सिर पर रत्नों की टोपी तथा गले में मिशा-कंठला डाला गया। 3 भगवान बढे होने पर खेलने के लिए नगर से बाहर बन में गये। वे इतने वीर श्रीर निर्भीक थे कि उनसे इन्द्र तक डर गया। इन्द्र की बात पर विश्वास न कर एक देवता ने सपं बन कर उसको डराना चाहा पर वद्धांमान ने उसे पकड़ कर दूर फेंक दिया। है इस पर देवता ने वालक का रूप धारण कर वर्द्धमान के साथ खेलना प्रारम्भ किया। खेल

सोही दुःख सालत बहुज्यों, चितवित पुन हाल्यो रे ॥३॥ जदरथी तेमो दुख जांगी, ते सलसितयो हाल्यो रे । तबहुं हुस्में ग्राणंदें बोली, हाल्यो हाल्यो हाल्यो री ॥४॥ ढाल १ २. प्रभु मुखि हार्यो चंदलो, होठ लाल गुलाल । ग्राखि इंदीवर पांखडी, कनक वेलडा गाल ॥१२॥ पोयण पानसी जीभडी, श्रवण कांम हिंडोलि। नाशिका सूग्रठा चंचडी, कंठ शंखनें तोलि ॥१३॥ कमल नालिस बांहडी, नाभि ग्रमृत कुंगी। हृदय श्रीवत्सस्युं सोभतो, किंड हरिकडी लुंगी ॥१४॥ ढाल २ ३. रमण्ती धमधमें घुवरी, जब ठमकित चालें। जब लोइं फो केंहदे सुंदरी नाक फुदडी भालें॥२१॥

रमण टोपी मिण कंडलो, मानें पूतनें आलें ।।२२।।ढाल २ ।।
४. इंद्रे पीण बीहाप्यो जगमां वर्षमान निव बिहें।
अमर सभा माहि एक दिन बोलें, इंदो आपें जीहेंरे।।१६॥
एक देव ए बात न मांने, कौतक जोवा आवें।
अहि रूपे आमलितरू वेंही, गिण ते कुड निव फावें रे।।२०॥
विर कुमर होडि रमतो, कुं अरें आगिल राख्यो।
विरे एडी पाडी गहिनें, सी सुर दुरि नाख्यो रे।।२१॥ ढाल ३॥

मिं जड्यें कनक हिंडीलडें, मात धूमणि खालें।

ही खेल में वर्द्ध मान उस देव न्यालक के कंधे पर चड़े ग्रीर वह ग्रपनी कंचाई बढ़ाता गया। इस पर वर्द्ध मान ने मुक्का मार कर उसे परास्त कर दिया। श्रम्त में देवता ने ग्रपनी माया समेट कर प्रत्यद्ध रूप में वर्षमान के समद्ध उपस्थित हो द्धमा मांगी ग्रीर उन्हें 'महावीर' नाम दिया। 2

- (स) तप कल्याण उत्सव:-माता-पिता की मृत्यु होने के बाद सब प्रकार का वैवाहिक मुख भोगकर महा-बीर ने बरसीदान दे दीचा ग्रंगीकृत की। दीचा ग्रंगीकृत करने के बाद १२ वर्ष तक घोर तप किया।
- (द) ज्ञान कल्याण्क उत्सव: तप के प्रभाव से वैशाख शुक्ला दशमी के दिन महावीर को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। इस अवस्था में उन्होंने तीथं की स्थापना कर त्रिलोक को प्रतिबोध दिया।
- (इ) मोच्न कल्याग्यक उत्सव:-कार्तिक की ग्रमा-वस्या (दिवाली) के दिन भगवान को परम-पद प्राप्त

हुमा। इसी दिन भगवान के प्रधान शिष्य गौतम गण्डर को केवल-जान की प्राप्ति हुई।

(२) बीर जिन चरित्र वेलि:— इसके रचिता मुनि श्री ज्ञान उद्योत उन्नीसवी शती के प्रारम्भ में दिश्मान थे। ये तपीगच्छीय पुर्य ज्ञागर के शिष्य शाननागर के शिष्य थे। इसकी रचना तं के १ म् २१ के प्राप्त पाम की गई हो। १७ छंदी (म४ पंक्तियों) की इस रचना में भगवान महाबीर के 'वीरत्व' को प्रतट किया गया है। भगवान महाबीर अनुल बलशाली और धंमंत्रान थे। ये सिद्धार्थ के पुत्र थे। २ म वर्ष उन्होंने भोग-रस में ध्यतीत किये। तत्वश्चात अगले दो दर्यों में लौकान्तिक देवों को प्रेरणा—स्तुति से सांसारिक प्राण्वियों को दानादि देवर ज्ञानखण्ड वन में उन्होंने दीला अपीगृत की प्राप्त हुई। बारह वर्ष तक छद्मस्य प्रवस्था में रह कर उन्होंने तपश्चरण किया। इस काल में उन्हों वर्ष प्रवार के उपसर्ग एवं परीपह प्रसहन करने पढ़े। वयाशीन दर्ष गी

- १. पुनर्भी वालिक थईने निरमलो, ग्रापें होडिं हार्मो । सांधे बीर चट्या तब वाध्यो वीरें मुहकमें मार्यो ॥२२॥ ढाल ३॥
- २. प्रगट यइनें प्रभुनें खाँमी, नाम दीइं महावीरो । जेहवी इंद्रे प्रसंस्की तेहवी, मिं परख्यों तुं हीरी रे ॥२३॥ हाल ३॥
- रे. इसकी हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर के ग्रंथक ५५१२ में गुरिधन है। यह दो पत्रों में लिखी हुई है।
- ४. जैन गुर्जर किवयों मोहनलाल दलीलचंद देसाई भाग ३ पृ० ११३
- ४. श्री सिद्धारय राजसुत, अतुली वड वलवीर । वर्ष अट्ठाबीस भीग रस, विलसत दय वलघीर ॥१॥ वर्ष दोय रह्या आगला, लोकांतिक वयगोह । देईदान प्रभु अगुसरे, सहज दिसागुग गेह रे ॥२॥
- ६. (क) वर्णः लाई ध्यान की तारी, वन में ठाडें उपरामधारी।

मेष घटा चढ़ी छाई, पवन की ककोर भू के कालाई ॥
भूकलाई पींन ककोर चिहुदिशि, दमक टार्न दामिनी।
दाहुर चातुक मोर रव थैं। पीरी दिरही कामिनी।
तिर्णी समैं वीसे रो घीरो, जलद परिसह सबि नहें।
यही ग्रहो यतिवर पन्य तुक्तरि, शचल भूवर निव रहें।

श्रवस्था में - उन्हें केवल – ज्ञान की प्राप्ति हुई। विव से निरन्तर तीस वर्ष तक वे लोकोपदेशना देते रहे। श्रन्त में ७२ वर्ष की श्रवस्था में इन्द्रभूति को श्रपना प्रथम गणवर वनाकर वे उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। उ

'वर्द्धमान जिन वेलि' का मुख्य प्रतिपाद्य विषय जन्म-कल्याणक उत्सव रहा है वहां 'वीर जिन चरित्र वेलि' का तप एवं ज्ञान कल्याणक उत्सव।

(३) चन्द्न वाला वेलि:-४इसके रचयिता अनित-देव सूरि पल्लीवाल गच्छीय आचार्य महेश्वर सूरि के पट्टघर थे। किन का कान्य-काल सं० १५६७ से १६२६ के नीच निर्घारित होता है। प्रमुमान है इसी के म्रास-पास यह नेलि रची गई हो। प्रतिष्ठा लिपिकाल सं. १७८० ग्रापाढ सुदि ११ नुघनार है। यह २६ छन्दों की कृति है। इसकी मुख्य कथा सती चन्दननाला से सम्बन्धित है पर प्रसंगनश महानीर के ग्रभिग्रह्धारी स्वरूप का भी उद्घाटन हुग्रा है। प्रथम चार छन्दों में भगनान महानीर के तपस्ती-रूप को-जिसने कठोर ग्रभिग्रह धारण कर रखा है ग्रीर जो पूरा नहीं हो पा रहा है-

- (ख) शीतः—ितम शीत कालें शीत सवलो, वायु वाई भुंखरा। हीमपडल जोरें वोर वोरें, हरित वन जिम भांखरां॥ वरतं सून तपन तंत्रोल तह्रिंगी, तूं ली का घरा ग्रादरें। तिर्णें समैं वन गीरी शीत देशैं, स्वामी ग्रवावड गुण वरें॥
- (ग) ग्रीष्मः—जिएा कालि रूयं जिल्ल ताय तडकां, श्रुंगफाटें मृगतएां। सर वापी क्रूप निवांगा न दीया, जुठक दीशे ग्रिति घएां॥ घन सार मिश्रित सरस चन्दन, सजल वन जन ग्रादरें। तिएों समें जिनवर ग्रिमित गुराधर, तपन तापै तप करें॥ ईम सर्व काले विषम परिसह, भूमि परिसंघ सही। इत्यादिक पंडि विजित, निकामी ग्रुपरीग्रही॥
- १. लाई ध्यान की तारीयां, करी आप्पा कलधीत । केवल जांन दर्शन तणीं, पसरयी अमिल उद्योत ।। अनोपम अमित उद्योग, लोकालोक प्रकाशक ज्योत । चल्ला आसन हरिसव आवें, आठ मुहा प्रत्निहार्य बनावें ।। त्रिगढें जिन बैट्ठा आई, त्रिहूं लोके हुई वधाई । मली अमरी जिन गुएा गावें, मिएा मािएक मोती वधावें ।।
- २. म्रनुक्रमें म्रपायाइं म्रान्या, इन्द्रभूति प्रमुख समान्या। कीधा शिठय में त्रिपदी म्रापें, चउितह तिहां श्री संघ थापें।
- ३. म्रायु वर्ष वहोत्तर पाली, सोल प्रहरनी देशना दीधी। योग रोधें कर्म सिव टाली, वरी शिवं वधू दिन दीवाली।।
- ४. इमकी ६ हस्तलिखित प्रतियां ग्रभय जैन ग्रन्थालय, वीकानेर में सुरक्षित हैं।
- ५, राजस्यान के हस्त लिखित ग्रंथों की खोज (ग्रप्रकाशित) सम्पादक-मुनि कांतिसागर।



यशोधर चरित्र का एक चित्र

ताह्मपुरस्य परिविद्धां स्थापित विद्धां स्थापि



प्रत्यच किया है। भग्नंत के छंदों में महावीर की केवल-भान प्राप्ति एवं चंदनवाला की दीचा तथा नेतृत्व-गरिमा का चित्र है।

इन तीन वेलियों के ग्रतिरिक्त कई वेलिकारों ने

श्रपनी रचनाश्रों के प्रारम्भ में मंगनाचरण करते हुए महावीर स्वामी की वंदना की है। इस दिव्य व्यक्तित्व की २५६१ वीं जन्म-अमंती पर मैं भी उसे प्राप्ती हार्दिक भाव भरी श्रद्धांजित स्वित करता है।

- (१) श्रितियारे श्रास्तीत्व धरावतां धर्मो मां जैन धर्म एक एवो धर्म है के जेमां श्रिहंसा नो क्रम सम्पूर्ण है अने जो शक्य तेटली हड़ता थी सदा तेने वलगी रह्यों हैं।
- (२) ब्राह्मण धर्म मां पण घणां लांवा समय पच्छी सन्यासियों माटे छा सूदमतर ऋहिंसा वादित थई स्रने झाखरे वनस्पति झाहार ना रूप मां ब्राह्मण ज्ञाति मां पण ते दाखील थई हती कारण ए छै के जैनो ना धर्म तत्वो एज लोक मत जीत्यो हतो तेनी झसर सज्जड रीते वधती जाती हती।

-हा॰ एफ॰ ग्रोटो सचरादर पी॰ एच॰ ही॰

१. कीशाम्बी नगरी पधारिया, विहरता श्री महावीर । श्रिभग्रह मन मांहि घरइ, सम, दम, उरसम धीर ॥१॥ राम कुंवर मनोहरू, लाड़ली योवन वेस । पात्र श्रठील पखस पड़ी, वेग्गी मुंद्रित केस ॥२॥ एक पात्र देहल वारणइ, इक माहि खेम घरीर । सूप खूगी उड़दना वाकुला, नमनेति टाले नीर ॥३॥ श्राठिम तपनइ पारणे, स्रक्ष श्रावे सीस । जाग एहवउं गउं मिने, इम चितवई श्री जनदोस ॥४॥

# सर्वोदय का मूल स्रोत

है, जिसका नेतृत्व ग्राचार्य विनोवा कर रहे हैं ग्रोर जिसके प्रचारार्थ 'सर्वोदय-सम्मेलन' जैसी संस्थाओं की स्थापना हुई तथा हो रही है, उसका ग्रति प्राचीन मूल स्रोत जैन-साहित्य में सिन्नहित है। विक्रम की दूसरी शताब्दी के महान् विद्वान ग्राचार्य स्वामी समंतभद्र ने युक्तमानुशासन ग्रंय में उसका स्पष्ट उल्लेख किया है, उसे 'तीथं' लिखा है— संसार के सब दुखों मे छूटने ग्रथवा उनसे पार उतरने के लिए समीचीन घाट या मार्ग के रूप में सूचित किया है—श्रीर भगवान महावीर के प्रनेतांतात्मक शासन को ही वह सर्वोदय तीथं वतलाया है, जिसका ग्राश्य लेकर भव्यजीव दु:ख—समुद्र से पार उतर जाते हैं। इस विषय की कारिका ग्रन्थ में निम्न प्रकार है:—

सर्वान्तवत्तव् गुण् मुख्य-कर्षं, सर्वान्त-शून्यं चिमथोऽनपेत्तम् । सर्वापदामन्तकरं निरंतं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तर्वव ।।६१॥

इसमें स्वामी समंतभद्र, भगवान महावीर की स्तुति
-करते हुए कहते हैं कि—'(हे भगवन)' ग्रापका यह
तीर्थ-प्रवचनरूप शासन या परमागमवाक्य, जिसके हारा
दु:खमय संसार समुद्र को तिरा जाता है—सर्वान्तवान्
है—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध (भावध्रभाव) एक-अनेक (ग्रद्धंत-द्वंत), नित्य-च्रिएक
ध्रादि ग्रशेष धर्मों को लिए हुए हैं; एकस्ततः किसी एक
ही धर्म को ग्रपना विषय किये हुए नहीं है—ग्रीर गौएा
तथा मुख्य की कल्पना को साथ में लिए हुये है—एक धर्म
किसी समय मुख्य है तो दूसरा धर्म गौएा है; जो गौएा है
वह निरात्मक नहीं होता ग्रीर जो मुख्य है उससे व्यवहार
चलता है इसी से सब धर्म सुव्यवस्थित है; उनमें ग्रसंगता

श्राजकल जिस 'सर्वोदय' सिद्धांत की सर्वत्र चर्चा है, जिसका नेतृत्य श्राचार्य विनोवा कर रहे हैं श्रीर जिसके प्रचारार्थ 'सर्वोदय-सम्मेलन' जैसी संस्थाश्रों की स्थापना हुई तथा हो रही है, उसका श्रात प्राचीन मूल स्रोत जैन-साहित्य में सन्निहित हैं। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने सर्वोदय के स्वरूप तथा उसके उद्गम पर प्रकाश डाला है।

भयवा विरोध के लिए कोई ग्रवकाश नहीं है। जो शासन—वाक्य घमों में पारस्परिक अपेद्धा का प्रतिपादन नहीं करता— उन्हें सर्वया निरपेद्ध वतलाता है—वह सर्व घमों से शून्य है—उसमें किसी भी घमं का ग्रस्तित्व नहीं वन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ—व्यवस्था ही ठीक वैठ सकती है। ग्रतः ग्रापका ही यह शासन-तीर्थ सब दुःखों का ग्रन्त करने वाला है, यही निरन्त है—किसी भी सर्वथैकान्तात्मक मिथ्या दर्शन के द्वारा खंडनीय नहीं है—ग्रीर यही सब प्राणियों के ग्रभ्युदय का कारण तथा ग्रात्मा के पूर्ण ग्रभ्युदय (विकास) का साधक ऐसा सर्वोदय-तीर्थ है—जो शासन सर्वथा एकान्त-पद्ध को लिए हुए हैं उनमें से कोई भी सर्वोदय-तीर्थ पद के योग्य नहीं हो सकता।

यहां 'सर्वोदय-तीथं' यह पद सर्व, उदय और तीथं इन तीन शब्दों से मिलकर बना है। 'सर्व' शब्द सब तथा पूर्ण का बावक है; 'उदय' कंचे-ऊपर उठने, उत्कर्ष प्राप्त करने, प्रकट होने अथवा विकास को कहते हैं। और 'तीथं' उसका नाम है जिसके निमित्त से दु:खमय संसार महासागर को तिरा जाय। वह तीथं वास्तव में धर्म-तीथं

है, जिसका सम्बन्ध जीवात्मा से है, उसकी प्रवृत्ति में निमित्तभूत जो ग्रागम ग्रथवा ग्राप्तवाक्य है वही 'तीथं' शब्द के द्वारा परिग्रहीत है। ग्रीर इसलिए इन तीनों शन्दों के सामासिक योग से बने हुए सर्वादयतीयं पद का फलितार्थं यह है कि-जो तत्वविवेचन जीवारमा के पूर्ण उदय-उत्कर्ष ग्रथवा विकास में तथा सब जीवों के उदय-उत्कर्ष प्रथवा विकास में सहायक है वह 'सर्वोदय-तीर्घ' है। ग्रात्मा का उदय-उत्कर्ष ग्रयवा विकास उसके ज्ञान-दर्शन-मुखादि स्वाभाविक गुणों का ही उदय-उत्कर्ष अयवा विकास है श्रीर गुणों का वह उदय-उत्कर्प श्रथवा विकास दोपों के अस्त-अपकर्ष अयवा विनाश के विना नहीं होता। श्रतः सर्वोदय-तीर्थं जहां ज्ञानादिक गुणों के विकास में सहायक है वहां भ्रज्ञानादिक दोषों तथा उनके कारए। ज्ञानावरणादिक कर्मों के विनाश में भी सहायक है-वह उन सब रुनावटों को दूर करने की व्यवस्था करता है जो किसी के विकास में वाघा डालती हैं।

इसी से जो तीर्थ-शासन सर्वान्तवान नहीं—सर्व धर्मों को लिए हुए ग्रीर उनका समन्वय अपने किये हुए नहीं है—वह सबका उदय-कारक भयवा पूर्ण-उदय-विधा-यक हो ही नहीं सकता ग्रीर न सब के सब दु:खों का ग्रंत करने वाला ही बन सकता है; क्यों कि वस्तु—तत्व ग्रनेकां-तात्मक है— ग्रनेकानेक गुणों—धर्मों को लिए हुए है। जो

लोग उसके किसी एक ही गुए। -धर्म पर हव्टि टालकर उसे उसी एक रूप में देखते भीर प्रतिपादन करते हैं उनकी दृष्टियां उन जन्मान्य-पृत्यों की दृष्टियों के समान एकांगी है जो हायी के एक एक ग्रंग की पकटकर-देखकर उसी एक एक अंग रूप में ही हावी का प्रतिपादन करते ये ग्रीर इस वरह परस्पर में लड़ते, भगड़ते ग्रीर कलह का बीज बीठें हुए एक दूसरे के इ.स का कारए। बने हुए ये। उन्हें हाथी के सब संगों को देखने वाले निर्मल नयन सम्पन्न पुरुष ने उनकी मूल मुक्ताई धी श्रीर यह कहते हुए उनका विरोध मिटामा पा कि तुमने हाथी के एक एक ग्रंग की पकड़ रक्ता है तुम्हारे पकड़े हुये सब झंग मिल कर ही पूरा हावी कहलाता है तो-तुम्हारे झलग झलग कथन के झनुरूप हाची कोई दस्तु नहीं है। शीर इसलिए जो वस्तू के सब मंगों पर दृष्टि डालता है-डिस सब मीर से देखता मीर उसके सब गुल -धर्मों को पहचानता है - वह वस्तु को पूर्णतया मणायं हप में देखता है, उसकी हिंद्य प्रनेकांत-हिंद्य है घीर यह भनेकान्त-हष्टि ही सही सब्बी भववा मध्यक् हष्टि कह-लाती है श्रीर यही संसार में शहंकार तथा एला-मूनक कंच- नीच के भेद-भाय घोर पैर-विरोध को विटाकर मुग-शांति की स्थापना करने में समर्थ है।

### ले० डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, एम. ए., पी-एच डी. मु० विश्वविद्यालय, ग्रलीगढ़।

## पुष्पदन्त की भाषा

उत्तरकालीन अपभ्रंश का जो रूप पुष्पदन्त के काव्य में हिल्हिगत होता है उसके सम्यक् विवेचन से यह तथ्य स्पष्टतः सामने आता है कि आधुनिक आर्थ भाषाओं के प्रारम्भिक रूप का विकास जिस भाषा-रूप से हुमा उससे वह कितना निकट है। इस हिल्ह से अपभ्रंश-घारा में पुष्पदन्त का स्थान अदितीय है। पुष्पदन्त ने अपंने महापुराण में संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश का भी स्पष्ट उल्लेख किया है:—

सववकड पायउ पुण भवहंसउ वित्तं उप्पाइउ सपसंसउ | | | (संस्कृत) (प्राकृत) (भ्रयभ्रंश) (महापुराण)

स्रपश्रंश का हिन्दी से क्या सम्बन्ध ? इस प्रश्न पर विचार प्रकट करते हुए महापिएडत राहुल ने जी ने लिखा है, "इस भाषा को स्रपश्रंश कहते हैं, शायद इससे स्राप समभने लगे होंगे कि तब तो यह हिन्दी से जरूर स्रका स्माप होगी। लेकिन नाम पर न जाइये, इसका दूसरा नाम 'देसी' भाषा भी है। अपश्रंश इसे इसलिए कहते हैं कि इसमें संस्कृत शब्दों के रूप अच्ट नहीं, स्रपश्रंट — बहुत ही अच्ट — है इसलिए संस्कृत पिएडतों को ये जाति—अच्ट शब्द बुरे लगते होंगे। लेकिन शब्दों का रूप बदलते-बदलते नया रूप लेना— अपश्रंट होना— दूपरा नहीं भूषरा है, इससे शब्दों के उच्चाररोों में नहीं सर्थ में भी स्रधिक कोमलता, स्रधिक मामिकता स्राती है। 'माता' संस्कृत शब्द है, उसका 'मातु', 'माई'

उत्तरकालीन अपभ्रंश का जो रूप पुष्पदन्त के काव्य में दृष्टिगत होता है उसके सम्यक् विवेचन से यह तथ्य स्पष्टतः सामने आता है कि आधुनिक आयं भाषाओं के प्रारम्भिक रूप का विकास जिस भाषा-रूप से हुआ उससे यह कितना निकट है। इस दृष्टि से अपभ्रंश-धारा में पुष्पदन्त का स्थान श्रद्धितीय है। पुष्पदन्त ने अपने महा-पुराण में संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। प्रस्तुत लेख में पुष्पदन्त की भाषा का विशद् विवेचन किया गया है।

ग्रीर 'मावों' तक पहुंच जाना ग्रधिक मधुर बनने के लिए। खेद है यहां भी कितने ही 'नीम-हकीमों' ने शुद्ध संस्कृत 'माता' को ही नहीं लिया, बिक उसमें 'जी' लगाकर 'माताजी' बना उसके ऐतिहासिक माधुर्यं को ही नष्ट कर डाला। ग्रस्तु, यह निश्चित है कि ग्रप्तं होना दूषण नहीं भूषण था।''

प्रारम्भिक हिन्दी के इस ग्रादि रूप उत्तरकालीन ग्रपभ्रंश का प्रतिनिधित्व करने वाले महाकवि पुष्पदन्त ज्ञान्तदर्शी थे जिनमें एक ग्रोर वागा की श्लेप-शैली जिसमें पद-योजना, ग्रलंकारादि प्राचीन परिपाटी पर हैं

१. महापण्डित राहुल-हिन्दी काव्य घारा, १६४५, किताब महल, इलाहाबाद पृष्ठ ५

२. रा विजारामि देसी।

<sup>—</sup>महापुरागा से उद्धृत।

तो दूसरी ग्रोर भाषा का ग्रपेक्शकृत चलता हमा जन-सावारण में प्रचलित रूप के दर्शन होते हैं। डॉ॰ हरिवंश कोछड़ १ ने पुष्पदन्त को अपभंश-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ किन मानते हये लिखा है - "पूज्यदन्त को ग्रपभ्रंश-साहित्य का सर्दश्रेष्ठ किव कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। पुष्पदन्त की प्रतिभा का मूल्य इसी वात से श्रांका जा सकता है कि इनके अपने महापुराण में एक ही विषय स्वप्न-दर्शन को चौबीस वार श्रंकित करना पड़ा।"

विद्वानों ने प्रपन्न श के अर्नेक भेद किये हैं। डॉ॰ तगारे ने 'अपभ्रंश का ऐतिहासिक व्याकरण' शीर्षक प्रवन्ध में तीन भेद स्वीकार किये हैं:-

- १. दिल्ला ग्रपञ्ज'श
- २. पश्चिमी ग्रपञ्चंश
- ३. पूर्वी अपभंश

दिचिगी अपभ्रंश के अन्तर्गत पुष्पदन्त तथा कनका-मर की कृतियाँ सम्मिलित होती हैं। पुष्पदन्त ने इसी अपभंश में भ्रपने ग्रन्थों की रचना की पर हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपि गुजरात में होने के कारण पश्चिमी अपभंश की भाजक उसमें यय-तय समाहित होगई है। पुष्पदन्त की शृतियों का विवरण इस प्रकार है:-

वर्त्तं मान स्थिति स्यान समय १. महापुराल<sup>3</sup> ६६५ मान्यखेट मालखेड, (निजाम राज्य) ग्रांध्रप्रदेश

२. जसहर चरिउ४ ६६५-६७२ ,, ३. णायकुमार चरिउ<sup>४</sup> वही ,,

सभी ग्रन्य दिच्एा में लिखे होने के कारए। दिच्छी श्रपभ्रंश से सम्बन्धित रहे।

## भाषा-संबंधी विशेषतार्

## १. ध्वनि-परिवर्तन संबंधी विशेषताएं

घ्वनि परिवर्तन सम्बन्धी विशेषताएं सामान्यतः प्रप-भंश की हैं जिसके म्रादि स्पों के दरान हमकी 'पालि' काल से होने लगते हैं, फिर भी पूप्यदन्त का महत्व इस दृष्टि से विशेष है कि इस काल प्राते-प्राते हों में स्विरता या चुकी थी।

#### १.१ स्वर सम्बन्धी

म, मा, इ, ई, उ, क, ए, मी मादि सामान्यतः स्वर प्राप्त होते हैं।

'ऐ' तथा 'ग्री' के स्थान पर क्रमश: 'ग्रइ' तथा 'ग्रव' इस काल में मिलते हैं:-

ऐ-ग्रइ भैरव - भइरव

विश्रम - विसमड

भवै - भवड

यो-प्रउ हों – हउँ

> – भउँ र्भी

– भउँहा भौहा

घोखलिहि - घडहलिमम, उपतन् रप भी

मिलता है।

स्वरों में प्राय: 'ऋ' या लोप ही गया है, मिपशंशतः इसके स्वान पर 'ई' घीर वही-वहीं 'म', 'ख' घादि स्वर भी विकतित होगये हैं:-

हियय ऋ-इ हृदय **घिष**पुर

**घृतपूर** श्-म शृंधता मंदला

> नुरग् त्तर्ह

- २. डॉ॰ जी॰ वी॰ तगारे-हिन्टोरिकल ग्रामर श्रव श्रपभंग, सन् १८४८, पूना पृष्ट १५-१६।
- ३. महापुरारा-सम्पादक, डॉ॰ पी॰ एल॰ वंद्य, बम्बर्ट्, १६३७-४१।
- ४. जसहर चरित्र सं० डॉ॰ पी॰ एल॰ वैद्य, कारंजा, बरार, सन् १६३६ ई॰।

59

स्वायकुमार चरिज—सं० डॉ० हीरालाल जैन, कारंबा सन् १६३३ ई०।

१. डॉ॰ हरिवंश कोचड़-म्रपम्नंश साहित्य, पृ॰ सं॰, पृष्ठ ३४।

ऋच - रिक्ख

स्वरों में समीकरण तथा विषमीकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है,

विषमीकरण: पुरुष - पुरिस

१.२. व्यंजन-सम्बन्धी

१.२.१ 'श, प' के स्थान पर 'स'

शशि – सित शीर्प – सीसु विदुप – विउस ग्रिभिषेक – ग्रिभिसेय विप – विस

वेष - वेस दिशि - दिसि

विशेष - विसेस

१.२.२ 'र' के स्थान पर 'ल'

'र' ग्रोर 'ल' का परस्पर विषययं तो वैदिक काल से ही चला ग्रा रहा है:—

निहारी – णिहालड भ्रमर – भसलु

दारिद्र - दालिहु १.२.३ घोपीकरण की प्रवृत्ति

. जूट – जूड

१.२.४ 'प' के स्थान पर 'व'

इस प्रवृत्ति की ग्रोर हेमचन्द्र ने भी पर्याप्त घ्यान दिया है। पैशाची की विशेषताएं बताते हुए शालिग्राम उपाध्याय लिखते हैं, 'जिस भाषा में 'प' का या तो लोप हो जाता है या स्वर से परे ग्रसंयुक्त ग्रनादि रहने पर 'व' हो जाया करता है। अतं: पईव (प्रदोप), पावं (पापं), उवमा (उपमा), कलावो (कलापः), कवालं (कपालम्), महिवाले (महिपालः), कविलं (कपिलं) आदि रूप मिलते हैं। चएड ने भी अपने प्राकृत लद्धए में उपमान के लिए 'पिव', इव, विव, विय, व्व, व जहा, वत्' का प्रयोग स्वीकार किया है। पृष्पदन्त के काव्य में इस प्रवृत्ति के दशंन होते हैं,

गोपी - गोवी - गोवि कोऽपि - कोवी - काई भी मिलता है।

१.२.४ मूद्ध न्यीकरण की प्रवृत्ति

एकार बहुला इस भाषा में मूर्ट न्य ध्वनियों का आधिक्य होना स्वाभाविक ही है। इस प्रवृत्ति के कारण बहुत से व्यक्ति तो इन अपभंशों को 'एगड एगड' भाषा कहकर पुकारते हैं। एकार का बाहुत्य आज भी एक और हिन्दी की बांगह, मेरठी आदि बोलियों में दूसरी और आधुनिक आयं भाषाओं—उड़िया, मराठी आदि में परिलक्तित होता है।

१.२.४.१ ए के स्थान पर ए मिलता ही है पर 'न' के स्थान पर भी ए मध्य - भुवन - भुवए

पुनि – पुणि – पुणु

सभी स्थितियों में यह प्रवृत्ति है:— ग्राद्य — गन्दन — एांदए नीरसु — एांरसु नव — एांद

मध्य - महानुभाव - महाणभाव जिननाथ - जिगागाथ

भ्रन्त्य — घन — घण् दीन — दीग्रु

१.२.६ व्यंजन-लोप

प्राकृतों से ही व्यंजन-लोप की प्रवृत्ति वढ़ गई यी जिसमें अपभ्रंश काल तक आते-आते स्थिरता आगई।

१. सालिग्राम उपाध्याय-पैशाची भाषा, भाषा, ग्रंक २, पृष्ठ ६३।

मध्य तथा ग्रह	ध्य सांजय के बो	न की प्रवृत्ति विशेष हेप्टि-	शोभित – सोहिय
गत होती है:-		न परा अपृति ।पराप हाल्ट	सामत – साह्य विच्छोम – विच्छोह
•	ध्य व्यंजन-लो	π	
20.0407.41	-प ०पणग-ला जोगिनि		१.२.१० व्यंजन-गुच्छ तथा व्यंजन-संयोग
	-	– जोइिंग <del>को</del>	१.२.१०.१ दिन्च की प्रवृत्ति
	3	– गो <b>उलु</b> – जउला <sup>:</sup>	दित्त्व की यह प्रवृत्ति पालिकाल से ही प्रारम्भ
	जमुना अतिशय		होगई घी ।
926257		— श्रइसइ	दो भिन्त ध्वनियों के स्थान पर दिन्य
१.२.६.२ व्यंजन-लोप के वाद य-श्रुति का श्रागम			चदेवद्र – चःवद
	२.१ मध्य स्थि।		रिक्त – रित
नगर		<b>ग्</b> यर	शत्रु – सत्तु
		मायंद	भक्ति – भनि
		वयण	रेफ के साथ ध्वनि के स्थान पर दित्य
विवा दिवा		णायर दिवायर	·
ग्रन्त्य- शोक		शीय	दुर्गम – दुग्गम निजैन – ग्लिज्डल
घात		घाय (ध्राज भी घाव रूप	निजंन – गि्रडग् चकवाल – चरकवान
	षेक -	म्रहिसेय भी चलता है।)	
			१.२.१०.२ दो भिन्त ध्वतियों के स्थान पर
ਪਤਾ ਹੈ ਹੈ ਪ	के स्थान एक ह		
	के स्थान पर '		तीसरी ध्वनि
Į	युगल –	जुयल	तीसरी ध्वनि स्त-ध स्तेन - पेण (नोट-सामाग्यत: स्त के
2	पुगल – मशोद <b>–</b>	जुयल जसोय	तीसरी ध्वनि स्त-ध स्तेन - पेण (नोट-सामान्यत: स्त के स्पान पर 'स्य' श
र १.२. <b>=</b> 'ज'	पुगल – पशोद – के स्थान पर	जुयन जसोय ' <b>य'</b>	तीसरी ध्वनि स्त-थ स्तेन - पेण (नोट-सामान्यतः स्त के स्पान पर 'स्य' भी मिनता है जैने, हस्त-
र १.२.⊏ 'ज' [	पुगल – मशोद – केस्थान पर पि निज –	जुयन जसोय 'च' णिय	तीसरी ध्वनि  स्त-ध स्तेन - येण (नोट-सामाग्यत: स्त के स्पान पर 'स्य' भी मिनता है जैने, इस्त-
र १.२.⊏ 'ज' १	पुगल – मशोद – के स्थान पर ' निज – जर्गु –	जुयन जसोय ' <b>च'</b> णिप यगु	तीसरी ध्वनि  स्त-ध स्तेन - पेता (नोट-सामान्यतः स्त के स्पान पर 'स्य' भी मिनता है जैने, हसा- हस्य, हस्ति-हिंग, प्रशस्त-पनत्तु ।)
१.२.≒ 'ज' १.२.≒ 'ज' १.२.६ मह	पुगल – गशोद – के स्थान पर निज – जर्गु – ग्राग् ध्वनियों	जुयन जसोय ' <b>य'</b> णिप यगु	तीसरी ध्वनि स्त-ध स्तेन - पेग्र (नोट-सामाग्यत: स्त के स्थान पर 'स्य' भी मिनता है जैने, हसा- हत्य, हित-हिष, प्रशस्त-परन्तु ।) स्क-ख स्वंघ - संघ
१.२.८ 'ज' १.२.८ मह का रहा जा	पुगल – गशोद – के स्थान पर निज – जर्गु – ग्राग् ध्वनियों	जुयन जसोय ' <b>च'</b> णिप यगु	तीसरी ध्विन  स्त-ध स्तेन - पेण (नोट-सामाग्यत: सन के स्थान पर 'स्य' भी मिनला है जैने, हस्त- हत्य, हिल-हिण, प्रशस्त-पन्तु।)  स्क-ख स्कंप - संध  १.२.१०.३ दो भिन्न ध्विनयों के स्थान पर
१.२.८ 'ज' १.२.८ मह का रहा जा	पुगल – प्रशोद – के स्थान पर निज – जरणु – प्रशिसा ध्वनियों ना	जुयन जसोय 'य' णिय यगु में से केवल महाप्राणस्व मृह	तीसरी ध्वनि स्त-ध स्तेन - पेग्र (नोट-सामाग्यत: स्त के स्थान पर 'स्य' भी मिनता है जैने, हसा- हत्य, हित-हिष, प्रशस्त-परन्तु ।) स्क-ख स्वंघ - संघ
१.२.८ मह का रहा जा ख-ह	पुगल — प्रशोद — के स्थान पर  निज — जिंगा — प्रशिगा ध्यनियों ना पुख — संमुख —	जुयल जसोय 'च' णिय यणु में से केवल महाप्राणस्व मुह संगुहँ	तीसरी ध्विन  स्त-ध स्तेन - पेण (नोट-सामाग्यत: सन के स्थान पर 'स्य' भी मिनला है जैने, हस्त- हत्य, हिल-हिण, प्रशस्त-पन्तु।)  स्क-ख स्कंप - संध  १.२.१०.३ दो भिन्न ध्विनयों के स्थान पर
१.२.८ भह का रहा जा च–ह	पुगल —  ग्राशेद —  के स्थान पर   निज —  जर्गु —  ग्राशाण ध्यनियों  ना  मुख —  संमुख —	जुयल जसोय चि' णिय यगु में से केत्रल महाप्राणस्त्र मुह संमुहँ दोहर, दोह	तीसरी ध्वनि  स्त-ध स्तेन - पेण (नोट-सामाग्यत: स्त के स्थान पर 'स्य' भी मिनला है लेंगे, हस्त-हिंग, हस्ति-हिंग, हस्त-हिंग, हस्त-एल्य, श्रीस्त-एल्य, गो स्क-ख स्वंध - संध  १.२.१०.३ दो भिन्न ध्वनियों के स्थान पर एक ध्वनि का:  अमंत - भमंद्र विद्याम - दोनमह
१.२.८ मह का रहा जा च–ह	पुगल —  प्रशोद —  के स्थान पर   निज —  जर्गु —  प्राण् ध्यनियों  ना  पुख —  संमुख —  रिपं —  मधु —	जुयल जसोय 'य' णिय यगु में से केत्रल महाप्राणस्त्र मुह संपृहें दीहर, दीह मह	तीसरी ध्विन  स्त-ध स्तेन - येण (नोट-सामाग्यत: सन के स्थान पर 'स्य' भी  मिनता है लैंगे, हसा- हत्य, हिस्त-हिण, प्रशस्त-पण्तु।)  स्क-ख स्वंध - संध  १.२.१०.३ दो भिन्न ध्विनयों के स्थान पर एक ध्विन का: अमंत - भगंदु
१.२.८ मह का रहा जा ख-ह घ-ह	पुगल —  ग्राशेद —  के स्थान पर   निज —  जर्गु —  ग्राशाण ध्विनयों  ना  पुख —  संमुख —  श्रिषं —  प्योधर —	जुयल जसोय 'य' णिय यगु में से केत्रल महाप्राणस्त्र मुह संमुहँ दीहर, दीह मह	तीसरी ध्वनि  स्त-ध स्तेन - पेण (नोट-सामाग्यत: स्त के स्थान पर 'स्य' भी मिनला है लेंगे, हस्त-हिंग, हस्ति-हिंग, हस्त-हिंग, हस्त-एल्य, श्रीस्त-एल्य, गो स्क-ख स्वंध - संध  १.२.१०.३ दो भिन्न ध्वनियों के स्थान पर एक ध्वनि का:  अमंत - भमंद्र विद्याम - दोनमह
१.२.८ मह का रहा जाः ख-ह ध-ह	पुगल —  प्रशोद —  के स्थान पर   निज —  जर्गु —  प्राण् ध्वनियों  ना  पुख —  संमुख —  समुख —  प्योधर —  दिप —	जुयल जसोय चि' णिय यणु में से केत्रल महाप्राणत्त्र मुह संगुहँ दीहर, दीह पयोहर दहि	तीसरी ध्विन  स्त-ध स्तेन - येण (नोट-सामाग्यत: स्त के स्पान पर 'स्य' भी मिनला है लेंगे, हसा- हस्य, हस्ति-हिण, प्रशस्त-पण्या।)  स्क-ख स्वंघ - संघ  १.२.१०.३ दो भिन्न ध्विनयों के स्थान पर एक ध्विन का: अमंत - भमंह विधाम - बीनमह प्रिय - सिय
१.२.८ मह का रहा जा ख-ह ध-ह ध-ह	पुगल —  प्रशोद —  के स्थान पर  निज —  जर्गु —  प्राप्प ध्वनियों  ना  पुख —  संमुख —  समुख —  पयोधर —  प्रविध —  प्रविध —  प्रविध —  प्रविध —  प्रविध —  प्रविध —	जुयल जसोय चि' णिय यणु में से केत्रल महाप्राणत्त्र मुह संगृहें दीहर, दीह महु पयोहर दहि	तीसरी ध्वनि  स्त-ध स्तेन - पेण (नोट-सामाग्यतः स्त के स्थान पर 'स्य' धी मिनता है लेंगे, हसा- हस्य, हस्ति-हिण, प्रशल-पण्या।)  स्क-ख स्वंघ - संघ  १.२.१०.३ दो भिन्न ध्वनियों के स्थान पर एक ध्वनि का: अमंत - भगंतु विधाम - बीनमह प्रिय - निय  १.२.१०.४ एक गुन्ह के स्थान पर मर्ग्य। दूसरा गुन्ह:
१.२.८ मह का रहा जा ख-ह प-ह प-ह	पुगल —  प्रशोद —  के स्थान पर   निज —  जर्गु —  प्राण् ध्वनियों  ना  पुख —  संमुख —  समुख —  प्योधर —  दिप —	जुयल जसोय चि' णिम यगु में से केत्रल महाप्राणत्त्र मुह संमुहँ दीहर, दोह महु पयोहर दहि प्रवहेरिय	तीसरी ध्वनि  स्त-ध स्तेन - पेण (नोट-सामाग्यत: सन के स्थान पर 'स्य' भी मिनता है लेंगे, हसा- हस्य, हस्ति-हिण, प्रशस्त-पन्त्यु।)  स्क-ख स्वंध - संध  १.२.१०.३ दो भिन्न ध्वनियों के स्थान पर एक ध्वनि का:  अमंत - भमंदु विश्वाम - दोनमह प्रिय - तिय  १.२.१०.४ एक गुन्सु के स्थान पर मर्गथा

श्रन्य - मुएगु निःस्नेह - णिएगोण (सिगोह रूप भी) ग्रज्ञाने - ग्रएणागो घुष्ट - घुट्ठ गोष्ठे - गोट्ठि -- वच्छर वत्सर

गर्भ - गन्भ स्रभ्यागत - स्रन्भागय

} प्प पूदप – पूर्क

१.२.१०.५ स्वरागम या स्वर भक्ति के कारण गुच्छ दूर जाते हैं:

सिसि (शिर का भी रूप सिरि ही मिलता है) १.२.१०.६ एक ध्वनि के स्थान पर कई गुच्छ

तथा एक ध्वति :

च-{ च्छ कुद्धि - कुच्छि ख द्यीर - खीर (हिन्दी में भी ग्रर्थं-वख रह्मसि - रिव्छिसि भेद से चलता है)

# २. ग्रन्य विशेषताएँ

२.१ उकार बहुला प्रवृत्ति शब्दों के अन्त में उकार की प्रवृत्ति अपभ्रंश की

एक प्रमुख विशेषता है जिसका वाहुल्य आज भी वज-भाषा भें है:---

एक ही पंक्ति में देखिए-उव्बद्ध-जूडु भू-भंग-भीसु,

तोडेप्पिणु चोडहोतण्ड सीसु । 'य' तथा 'व' के स्थान पर भी 'उ' व्यवहृत होता था-

२.२ दसवीं शताब्दी तक ग्राते-ग्राते तद्भव शब्दा-वली के रूप में बहुत कुछ स्थिर हो गये थे जिनसे मिलते-

राव-राउ, ग्रन्याय-प्रएएउ

जुलते रूप वाले राज्य ग्राज भी प्रचुर मात्रा में लोक में प्रचलित हैं। कञ्जु (काज), ग्रन्जु (ग्राज), तुन्कु (तुके),

दीवय (दीवा), तंव (तांवा), मुगा (मूंग), वग्घ (वाघ), मोति (मोती), सोहग्ग- (सुहाग), खेतु (खेत), हित्य

(हाथी) इसके अतिरिक्त घर, भंभा; पहर, खीर, गाम,

दही ग्रादि शब्द तो उस काल में पूर्णतया स्थिर हो गये। म्राज पुन: घर को 'गृह' के रूप लिखने की कुचेव्या हो रही है, जिन रूपों को लोक में प्रचलित होने में २०००

वर्ष लगे क्या उनकों ( उन शब्दों का ) इन प्रयासों से वदला या हटाया जा सकता है।

साथ चल रहे हैं, यद्यपि परिनिष्ठित हिन्दी में उनके तत्सम रूप को ही व्यवहृत किया जा रहा है। दालिइ (र) (दारिद्रय), सामल (श्यामल), उच्छव (उत्सव), पोत्ध्य-पोथी (पुस्तक), थएा (स्तन), हेट्ठ (हेठा)। 🌅 इसके ग्रतिरिक्त घल्लइ, चक्खइ, चडइ, चडाविइ,

२.३ कुछ शब्द लोक-भाषाग्रों में पर्याप्त ग्रावृत्ति के

भंपइ, भुल्लइ, ढलइ, ढंकइ, बुड्डइ, मुक्कइ, संगइ, सल्लइ, ग्रादि सहस्रों कियाएँ तथा कसेरु कुंड, सुरेप्प, सील्ल, घियपूर, चोडज, छिक्रटोप्पी, पेल्लिय, पोट्टल, बोहित्य, मेलग्र, रंडी, लुक्कग्रादि सहस्रों ग्रन्य प्रकार के

मुलइ, छिज्जइ, छंडइ, छिवइ, जेंबइ, बोबर्बइ. भडप्पइ,

शब्द भी पुष्पदन्त के काव्य में मिलते है जिनसे मिलते-जुलते शब्दों का ग्राज हम प्रयोग करते हैं।

२.४ कुछ विशिष्ट शब्द भी मिलते हैं जिनका प्रयोग म्राज हिन्दी में प्रचलित नहीं है: रिछोलि (पक्ति), गोंदलिय (चींवता), घम्मेल्ल (जूडा), बिट्टलंड (मलिन), संढे (नपुंसक), चंगा (ग्रच्छा), हुक्कु (प्रविष्ट हुग्रा), सुट्ठ (ग्रन्छा), ग्रव्भंगिय (मालिश), विसंठुल (ग्रस्तव्यस्त), विभिन्न (विस्मय), म्रादि । पर इन शन्दों में कुछ शन्द

जैसे चंगा, सुट्ठा ब्रादि ब्राज भी ब्रन्य ब्राघुनिक भारतीय म्रार्यं भाषाम्रों-पंजाबी, सिधी म्रादि में प्रचलित हैं। 'घम्मिल' ग्रादि शब्द का प्रयोग तो जायसी में भी मिलता है।

१. चन्द्रभान रावत—उकार बकषा त्रज भाषा—भारतीय साहित्य, सन् १९५६।

२.५ अपभंश की एक सबसे प्रमुख प्रवृत्ति है ध्वन्या त्मक शब्दों का प्रयोग । भावानुकूल शब्द-योजना के लिए इससे अच्छा ग्रीर कोई ग्रन्य सावन नहीं मिल सकता।

कुक्कुरंति, गुमगुमंति, घुरुहरंत, करकरियहँ, रण-रणिउँ, चुमचुमति, स्णुरुणिउँ, घगघगघगंति, घण फुक्फुवंत, कढकढंतु ग्रादि सहस्रों शन्द भरे पढ़े हैं। गोवदंन-घारण का एक चित्र देखिए:—

जलु गलइ, भलभनइ, दिर भरइ, सिर सरइ। तद्म्यडइ, तिंड पृडइ। गिरि फुडइ, सिहिणडइ। मरु चलइ, तरु घुलइ, जलु थलु'वि गोउलु'वि। णिरु रसिउ, भय तिसउ, थरहरइ, किरमरइ॥ एक ग्रीर चित्र देखिये:—

पडु तिंड विज्ञण पिंडिय वियडायल कं जिय सीह दाक्णो, गिरि सिर दिर संरत सरसर भय वाण्रसुवकणीसणो।

शब्द-योजना से एक प्रकार की ऐमी ध्विन निकलती -सी प्रतीत हो रही है जैसे वादलों के श्रनवरत शब्द से समस्त ग्राकाश भरा हुश्रा है। कहीं-कहीं तो इस प्रकार के शब्दों की ऋड़ी-सी लग जाती है,

तड-तड-तड-तड-तटतिय सिंगु। २.६ वित्रोपमता।

ध्वन्याश्मक शन्दावली से ग्रथवा पद-योजना से कवि मुख ऐसे वर्णन प्रस्नुत करता है कि एक चित्र खिच जाता है,

> जलिएहिव भलभन्द । विसहरुवि चलचलइ ।

एक भीर चित्र देखिए-

घोट्टइ खीरं, लोट्टइ ग्रीरं। भंजइ कुमं, मे'लइ डिमं। छंडइ महियं, चक्छइ दिहयं, कड्टझ चिञ्चि, घरड चर्ण घ। क्रिया व्यापारों की भीड़भाड़ से—

> लुंचराई संवराई कुचराई लुट्राई । कुट्ठराई घट्टराई बट्टराई पडलराई पीलराई हूनराई चालराई । तलराई दलराइ मनराई निल्लाई।

कहीं कोमल कांत पदावली की संयोजना ने— पर पय-रय-धूमर किंकर सरि।

जसहर चरित की मापा पर विचार-विमर्श गरने हुये डॉ॰ कोछड़ लिखते ईं भावोद्रेक की हुटि में भावती-वता ग्रंथ में मन्द है किन्तु भाषा वेगवती है। पदि लो कुछ कहना चाहता है तदनुकून शब्द योजना कर सदा है।

> तोडइ तडित तणु बंघण्यं। मोडइ कडित हट्टइं घण्टं। फाडड चडित चम्मटं चल्टं। घुट्टइ घडित तोिण्य जन्हं।

इसमें देखिये भिन्न-भिन्न शन्द-योजना द्वारा रारीर की प्रनियमों ना तड़ से टूटना, हिट्डियों ना कड़-१ड पर मुड़ना, चमड़े का चर्र ने प्रनग हो जाना, गून पा घट-घट पी जाना क्तिने उपयुक्त शब्द हैं।

इस प्रकार अनुरमात्मक शहरों की योजना में पुष्पदन्त जैसा सिद्धहरत कवि हमनो समस्य तिन्दी गातिय में कोई दूसरा नहीं हिट्यत होता है, यत प्रवृत्ति भाषा को प्राम्यवान् बनाती है, प्राप्तिक माल में स्थायाद में आकर पुतः इस ग्रोर विद्यों ने ध्यान दिया।

पुनरक्ति द्वारा भी कवि ने चित्र उपस्थित गरने गी चेप्टा की है। इस विधि से उन्हों एक मोर भाषा में देग आया है वहां दूसरी घोर वल प्रयुक्त हुमा है।

> मागुम-मरीग युह-योहुनड । घाषेड घाषेड घट-विहुनड । वानिड वानिड एड मुर्गिमहु। पोनिड पोनिड घाड घरद चनु। तोनिड तोनिड एड घरपणड । मोनिड मोनिड घरमायणाड । मूनिड भूषिड ए। गृहादगाड । मंचिड मण्डि मोग्यगाड ।

## ३. मुहावरे तथा लोकोन्तियां

पुरवस्त की भाषा गानीक सामा है जिस्से सीकी तियो, मुनावनी प्रादि के सम्बन् अभीत के अपन्य करा हुमा है। साम ही प्राये में सामीयें भीत प्रायवीत-पारित्य पृष्ठ १२ में डा॰ कीछड़ ने इस प्रकार की लोकोक्तियों का संग्रह किया भी है। ग्राज ग्रावश्यकता इस बात की है कि समस्त साहित्य से इस प्रकार का संग्रह किया जाय कुछ उदाहरण देखिए।

मुवक छ छ ए यं बहु सार में छ (पूरिएमा चन्द्र पर कुत्ता भों के उसका क्या विगाड़ेगा)

उट्ठाविं सुत्त सी हु के ए ।

(सोते सिंह को किसने जगाया)

माए भंगु वर मरखु एग जीविंउ

(प्रमानित होने पर जीवित रहने से मृत्यु भली)

को तं पुसए एिडालइ लिहिय छ

(मस्तक में लिखे को कौन पोंछ सकता है)

भरियं पुर्गु रित्त ड होई राय

(भरा खाली होगा)

लूयां सुत्ते वज्भ इ मसंड एग हित्य एिक्ज्म इ ।

(मक्डी के जाल सूत्र से मच्छर तो बांघा जा सकता है प्रधिक नहीं रोका जा सकता है)

खगों मेहें कि एिरजेल एग, तहस्या रसरेग कि एिप्फलेगा।

(पानी रहित मेघ से फ्रीर खड्ग से क्या लाभ )

#### ४. ग्रलंकारमयी भाषा

भाषा में अनुप्रास, यमक, श्लेष, रूपक, उत्प्रेदा आदि अलंकार प्रचुर रूप में व्याप्त हैं जिससे काव्य का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठा है। एक उत्प्रेदा दृष्टव्य है।

विज्जुलियए कंचुलियए मूमियदेहए सुरघुणु घाणभालए एवं वालए किउ विचितु उप्परियणु ।

विद्युत रूपी कंचुकी से भूषित देहवाली घनमाला रूपी वाला ने मानो सुरघुन रूपी उपरितन वस्त्र घारण किया हो।

इस प्रकार भाषा को सजीव तथा सप्राण साथ ही प्रवाहमयी घारा का रूप प्रदान करने वाले सभी तत्व पुष्पदन्त की भाषा में विद्यमान थे। एक ग्रोर उसकी भाषा में संस्कृत की समास शैली जिसमें ग्रलंकारों का वाहुल्य, शब्दों वा चमत्कार होने से विलय्दता ग्रा गई है तो दूसरी ग्रोर सरल प्रवाहमय भाषा के प्रयोग से जनसाधारण के ग्रधिक निकट होने का गुण भी उसमें विद्यम्मान है। यही भाषा लोक—भाषा है जिसमें लोक में प्रचलित मुहावरे तथा लोकोक्तियां विना प्रयास चले आते हैं ग्रीर ग्राज की हिन्दी का विकास भी इसी लोक—प्रचलित भाषा के स्वरूप से हुगा है।

#### मांगीलाल मिश्र व्याकरणाचार्य

# जैन व्याकरण साहित्य

## देवनन्दिका ''जैनेन्द्र व्याकरण''

म्म ग्वनीय कर्ता बोपदेव में जिन ग्राठ-"इन्द्रशचन्द्रः— 🥌 काशकुरस्नानामिशली शाक्तटायनाः। पाणिन्यमर जैनेन्द्रा जयन्त्यस्टी चशाव्दिकाः" वैयाकरणों के नामों का उल्लेख किया है- इनमें एक जैनेन्द्र भी है। प्रारम्भ में यह सन्दिग्व था, कि ऐन्द्र ग्रीर जैनेन्द्र एक ही व्याकरण के दो नाम हैं। डार्ज कीलहाने ने कल्पसूत्र की समय सुँन्दरकृत टीका श्रीर लद्दमीवल्लभकृत उपदेशमाला कांगिका के उद्धरण-"यदिन्द्राय जिनेन्द्रेग कौमारेऽपि निरुवितम । ऐन्द्र जैनेन्द्रमिति तत् प्राहुः शब्दानुशासनम" के श्राधार पर इसे जिन देव द्वारा इन्द्र के लिये कहा बतलाया। एक ऐसा ही प्रसंग है कल्पसूत्र की दिनय-विजयकृत सुवोधिनी टीका में । परन्तु हम प्रेमीजी की इस माग्यता को स्वीकार करते हैं, कि ऐन्द्र श्रीर जैनेन्द्र व्याकरण मलग-मनग थे तथा जैनेन्द्र के कर्ता देवनन्दि या पूज्यपाद थे (देखिए-जैन साहित्य ग्रीर इतिहास, पृ० २५-२६)।

#### पूज्यपादका समय---

न्याचार्य देवनन्दि के कांल के विषय में ऐतिहासिकों का परस्पर वैमत्य है। कीच प्रपने "हिस्ट्री प्राफ पना-सिकल संस्कृत लिटरेचर" में लिखता है, कि—"The जैनेन्द्र व्याकरण ascribed to the Jinendra really written by पूज्यपाद देवनन्दि perhaps was composed c. 678. p. 482 ( जैनेन्द्र व्याकरण सन् ६७= ई. के समीप लिखा गया)।

श्री श्रेमीजी ने धनेक प्रमामा उपस्पित करने देवनन्दि का काल सामान्यतया विश्वम की छठी शताब्दी निश्चित किया है। देशिए-जैन माहिस्य तथा इतिहास देव निद्का जैनेन्द्र व्याकरण् श्रीर श्राचार्य हेमचन्द्र का व्याकरण् प्रमुखं प्रथ हैं। प्रस्तुत लेख में लेखक ने इन व्याकरणों एवं इनके लेखकों के जीवन पर गवेपणा पृर्ण प्रकाश हाला है।

पृ० २४-२६) श्री आई. एम. पवते ने मपने 'स्ट्रक्षर आफ दी छट्टाच्यायी' में लिखा है ''महामहोताच्याय नर्रासहाचार्य ने कर्णाटक कवि चरित के प्रथम भाग के प्रथम संस्करण में पूज्यवाद की ई. सन् ४७० (५२७ वि०) में बताया है और टूनरे संस्करण में ६०० ई. (६५७ वि.) का"।,

श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने मपने "ब्याकरण शास्त्र के इतिहास में प्रेमीजी हारा उद्गृत प्रमाणों के प्रायाद पर श्रावार्य पूज्यपाद काल विक्रम की पष्ठ शास्त्रों का पूर्वार्य माना पा, पर शत्र में जूनन प्रमाणों के प्रकाश के इसे ठीक न् मान पूज्यपाद का काल प्रियक में मिषक विक्रम की भूबी शताब्दि के चनुर्य चरण् में पष्ठ शास्त्री के प्रयम चरण् तक मानते हैं, इतके पश्चाप् नहीं (देलिए उनका लेख- जैनेन्द्र महावृत्ति-भारतीय कान चीठ प्रकारत पृष्ठ ४३-४४)।

जैनेन्द्र की टीकाएं-

पूज्यवादपृत भगली जैनेन्द्र की समुनातक केंद्रज ४ टीवाएं ही उपलब्द हैं:—

- १. समयनन्दित्र महादृष्टि
- २. प्रमायक्ट्रा शस्त्रामीत माम्यस्यात,
- इ. मृत्रकीरिष्ट्रा पंचयरनुक्षीनचा धोर.
- ४. वं. यहाबद्धाः समुद्रेतेदः ।

परन्तु इनके ग्रतिरिक्त ग्रीर टीकाग्रों का होना भी संभव है।

## जैनेन्द्रोक्त ग्रन्य ग्राचार्य-

जैनेन्द्र के सूत्रों में नीचे लिखे पूर्वाचार्यों उल्लेख है:---

- १. राट् भूतवले (३, ४, ६३),
- २. गुरो श्रीदत्तस्य स्त्रियाम् (१,४,३४),
- ३. कुवृषिमृजां यशोभद्रस्य (२,१,६८),
- ४. रात्रे: कृति प्रभाचन्द्रस्य ( ४, ३, १८० ),
- ५. वेत्ते: सिद्धसेनस्य (५,१,७),
- ६. चतुप्टयं समन्तभद्रस्य (५,४,१४०)

प्रेमीजी के मतानुसार इन छहों ग्राचार्यों में से शायद किसी ने भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं लिखा है। परन्तु संभव है-इन ग्राचार्यों के भी व्याकरण ग्रन्थ रहे हों--जो अन्य भारतीय साहित्य की तरह लुप्त या नष्ट होगए हों।

#### उपलब्ध ग्रन्थ-

श्री नाथूरामजी प्रेमी ने अपने लेख में आचार्य पूज्य-पाद के निम्न ग्रन्थों का उल्लेख किया है:-

१. सर्वार्थं सिद्धि, २. समाघि तन्त्र, ३. इष्टोपदेश. ४. दशभक्ति ग्रीर ५. सिद्धित्रय स्तोत्र।

#### म्रनुपलब्ध, परन्तु ज्ञात ग्रन्थ-

१. शब्दावतार न्यास, २. जैनेन्द्र न्यास, ३, वैधक ग्रन्य, ४. सार संग्रह, ५. जैनाभिषेक । श्री यूधिष्ठिरजी मीमांसक के मत में श्राचार्य ने छन्द:शास्त्र पर भी कोई ग्रन्य लिखा था । इसकी सूचना श्रवणवेलगोला के ४० वें शिलालेख के चौथे श्लोक में तृतीय चरण के "छन्दः" पद से मिलती है। प्रेमीजी से इसका संकेत रह गया प्रतीत होता हैं।

इस प्रकार ग्राचार्यं पूज्यपाद के व्याकरण के ग्रंतिरिक्त उपलब्ध ग्रीर ग्रन्लपन्ध ग्रंथों की संख्या १० हो जाती है।

## उपसंहार-

इस प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण उस शृंखला की पहली कड़ी है जिसमें गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक उत्तरोतर नये नये व्याकरणों की रचना होती चली गई। जैनेन्द्र ने भी अन्य वैयाकरणों की तरह पाणिनीय व्याकरण की मूल सामग्री का ग्रवलम्यन लिया है। जैनेन्द्र ने पाणिनीय सामग्री की प्राय: ग्रविकल रक्ता की है। वे प्रकरण, जो अपने युग के लिए अनावश्यक थे, छोड़ दिए गए।

विख्यात वैयाकरण पाल्य कीति शाकटायन

शाकटायन नाम के एक बहुत प्राचीन ऋषि हो गए हैं, जिनके मत का उल्लेख अपनी श्रष्टाध्यायी में पाणिनि ने किया है। ऋग्वेदप्रातिशास्य (१, ३, १३, १६) ग्रीर शुक्लयजुर्वेद के प्रातिशाख्य (३, ५) में तथा यास्क के निरुक्त (१,३,१२) में भी इनका उल्लेख है। इनका समय लगभग १ हजार वर्ष ई० पूर्व अनुमानित किया गया है। ( डा॰ श्रीपाद कृष्ण वेलवलकर, "हिस्ट्री म्राव् ग्रामर") । काशिका का "ग्रनुशाकटायनं वैयाकरणः" उदाहरण इनकी शिखरस्थित स्याति का परिचायक है, जब कि पाणिनि उस समय विकासोन्मुख वैयाकरण रहे होंगे। इस प्रकार इन शाकटायन का कोई व्याकरण ग्रन्थ ग्रवश्य था, जो ग्रव ग्रप्राप्य है।

परन्तू जिन वैयाकरण शाकटायन का हमारे प्रस्तुत लेख से सम्बन्ध है, वे उपर्युक्त शाकटायन ऋषि से भिन्न' एक जैन वैयाकरण थे स्रीर इनका काल ६ वीं या प वी शताब्दी (ई०) है। # इनका वास्तविक नाम पाल्य-कीर्ति था। वादिराज सूरि के पार्श्वनाथचरित मे इन्हें-''कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तिर्महोजसः।

श्रीपदश्रवर्णं यस्य शन्दिकान् कुरुते जकान् ॥

इस प्रकार स्मरमा किया गया है। संभवत: एक बहुत बड़े वैयाकरण होने के कारण फिर लोग इन्हें 'शाकटायन'' नाम से पुकारने लगे हैं — जैसे विश्वकवि कालिदास के वाद और भी कई कालिदास किव हो गए हैं।

क्ष पं. युधिष्ठिर मीमांसक के मतानुसार इनका समय वि० सं० ८७१-६२४ तक है। देखें उनका ''व्याकरण शास्त्र का इतिहास।"

## रचनाएं-

ग्रधुना शाकटायन की ३ रचनाएं मिलती हैं— १. शब्दानुशासन का मूल सूत्र पाठ । २. उसकी ग्रमो-घवृति ग्रीर ३. स्त्रीमुक्ति, केवल मुक्ति प्रकरण । संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् राजशेखर ने ग्रपनी काव्य मीमांसा में 'ययातथा वाऽस्तु वस्तुनों रूपं दक्तुप्रकृति-विशेपायता तु रसवता । तथा च यमर्थ रक्तः स्तीति तं विरक्तो विनिद्दित मध्यस्यस्तु तत्रोदास्ते-इति पाल्य-कीति:—'' इस प्रकार उद्दृत किया, जो इस ग्रोर संकेत दे रहा है कि इनकी कोई साहित्यिक रचना भी थी पर ग्राज नहीं मिल रही ।

## टोकाएं

शाकटायन के शब्दानुशासन पर १. अमोघवृति, २. शाकटायन न्यास, ३. चिन्तामिए टीका, ४. मिए- प्रकाशिका, ४. प्रक्रिया-संग्रह, ६. शाकटायन टीका तथा ७. रूपसिद्धि टीकाए उपलब्ध व प्रकाशित हैं। पूर्ववर्ती ग्राचार्य-

शाकटायन ने अपनी पूर्व गुरु परम्परा का कोई उल्लेख नहीं किया है, यहां तक कि अपने गुरु का नाम भी नहीं दिया है। शाकटायन सूत्रपाठ में इन्द्र सिद्धनन्दि और आर्यवज्र इन तीन आचार्यों के मतों का उल्लेख है। आचार्य हेमचन्द्र श्रोर उनका ट्याकरण

निरुक्तकार यास्का चार्य प्रसंगवशात् ग्राचार्य शब्द का निर्वाचन करते हुए कहते हैं कि "ग्राचार्यकस्मात् ? माचार्य ग्राचार प्राहयित, ग्राचिनोतमशान्, ग्राचिनोति दुद्धिमितिवा (ग्र०१-४) (ग्राचार्य क्यों ?-ग्राचार्य ग्राचार ग्रहण करवाता है ग्रयचा ग्राचार्य ग्रयों की वृद्धि करता है या वुद्धि बढाता है)" भाषा शास्त्र की हिंदि से ये व्युत्पत्तियां सत्य हों या न हों परन्तु ग्राचार्य के तीनों धर्मों का इसमें समावेश होता दिखाई देता है। ग्राधुनिक परिभाषा में यों भी कहा जा सकता है—ग्राचार्य शिष्य वर्ग को शिष्टाचार तथा सद्वर्तन सिखाता है; विचारों की वृद्धि करता है ग्रर्थात् चरित्र तथा वृद्धि का जो विकास कराने में सहायक हो-वह ग्राचार्य। इस ग्रयं या परिभाषा में श्री हेमचन्द्र गुजंर (गुजरात) प्रदेश के एक प्रवान

भ्राचार्य हुए यह बात जनके जीवन कार्य का भीर लोक में उसके परिखाम का इतिहास देखने से स्पष्ट होती है।

जिस देश-काल में आचार्य हेमचन्द्र का जीवन कृतार्य हुआ, वह एक और तो जनकी शक्तियों की पूरी कसीटी करे ऐसा था और दूसरी और जन शक्तियों की प्रयट होने में पूरा अवकाश देने वाला था।

गुर्जर के अग्राहिल्लपुर पाटन के अभ्युद्य की परा-काष्ठा जयसिंह सिद्वराज (वि. सं. ११५०:११६६) और कुमारपाल (वि. सं, ११६६-१२२६ के समय में दिखाई दी और पौनी शताब्दी से अधिक काल (ई० सं० १०६४-११७३ तक स्थिर रही। आचार्य हेमचंद्र का आयुष्काल इस युग में था, उन्हें इस संस्कार और समृद्धि का लाभ प्राप्त हुमा था। उस युग में विद्या तथा कला को जो उत्तेजन मिला था, उससे हेमचंद्र को विद्यान होने के साधन सुलभ हुए होंगे, पर उनमे अग्रेसर होने के लिए असावारण बुद्धि कौशल दिखाना पड़ा होगा।

प्रभावक चरित्र के अनुसार प्राचार्य की जन्म तिथि वि. सं. ११४५ की कार्त्तिक पूर्णिमा है। इसके बाद के अन्य सभी ग्रंथ यही तिथि देते हैं।

सोमप्रभ सूरि के कथनानुसार ''उस सोममृंह— सौम्यमुख का नाम सोमचन्द्र रखा गया। हेम जैसी देह की कान्ति थी और चन्द्र की तरह लोगों को धानन्द देने वाला था, इसलिए वह 'हेमचंद्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सोमचन्द्र को २१ वर्ष की श्रायु में वि. सं. ११६६ (ई,-१११०) में सूरिपद मिला । इस समय से यह हिमसंद्र के नाम से प्रसिद्घ हुग्रा ।

कुमार पाल प्रतिवोध के अनुसार सूरिपद का महोत्तद नागपुर (नागौर-मारवाड़ में हुन्ना) । इतनी सन्तानु में इतने महत्व का स्थान हेमचद्र को दिया गया यह समका-लीनों पर पड़े हुए उनके प्रभाव का प्रतीक है ।

प्रभावक चरित के अनुसार सोमचंद्र को (कालावं होने से पूर्व) तक, लक्षण और साहित्य पर श्रीप्रका से प्रभुत्व प्राप्त हुआ था और 'शहसहस्तप्य' की कारणा शक्ति से उसे सन्तोप न हुया। इसलिए 'कासीर देश वासिनी' की आराधना करने के लिए कश्मीर जाने की अनुमित गुह से मांगी, पर उन्हें कश्मीर जाना न पड़ा । इस कयन से तथा इसके अतिरिक्त "काव्यानुशासन" में हेमचन्द्र जिस बहुमान से आचार्य अभिनव गुप्त का उन्लेख करते हैं वह भी उनका काश्मीरी पंडितों के साथ गाढ़ विद्यापरिचय सूचित करता है ।

हेमचंद्र का जयसिंह से साथ कव हुगा इत्यादि निश्चित रूप से जानने के लिए कोई सायन नहीं। प्रभा-वक चित्त ग्रीर प्रवन्ध चिंतामिण के अनुसार कुमुदचंद्र के साय शास्त्रार्थ के समय हेमचंद्र उनस्थित थे (वि. सं. ११८१ (११२५ ई.)। उस समय वे ३१ वर्ष के होगे ग्रीर ग्राचार्य पद मिले एक दशक बीत चुका होगा।

सिद्यराज जयसिंह का मालवी की अन्तिम विजय के समय भिन्न २ सम्प्रदायों के प्रतिनिधि उसे ग्रभिनंदन देने ग्राए । उस समय जैन सम्प्रदाय के प्रतिनिधि के रूप में हेमचन्द्र ने स्वागत किया था । उस प्रसंग का उनका श्लोक—

''भूमि कामगवि । स्वगोमयरसैरासिन्व रत्नाकरा, भुक्ता स्यस्तिक मातनुष्यमुहुप त्व पूर्णकुम्भी भव ।

मृत्वा कल्पतरोदंलानि सरलेदिग्वारणास्तोरणा—
न्यायस्त स्वकरैविजित्य जगती नन्वेति सिद्धाधिपः ॥—

(प्रभावक चरित पृ-३००) प्रसिद्व है। यह घटना वि. स. ११६१-६२ में घटित हुई होगी। उस समय हेमचद्र की स्रायु ४६-४७ वर्ष की होगी।

इण्टदेव की उपासना में जयसिंह कट्टर शैव ही रहा, परन्तु ऐसा मानने का कारण है, कि धर्म विचारण के समय में सारग्रहण करने की उदार विवेकवुद्धि से हेमचन्द्र की चर्चाएं होती होंगी और बहुत सम्भव है कि इधर धर्मों पर ग्राचेप किए विना ही उन्होंने जैनधमं के सिद्धान्तों को समभा कर जयसिंह को उनमें 'ग्रनुरक्त मनवाला' किया हो।

यह 'सर्वदर्शन मान्यता' की हिष्ट साम्प्रदायिक चातुरी थी--जैसा कि डा. ब्युल्हर मानते हैं प्रथवा सारप्रही विवेक बुद्धि में से परिणित थी-- इसका निर्णय करने का कोई वाध्य साधन नही है।

\_ प्रभावक चरित के अनुसार हेमचन्द्र वि. १२२६ में प्रथ वर्ष की आयु में दिगंगत हुए।

हेमचन्द्र के शब्दानुशासन, काव्यानुशासन, छन्दोनु-शासन, श्रिभधान चिन्तामिण श्रीर देशीनाममाला-इन ग्रंथों में जस विषय की तत्काल तक उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री का संग्रह हुग्रा है। ये सब तत्तद् विषय के आकर ग्रंथ हैं। मूल सूत्रों तथा उस पर की स्वोपन्न टीका में प्रत्येक व्यक्ति को तद्विषयक सभी ज्ञातव्य विषय मिल सकते हैं। इस प्रकार ग्रा. हेमचंद्र ने तर्क, लक्षण श्रीर साहित्य में पाण्डित्य प्राप्त करने के साधन देकर सरस्वती के घर को स्वावलम्बी बनाया।

्द्र्याश्रय-संस्कृत एवं प्राकृत काव्य का उद्देश्य भी पठन-पाठन है। इन ग्रंथों की प्रवृत्ति व्याकरण सिखाना ग्रौर राजवंश का इतिहास कहना इन दो उद्देश्यों की सिद्धि के लिए है।

प्रमाण मीमांसा-नामक अपूर्ण उपलब्ध ग्रंथ में प्रमाण चर्चा है। त्रिमिट्टशला का पुरुप चरित तो एक विशाल पुराण है। हेमचन्द्र की विशाल प्रतिभा को जानने के लिए इस पुराण का अभ्यास ग्रावश्यक है।

उसका परिशिष्ट पर्व भारत के प्राचीन इतिहासकी गवेषसा में अस्यपादेय है।

योगशास्त्र में जैन दर्शन के ध्येय के साथ योग की प्रक्रिया के समन्वय का समर्थ प्रयास है। हेमचन्द्र को योग का स्वानुभव था-ऐसा उनके कथन से ही प्रतीत होता है।

द्वर्गत्रशिकाएं तथा स्तोत्र-साहित्यिक दृष्टि से हेमचन्द्र की उत्तम कृतियां हैं। इस प्रकार भारत के साहित्य के इतिहास में हेमचन्द्र का स्थान महान् वैयाकरण व पंडितों की पंक्ति में है। उनका शब्दानुशासन १३ वीं शताब्दी की ग्रमर रचना है।

अर्वाचीन तेरह पंथी व्याकरण-साहित्य

तेरह पंथ के ग्राचार्य भिन्नु की शिष्य परम्परा में विद्वान मुनि चौथमल्ल ने पहले ग्राचार्य भिन्नु के नाम पर "भिन्नु शब्दानुशासन नामक विशाल ग्रन्थ का प्रण्यन किया, जो संस्कृत भाषा की विशाल परिधि में अवस्थित भाषा विज्ञान सम्बन्धी हिन्दिकी शों का विश्लेषण करता है। आगे चल कर इसी वैयाकरण ने संस्कृत-व्याकरण के नियमों को सरल बनाने के प्रसंग में –कालुकी मुदी – अपने गुरु तेरह पन्य के अष्टम आचार्य – कालुराम – के नाम पर – का निर्माण किया, जो उपयोगी सामयिक रचना है।

संस्कृत में लिखी गई एक नई संस्कृत-च्याकरण का इस तथ्य की ग्रोर संकेत करता है, कि संस्कृत लेटिन ग्रोर ग्रीक की तरह "मृतभाषा" नहीं है। ग्रधुना ग्राचार्य तुनसी (नवम ग्राचार्य) इन विचार-घारा के साथ, कि, संस्कृत वा महत्व नेवल एमनिए नहीं कि वह प्रावेशिक भाषाग्रों का उद्गम है ग्रीर न इसीलिए, कि वह ग्रुग ग्रुग पर्यन्त राष्ट्र—शोदन में ऐका-शक्ति का संचार करने वाली है, परन्तु एमलिए है, कि उसमें ज्ञान तथा विचारों की वह निधि है, तो हेण. गंपणं ग्रीर हिसा द्वारा विश्वां खिलत संचार के निए धामिक ग्रीर ग्राध्यात्मिक मूल्यों वा पुनः संस्थापन कर सकते हैं। "संस्कृत विद्या के प्रसार के लिए यलकील है।

निम्न महाशय ने जैतपुर विराजमान लीवडी सम्प्रदाय के महाराज श्रीलवजी स्वामी से भेंद्र की। श्रापने महाराज श्री के साथ जैन रिलीजन सम्बन्धी चर्चा पीन घन्दे तक की, श्राखिर में श्रापने जैन मुनियों के पारमाधिक जीवन श्रोर त्याग धर्म की योग्य प्रशंसा की श्रीर पीछे से पत्र द्वारा श्रपना सन्तोप जाहिर किया। इसमें बहुत तारीफ करने के साथ समयाभाव से श्रपृरा विषय होड़ना पड़ा इसका श्रफसोस जाहिर किया।

जैन वर्तमान १४ जून १६१२ हैं से —मि० एवं डब्वबू बर्धन सं० एटेंड वासुदेव सिंह,

व्यध्यत्त हिन्दी विभाग त्रार. एम. पी., डिग्री कालेज, सीतापुर (यू. पी.)

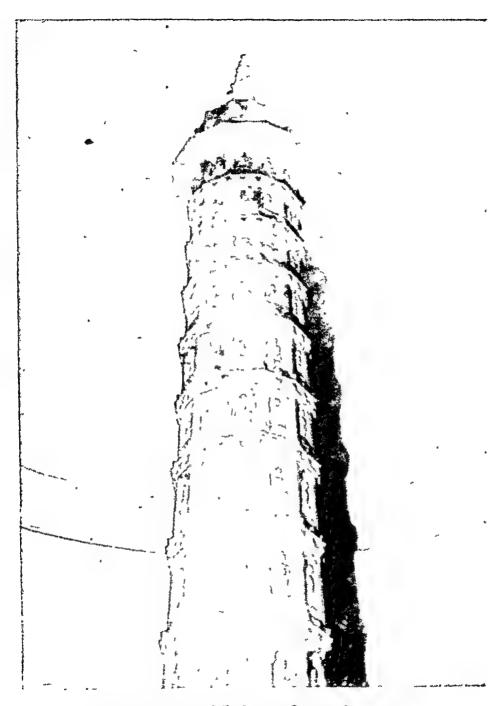
## जैनों का रहस्यवाद

द्भादि काल से मानव विश्व के रहस्य की जानने के लिए प्रयत्नशील रहा है। सामान्यतया व्यक्ति प्रत्येक बस्तू को अपने बौद्धिक मापदएड से आंकना चाहता है। किन्तु मनुष्य का अनुभव वतलाता है कि वौद्धिक विवेचन में ही मानव जीवन की चरितार्थता नहीं है। ''ग्रीर भी गहराई में कुछ ग्रीर है, जो उपरले स्तर के ग्रावरणों से भिन्न है। वह न तो इन्द्रियार्थों की प्राप्ति से संतुष्ट होता है, न मानसिक स्तर की तृष्ति से ग्राश्वस्त होता है ग्रीर न बीदिक विश्लेपण से परितृप्त होता है। उसकी प्यास कुछ ग्रीर ही तरह की है।" रस पिपासा की शान्ति न तर्क से हो सकती है, न मन से न इन्द्रियों से श्रीर न विश्लेपएगत्मक प्रवृत्ति से । इनसे भी परे एक सत्ता है, जिसे हम श्राघ्यात्म सत्ता कह सकते हैं। जब हमारी समस्त शक्तियां ग्रसामर्थ्यं प्रकट करती हैं, जब हमारा ऐन्द्रिय-व्यापार नैराश्योनमुख होने लगता है, तब हम ग्राध्यातम-सत्ता ग्रय्वा ग्रन्तर्ज्ञान के ही सहारे विश्व-रहस्य को खोलने में समर्थ होते हैं। वर्टेएड रसेल नामक प्रमुख दार्शनिक ने इसी तथ्य की स्रोर संकेत करते हुए लिखा है कि 'प्रकाश के चण का प्रथम और प्रत्यच परिलाम ज्ञान के एक ऐसे मार्ग की संभवता में विश्वास है, जिसे देवीज्ञान, परिज्ञान या ग्रन्तर्ज्ञान कहा जा सकता

जैन दर्शन में रहस्यवाद के तत्व, श्रारम्भ से ही श्रा गए थे। श्रीर यदि सूच्म रूप से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि जैन धर्म के श्राधिष्ठाता चौवीस तीर्थंकर संसार के श्रमुखदर्शियों में थे। उनका जीवन चरित, उनका रहन सहन, उनका दैनिक श्राचरण इस दिशा में विशेप रूप से ट्रष्टव्य है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने जैन साहित्य में रहस्यवाद पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

है, ग्रीर जो इन्द्रियज्ञान, तकं ग्रीर विश्लेपण से भिन्न है। 'र प्राचीन तत्वहप्टा ऋषि ग्रीर वेदान्ती भी इसी शक्ति ग्रयवा वृत्ति के ग्रस्तित्व की घोपणा प्राचीन काल से करते ग्रा रहे हैं। इसे वे साद्यात् ज्ञान, ग्रनुभवज्ञान ग्रयवा ग्रपरोद्यानुभूति कहते हैं। उपनिपदों में ग्रनेक स्थानों पर ग्राता है कि वह परमतत्व ग्राध्यात्म—योग ग्रयवा सहजानुभूति के द्वारा ही ज्ञातच्य है। मुएडकोप-निपद् के ग्रनुसार ब्रह्म न ग्रांखों से, न वचनों से, न तप से ग्रीर न कमं से गृहीत होता है।

- १. प्रो. रामपूजन तिवाड़ी—सूफीमत साधना ग्रीर साहित्य की भूमिका लेखक ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ. ग
- 7. The first and most direct outcome of the moment of illumination is belief in the possibility of a way of knowledge which may be called revelation or insight or intuition as contrasted with sense, reason and analysis ......" Bertrand Russell—Mysticism and Logic, Page 16



मान स्तंभ, कलय कीर्निजी का मन्दिर, श्रामेर, ज्यपुर

विशुद सत्व घीर व्यक्ति उसे ज्ञान के प्रसाद से साज्ञात् देखते हैं:—

न चचुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैदेवैस्तपसा कमंगा वा । ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु तम्पश्यते निष्कलं घ्यायमान : ॥

(म्राडक० ३।१।८)

इसी प्रकार केनोपनिपद में कहा गया है कि न वहां चचु जाते हैं, न वाणी और न मनः— न तत्र चचुर्गच्छिति न वागाच्छिति न मनो (केन १।३)

गीता में श्रीकृष्ण ने श्रजुंन से 'दिव्यचसु की वात कही है, जो सम्भवतः श्रन्तर्ज्ञान की श्रीर ही संकेत है:— न तु मां शक्यसे हप्दुमनेनैव स्वचसूपा। दिव्य ददामि ते चसुः पश्य में योगमैश्वरम् ॥११।८।

जिस प्रत्यक्षानुभूति ग्रयवा ग्रन्तर्ज्ञान की चर्चा ऋषियों द्वारा की गई, परवर्ती ग्रात्मदर्शी सिद्धों ग्रोर संतों ने उसी के द्वारा 'परमसुख' की प्राप्ति का प्रयास किया। सिद्धों ने सहजानुभूति ग्रयवा 'सहज साधना' पर जोर दिया, सहज स्वभाव को ग्रमृतरस वताया ग्रीर ऋजुमार्ग पर चलना श्रोयस्कर समभा:—

उजु रे उजु छाड़िह मा लेहु रे वंक । णिम्रहि वोहि मा जाहु रे लाङ्क ।।

(पुरातत्व निवंचावली, पृ० १७०)

X

×

X

सहज सहावा हलें ग्रमिय रस,

कासु कहिन्जइ कीस । (दोहाकोप पृ० १८)

इससे यह निष्कर्ण निकलता है कि प्रारम्भ से ही प्रध्यात्म क्षेत्र में एक शाखा ऐसी रही है, जिसवा प्रापार स्वानुभूति ग्रीर स्वसंवेदन ज्ञान रहा है। यहीं से रहस्य-वाद का ग्रारम्भ समभना चाहिए।

जैन काव्य में रहस्यवाद विषय पर विचार करने के पूर्व इस शंका का समाधान मायश्यक है कि जैनदरांन में रहस्यवाद संभव है या नहीं। प्रानेक दिहानों ने इनकी

संभवता का निषय करते हुए कहा है कि जैन देनं ऐक नास्तिक धर्म है। वह ईर्ज़र सा प्रवद्य की नेता में विश्वास नहीं करता । विरोश्वरवादी , रहस्यवादी की ली नहीं सकता । मन्य काल वैद्वेधामिक विकास की दो भागी में बांट दिया गया पा—ग्रास्तिक प्रीर स्नारितन्। इन शब्दों की व्याख्या भी कई प्रकार से की गेर्ड किन्छ मांग 'ग्रास्तिक' का तात्वयं उस सम्प्रदाय से लगाने थे. जी वेद और ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने में भीर एन दोनों की सत्ता को न मानने वाली दिचरपाराएं 'नास्तिक' कहलानी घों । मनु ने बेद निन्दक की नास्तिक माना या तो उनके टीकाकार कृत्लुक भट्ट ने परलोश में विश्वास न करने वाले को । सातवीं शकाब्दी के दाद एम प्रवृत्ति का अधिक जोर वह गया था। प्राय: एक मन दूसरे मतकी निन्दा करने के लिए और उसकी शिकता सिद्ध करने के लिए, उसे प्रवैदिक ग्रीर सास्तिक की उपायि प्रदान कर दिया करता था। नास्तिक सम्प्राणी में चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, मौत्रांतिक, दैमापिक शौर जैन मत की गणना के श्रविक्ति मीमांगा धौर सांख्य ब्रादि निरीश्वरवादी सम्प्रदायों या गाम विवा जाता या ।

वस्तुतः इस प्रकार का वर्गीकरण तत्वपूर्ण गरी दिखाई पड़ता। इस विभाजन के मूल में पात्मशापा धौर पर निन्दा की भावना ही मुग्य रूप में वार्य गर्मी भी । यही कारण है कि पाशुपतों धौर माहेग्यरों यो गानिएक सिद्ध करने वाले शंकरालायं को भी दूसी घाडेग कातिशाह होना पड़ा था। है जैन मत देद यो भने ही घरणा प्राथ्य न मानता हो, घरने निद्धान्तों की पुष्टि के लिए देदों की दुस्तों भने ही, परने निद्धान्तों की पुष्टि के लिए देदों की दुस्तों भने ही ग देशा हो, किश्व हमें निरीश्वरवादी घरणा परलोक में विश्वरान में करने वाला मत नहीं बहा जा सकता। हा, मंगलदेश शाहरों के खप्युंक्त वर्गीवरण की विस्तारण निद्ध करते हुए जिला है 'विस् वर्गीवरण की विस्तारण निद्ध करते हुए जिला है 'विस् वर्गीवरण विस्तारण निद्ध करते हुए जिला है 'वाह वर्गीवरण विस्तारण निद्ध करते हुए जिला है 'वाह वर्गीवरण विस्तारण निद्ध करते हुए जिला है 'वाह वर्गीवरण विस्तारण निद्ध करते हुए जिला है । धाल्तिक धौर सान्तिक शाहर 'व्यक्ति सान्ति वर्गीवरण विस्तारण निद्ध करते हुए जिला है । धाल्तिक धौर सान्तिक शाहर 'व्यक्ति सान्ति धीर सान्तिक धौर सान्तिक सार्वे वर्गीवरण सान्ति हिस्सारण निर्माण सान्ति हिस्सारण की सान्तिक सान्ति सान्तिक धीर सान्तिक सान्तिक धीर सानिक धीर सान्तिक धीर

१. देखिये आवार्य हजारोपसाद हिवेदी-मध्यकालीन पर्म नाधना पृ. १६

मित: (पा. ४।४।६०)' इस पाणिनि—सूत्र के अनुसार वने
हैं। मौलिक अर्थं उनका यही था कि परलोक (जिसे हम
दूसरे शब्दों में इन्द्रियातीत तथ्य भी कह सकते हैं) की
सत्ता को मानने वाला 'आस्तिक' और न मानने वाला
'नास्तिक' कहलाता हैं। स्पष्टतः इस यथं में जैन और
वौद्ध दर्शनों को नास्तिक वहा ही नहीं जा सकता। इसके
विपरीत हम तो यह समभते हैं कि शब्द प्रमाण की
निरपेस्तता से वस्तुतत्व पर विचार करने के कारण, दूसरे
दर्शनों की अपेसा उनका प्रपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य
ही है।" 9

जैन मत में ईश्वर या परमात्मा के उस स्वरूप को नहीं स्वीकार किया गया है, जो वैंदों को मान्य है अथवा ब्राह्मरा ग्रंथों मेंजिसकी चर्चा है । किन्तु उपनिषद् का 'एक ब्रह्म'यहां ग्राकर ग्रनेक 'परमात्मा' के रूप में पर्यवसित हो गया है। जैन दशँन यह मानता है कि प्रत्येक ग्रात्मा में यह शक्ति है कि वह परमात्मा वन जाय । उसर्गे ब्रात्मा की तीन अवस्थाएं या भेद माने गए हैं - वहिरात्मा. अन्तरात्मा और परमात्मा । यह आत्मा की किसी जाति के वाचक न होकर, ग्रवस्था विशेष के ही द्योतक हैं। वहिरात्मा उस अवस्था का नाम है, जिसमें आत्मा अपने को नहीं पहचानता, देह श्रीर इन्द्रियों द्वारा स्फूरित होता हुमा, उन्हीं को सर्वस्व मानने लगता है। मन्तरात्मा उस ग्रवस्था विशेष का नाम है, जिसे प्राप्त कर जीवात्मा अपने को पहचानने लगता , देहादि को अपने से भिन्न मानने लगता है, परन्तु पूर्णज्ञानी या पूर्णविद् नहीं वन जाता। परमात्मा ग्रात्मा की वह विशिष्ट ग्रवस्था है, जिसे पाकर यह जीव पूर्ण विकास को प्राप्त होता है श्रीर पूर्ण सुखी तथा पूर्णविद् हो जाता है। इस प्रकार ग्रवस्था या पर्याय की दृष्टि से ग्रात्मा की त्रिविघता है, स्वरूप या द्रव्य की हिंदर से नहीं। मोक्खपाहुड में श्री कुन्दकुन्दाचार्यं ने ग्रात्मा के इसी स्वरूप का दर्णन करते हुए लिखा है:---

'तिपयारो सो अप्पा परमंतर वाहिरौ हु देहीसां। तत्य परो भाइज्जइ अंतोवाएस चयहि बहिरप्पा।। ४ ॥ श्रमखाणि वहिरप्पा श्रन्तर श्रप्पा हु ग्रप्प संकप्पो । कम्म कलंकविमुक्को परमप्पा भएणए देवो ।। ५ ।।

श्रंणीत श्रातमा तीन प्रकार की है — ग्रन्तरात्मा, विहरात्मा श्रीर परमात्मा । उसमें ग्रन्तरात्मा के उपाय से विहरात्माका परित्याग करके परमात्मा का ध्यान करो । श्रापने परमात्मा की विशेषताश्रों का उल्लेख करते हुए कहा है कि परमात्मा मल रहित, शरीर रहित, इन्द्रिय रहित, केवलज्ञानी, विशुद्ध परमपद में स्थित, सब कर्मी को जीतने वाला, कल्याएकारी, शाश्वत श्रीर सिद्ध है ।

'मलरिह ग्रो कलचतो ग्रिणिदिग्रो नेवलो विसुद्धपा। परमेट्री परमिजिगो सिवंकरो सासग्रो सिद्धो ॥ ६ ॥

इस प्रकार जैन दर्शन में परमात्मा की कल्पना प्रारम्भ में ही कर ली गई थी, भले ही उसकी संख्या एक न होकर अनेक हो, भले ही वह नियामक और भिन्न वस्तु न स्वीकृत होकर, आत्मा का ही शुद्ध, विकसित और निविकार रूप माना गया हो। श्री चन्द्रघर शर्मा ने तो लिखा है कि आगे चलकर वर्धमान महावीर ने परमात्मा का स्थान ले लिया और उन्हे शुद्धात्मा कहा गया। वे इन्द्रिय, वाणी और विचार से परे हो गए और शुद्ध चैतन्य स्वरूप घारण कर लिया, जिन पर किसी भी प्रकार के विकार का प्रभाव नहीं पड़ सकता था। जिस प्रकार समस्त जल समृद्ध से मेघ द्वारा आता है, निदयों के रूप में बहता है और अन्तत: निदयों के द्वारा सागर में मिल जाता है, इसी प्रकार समस्त सापेन्तिक दृष्टिकोण परमतत्व से उद्भूत होकर उसी में लय हो जाते हैं?। र

इससे स्पष्ट है कि जैन मत प्रारम्भ से ही परमात्म तत्व में विश्वास करता है । उनके अनुसार सामान्यतया जीव नाना प्रकार के 'ग्रजीव' पदार्थों से ग्रस्त रहता है, जिसे पारिभाषिक शब्दावली में 'पुद्गल' कहते हैं । ग्रात्म-प्रदेश पर पुद्गल के ग्रागमन से ग्रात्मा नाना प्रकार के

१ देखिये प्रो. महेन्द्र कुमार — जैनदर्शन की भूमिका पृ. १२

R Shri Chandra Dhar Sharma—Indian Philosophy. Page 72

राग होप मोहादि में फंस जाता है। इसी मिध्यात्व की 'श्रास्तव' कहते हैं। इसका निरोध ही 'संवर' कहलाता है। 'संवर' निर्जरा का एवं क्रम से मोस्न का कारण होता है। जब श्रात्मा स्वयं या गुरु उपदेश से श्रात्म— श्रनात्म भेद से श्रवगत हो जाता है श्रथात् उसमें स्व— पर-विवेक जाग्रत हो जाती है, तब उसे सम्यक् ज्ञानी कहते हैं। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति ही परगात्मा का विशेष लक्षण है।

## वर्णन शैली में उदारता

छठी शताब्दी तक म्राते म्राते जैन मुनियों की वर्णन शैली मीर वस्तुस्थापन शैली में बड़ी उदारता एवं व्यापकता दिखाई पड़ने लगती है । पूर्वकालीन एवं समकालीन पाखंडियों का विरोध, कर्मकाएड की बहुलता की निस्सारता पर जोर, समरसी भाव एवं स्वसंवेदन ज्ञान में निष्ठा म्रादि इस युग की जैन रचनाम्रों में उसी प्रकार से देखा जा सकता है, जैसा की उस युग के मन्य योगियों म्रीर तांत्रिकों में । बहुत सम्भव है कि इसी दिशा में वे तांत्रिकों से प्रभावित भी हुए हों, जिसे कि बहुत से विद्वानों ने स्वीकार भी किया है । म्राचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "विक्रम की छठी शताब्दी के वाद भारतीय घर्म साघना में एक नई प्रवृत्ति का उदय होता है ।

इस समय से भारतीय धर्म साधना के सेत्र में उस प्रभाव का प्रमाण मिलने लगता है, जिसे ससेप में तांत्रिक प्रभाव कह सकते हैं। केवल प्राह्मण ही नहीं, जैन श्रीर बौद्ध सम्प्रदायों में भी यह प्रभाव स्पष्ट हप से लिन होता है । हां, यह प्रवश्य सत्य है कि इस (जैन) साधना में तांत्रिकों के समान 'पंचमकार' नहीं धाने पाए, हत्री को साधना का केन्द्र विन्दु नहीं माना गया श्रीर उस प्रकार की वासनोहीपक श्रीर वीभत्य स्थिए भी सम्मिलत नहीं होने पाई, जो छ्ट्मवेप में पामुकों की परितृत्ति का सादम बनती । किन्तु गही मद महत्पर-नहीं है । और न रहस्यदाद को इन्हीं सीमाधों में दन्दी बना देना उपयुक्त ही ।

दस्तुतः घष्यास की चरम नीमा ही रहन्ययाद की जननी है। यह एक ऐसी घनुपूर्ति है जो नायत के अन्तस में जाग्रत होकर, झिखल दिख को उनके लिए ब्रह्ममय कर देती है अथवा उसे स्वयं ही बन्न दना देती है। बुद्धि का जैय ही हृदय का प्रेयदन जाना है। समस्त प्राणियों में उसे परमात्मा वा ग्राभान होने नगना है। वह मन की एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो परमात्मा ने प्रत्यच, तात्कालिक, प्रयम स्थानीय भीर पन्तर्शानीय सम्बन्ध स्थापित करती है।" र इस सम्बन्ध-स्थापन-हेन् किसी बाह्य साधन की प्रपेचा नहीं रहती। इत्यि धौर मन के व्यापार विरत हो जाते है। समस्त संसारिक वस्तुत्रों को साधक निरंपेच श्रीर तटन्य हरिट में देखने लगता है। ग्रातमा मल ग्रीर विकार-प्राय होते हुए क्रमशाः उस उच्च बिन्दु तक पहुंच जानी है 'यह मन् पबसा न संचरइ' 'जंह रवि सनि साह पदेग ।' उसमे वह ज्ञान पैदा हो जाता है, जिससे यह मध्य और प्रमाय के धन्तर को स्वष्ट करने में महम हो जाना है। पारिभाषिक शब्दावली में यह 'परा दिया' कुक्त हो गर परमारमा ले गुलों से मावेष्टित हो जाता है घपत्रा रखं परमाध्या यन जाता है। पाप-पूर्व से परे हो जाता है। यस द ही सीमा ग्रंपवा कान वा बंदन उने अवड् वर्ता पाना । यह गुण दीयों की विदेशना में नहीं पंतला, नहीर दर्गी लिए यह सब मबारतियक प्रतीन होने एउने हैं।

## चार गूलभूत आधार

प्रतिद्ध दारीतिक पर्दाग्ट रतेल ने राग्यदार ने त्यार मूलभूत प्रायाद रत्यम माने हैं:—

(१) ज्ञान की उन राम्य की संसदा करियाण करना, जिसे कन्द्रांन, प्राविध कार का कर रेक्टाट

१. श्राचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी— मध्यकालीन धर्मसायना, पृ. ८

R. "Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, first hand, intuitive apprehension of Ged"

R. D. Ranade-Mysticism in Maharashtra Preface, Page 1

कहते हैं ग्रीर जो एन्द्रिय ज्ञान तर्क ग्रीर विश्लेषण से भिन्न होता है।

- (२) एकता में विश्वास-पाप-पुराय के द्वय का निषेध।
- (३) समय प्रथवा काल की यथार्थता का निपेध।
- (४) दोषों की ग्रसत्यता में विश्वास-यह निष्ठा कि समस्त सांसारिक गुण-दोष माया हैं, भ्रम हैं, दिखावा मात्र हैं।

जैनाचार्यों ने, मध्यकालीन अन्य संतों के समान, उपयुंक्त तथ्यों को स्वीकार किया है। उन्होंने बताया है कि मनुष्य केवल स्थूल बुद्धिंसे अथवा पुस्तकीय ज्ञान से परमतस्व की अनुभूति नहीं कर सर्कता, परमात्मा नहीं वन सकता। वह व्यक्ति जो आजीवन नाना ग्रन्थों और शास्त्रों में ही चक्कर काटा करते हैं ग्रन्तः अपने उद्देश्य में निष्फल ही रहते हैं। मुनि रामसिंह कहते हैं कि 'मूखं तूने बहुत पढ़ा, जिससे कि तालू सुख गई, किन्तु यदि एक अन्तर पढ़ ले तो शिवपुर गमन हो जायः—

वहुयइं पढ़ियइं मूढ़ पर, तालू सुक्कइ जेगा। एक्क ज अक्खर तं पढ़इ, सिवपुरि गम्मइ जेगा।।

वे फिर कहते हैं कि जो केवल विश्लेपणात्मक ग्रीर तर्क प्रधान ज्ञान को ही सर्वस्व समक्त लेते हैं वे कण को छोड़ तुप को ही कूटते हैं। वे ग्रन्थ ग्रीर उसके ग्रर्थ को जानते हुए भी परमार्थ नहीं जानते। ग्रतः मूखं ही बने रहते हैं:—

पंडिय पंडिय पंडिया कगु छंडिवि तुस कंडिया।

म्रत्थे गथे तुट्टो सि परमत्थु एा जागिहि मूढ़ोसि ।।=४॥ (पाहुङ दोहा)

जैनाचार्यों ने पाप श्रीर पुराय दोनों की निस्सारता की स्पष्ट शब्दों में घोपणा की है। यदि एक को लौह श्रृंखला बताया है तो दूसरे को स्वर्ण-श्रृंखला। किन्तु हैं दोनों बंबन स्वरूप। साधना के पथ पर अग्रसर होने वाले 'श्रात्मा' के लिए दोनों अन्तराय बन जाते हैं। देव सेन ने 'सावयधम्म दोहा' में कहा है कि पुराय श्रीर पाप दोनों, जिसके मन में सम नहीं हैं, उसे भव-सिंधु दुस्तर है। क्या कनक या लोहे की निगड़ प्राणी का पाद बंधन नहीं करती?

'पु्राणु पाउ जसु मिर्ण एा समु तसु दुत्तरू भवसिषु । कराय लोहिण्यलई जियह कि रा कुराहि पयवंषु ॥२११॥

कुन्द कुन्दाचार्यं ने इसीलिए 'मोमख पाहुड़' में स्पष्ट रूप से कह दिया था कि योगी मन, वचन, कर्म से मिथ्यात्व, ग्रज्ञान, पाप, पुएय ग्रादि का परित्याग कर योगस्य होकर ग्रात्मा का ध्यान करता है:—

मिन्छतं ग्रएणाणुं पावं पुएएां चएवि तिविहेण । मोरान्वहरा जोई जोयत्यो जोपए ग्रप्पा ॥२८॥

साघक के लिए साघना के पथ पर श्रग्रसर होने के पूर्व, पाप-पुएय समान रूप से हीन समभकर दोनों का त्याग नितान्त श्रावश्यक माना गया। सच्चे ज्ञान की संज्ञा उसीको दी गई, जिसके श्रालोक में पाप-पुएय के तम का विनाश हो जाय। मुनि रामसिंह ने कहा कि 'हे मूखं! बहुत पढ़ने से क्या? ज्ञान-तिलिंग (ग्रग्निकए) को सीख, जो प्रज्वलित होने पर पाप-पुएय दोनों को विनष्ट कर देता है। (पाहुड़ दोहा नं. ५७)

इस प्रकार जैन दर्शन में रहस्यवाद के तत्व, ब्रारम्भ से ही ब्रागए थे। श्रीर यदि सूदम रूप से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि जैन धमं के अधिष्ठाता चौवीस तीर्थं कर संसार के प्रमुख रहस्यदिशयों में थे। उनका जीवन चिरत, उनका रहन सहन, उनका दैनिक ब्राचरण इस दिशा में विशेष रूप से हष्टव्य है। ब्रादि तीर्थं कर ऋष्मदेव श्रीमदभागवते में (पञ्चमस्कंय, वृतीय ब्रध्याय, पृ. ५५५) दिस्तार से वर्णन मिलता है, जो उनके परमात्मा—रूप का प्रतीक है। ऋष्म देव के उपदेश भी ब्रात्मपरक हुआ करते थे। ब्रापने ब्रपने पुत्रों से कहा था कि जब तक जीव को ब्रात्मतत्व की जिज्ञासा नहीं होती, तभी तक ब्रज्ञानवश देहादि के द्वारा उसका स्वरूप ख्रिपा रहता है। जब तक वह लौकिक—वैदिक कर्मों में फंसा रहता है, तब तक मन के कर्म की वासनाएं भी वनी रहती है ब्रीर इन्ही से देह बंधन की प्राप्ति होती है:-

पराभनस्तानद बोघ जातो,

यावन्तिज्ञासत श्रात्मतत्वम् । यावत्कियास्तावदिदं मनौ वै,
कर्मात्मकं येन शरीर वंधः ।।

ऋपभदेव के जीवन चरित और साधना पढ़ित का जो उपर्युक्त वर्णन श्री मद्भागवत में मिलता है, उससे यह ग्रसंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो जाता है कि ऋपभ—देव विश्व के उच्चकोटि के रहस्यदिशयों में थे और ग्रापने एक नदीन धर्म को ही जन्म नहीं दिया था, ग्रपितु उसके मूल में ग्रात्मा—परिष्कार के सच्चे बीजों का वपन भी कर दिया था। इसीलिए प्रो० ग्रार० डी० रानाडे सहश मनीषियों ने भी ग्रापको उच्चकोटि का साधक और रहस्यदर्शी माना है। यहां एक बात का उल्लेख कर देना श्रावश्यक है कि ऋपभदेव का श्री मद्भागवत द्वारा वर्णन जैन परम्परा समिथत है। जैन ग्राचार्यों ने भी इसी प्रकार ग्रापकी चिन्तामुक्तता, उदासीनता ग्रीर साधना पद्धित का वर्णन किया है।

श्रापके उपरान्त श्रन्य तीर्थकरों द्वारा इसी साधना— पदित का श्रनुसरण किया गया । किवयों श्रीर सिद्धान्त— प्रतिष्ठापकों द्वारा भी इसी का श्रनुवर्तन किया गया । इस दृष्टि से श्री कुन्दकुन्दाचार्य का नाम प्रथम श्रीर प्रमुख श्राचार्य के रूप में लिया जा सकता है । तदुपरान्त स्वामी कार्तिकेय, पूज्यपाद, श्रमृतचन्द्र, गुणभद्र, श्रमित— एति श्रादि श्रनेक संतों द्वारा इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग— दान हुश्रा है । सातवीं शताब्दी के बाद से १७वीं, १८वीं शताब्दी तक श्रनेक संत किव हुए, जिनमें योगीन्द्र, मुनि रामितह, नेमिचन्द्र, श्रानन्द तिलक, बनारसीदास, छीहल, रुपचन्द्र, भैया भगवतीदास श्रीर श्रानन्दघन श्रादि प्रमुख हैं । समय के साथ साथ इन लोगों ने श्रनेक नूतन तत्वों को ग्रहण किया । प्राचीन संकीर्ण दिचारों का परित्याग भी किया ।

जैसा कि हम पहले कह धाए हैं, घाठवीं—नवीं शताब्दी तक झाते—झाते जैन मत पर पर्यान्त बाह्य प्रभाव पड़ चुका था। वह पूर्व मुनियों घीर घाचार्यों द्वारा नियोजित कर्मकाराड की बहुनता घीर मितरायता ने भी ऊब चुका था। घत: इसकी प्रतिष्रिया भी स्वासाविक रूप से सावश्यक थी। फनत: इस समय तरा गाते धाते जैन संतों की विचार सरिए ग्रीर मिम्यक्ति की प्रकानी में भी काफी अन्तर आ गया। यद्यपि तांत्रिको के घड--गुण से यह बचा रहा तथापि इसने श्रीव, शाक्त मादि योगियों ग्रीर तांत्रिकों की घनेक दातों की ग्रहण कर लिया। वाह्याचार का विरोध, चित्त नुद्धि ५२ जोर, शरीर को ही समस्त साधना वा वेग्द्र विन्द्र मानना छौर समरसी भाव से स्वसवेदन म्रानन्द पा उपभीग जन श्राचार्यो हारा उसी प्रकार स्वीकृत और प्रकारित हमा, जिस प्रकार तत्कालीन प्रन्य घारम दर्शी निद्धी धीर सन्तों ने । म्राचार्य हजारी प्रसाद द्विवेटी या ती विश्वास है कि ''अगर उनकी रचनाश्रों के ऊपर से 'जैन' विरोपल हटा दिया जाय तो वे योगियों घीर तांत्रिकों पी रचनायों से बहुत भिन्न नहीं लगेगी। वे ही राज्य, वे ही भाद भीर वे ही प्रयोग घूम फिरकर उस युग के सभी सामुद्रों के सनुभव में साया करते थे। <sup>२''</sup> कहने का तारार्य यह है कि उस यूग के जैन रहस्यवादी विविधी ने भी समस्त बाह्याडम्बरों, रुद्विबादितामी भीर पानस्टी वा विरोध किया, शरीर तथा आत्मा में मन्तर स्पष्ट करते हुन विराट् तस्व का निवास इसी शरीर में बताया। योगीन्द्र मुनि ने वहा कि देह रूपी देवालय में ही प्रनादि भौर मनन्त परमात्मा का बास है, जो बेदल झान के रष्ट्रारित होता है:--

देहा-देवित को वसद देउ झए।:-घएंतु । केवल-ए।एए-फुरंत-तसु सो परमपु रिपर्भतु ।।३३॥ (परमास्प्रण:ए)

देह-स्पित दम परमात्मा को प्राप्त करने के लिए मंदिर, तीर्थाटन, पूजा प्राधि बात्य गायगो की पाट-श्यकता नहीं। कारण, नीर्थयात्रा ने केवल बाह्य प्राधीर मल रहित हो नकता है, किन्दु मन्तरगत्मा प्रप्राणित्र ही रहेगी:—

तित्वद्रं वित्व भमेत्वेद्द्रः ति स्रोता पाउ त्यः । बाहिरु मुद्धत पाणियहं धरिभेगा विस्तृत्व ॥१,६२॥ (महार्थाणः

१. देखिये प्रो. महेन्द्र कुमार - जैन दर्शन पृ. ३

२. स्राचार्य हजारी प्रमाद हिवेदी-सप्पद्मालीन धर्मसादना. पृ. ४३

ग्रत: वीतराग स्वसवेदन ज्ञान से रहित जीवों को तीर्थ भ्रमण से मोज्ञ नहीं प्राप्त हो सकता:—

तित्थइं तित्यु भमंताहं मूढ़हं मोक्खु ए। होइ ।

ए।ए।-विविज्ञित जेए। जिय मुिए।वर होइए। सोइ

।।१८५।।

(परमात्म० प्र० द्वि० खएड)

जब परमात्मा का ग्रावास शरीर ही है ग्रर्थात् जो व्रह्माएड में व्याप्त हैं, वही पिएड में स्थित है, तो केवल चित्त शुद्धि से ही उसका पावन साचात्कार किया जा सकता है। जब मन नाना प्रकार की वासनाग्रों से विरत हो जाता है, शरीर ग्रीर तत्सम्बन्धित पदार्थों की च्या—भंगुरता को जानकर उससे विमुख हो जाता है ग्रीर एक मात्र ग्रात्म तत्व की ही ग्राराधना करता है, तब एक ऐसी ग्रवस्या ग्राती है, जब उसके ज्ञान—चच्चु खुल जाते हैं ग्रीर वह परमानन्द का ग्रनुभव करता हुग्रा, उसी में लीन हो जाता है ग्रयवा वह स्वयं परमात्मा बन जाता हैं। इसे ही 'सामरस्य ग्रवस्था या समरसी भाव' कहा गया है। इस ग्रानन्द का ग्रनुभव करने वाला साधक ग्रन्थ किसी रस की स्पृहा नहीं करता:—

समरसकरणं वदाम्यां परमपदारिवल, पिएडयोरिदानीम् । यदनुभववलेन योग निष्ठा-इतर-पदेषु,

गत स्पृहा भवन्ति ।। (ग्रा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ४५ से उद्घृत)

इस 'समरसी भाव' में लवएावत् घुल-मिल जाने पर, ग्रपनी सत्ता को परम सत्ता में एकाकार कर देने पर, किसी ग्रन्य साधना की ग्रावश्यकता ही नही रह जाती। जीव इसी पिएड में ग्रवस्थित ब्रह्म से ग्रपना ग्रभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। योगीन्दु मुनि ने कहा है कि समरसी भाव को प्राप्त हुग्रा साधक संकल्प-विकल्प-रहित होकर, ग्रात्म स्वरूप में ठहरता है, उसे 'संवर निर्जरा स्वरूप' भी कहा जाता है:—

'ग्रच्छइ जिस्तिउ कालु मुिण, ग्रन्यु-सरूवि णिलीगु । संवर-णिज्जर जाणि तुहुं-सयल-वियर विहीगु ।।३८॥ ( परमात्मा प्रकाश, ग्रन्याय ) २

इसीलिए ग्रापने चित्त शुद्धि पर ग्रत्यविक जोर दिया । ग्रापने वार—वार कहा कि वन्दन, निन्दन ग्रोर प्रतिक्रमण को छोड़कर, जीन को शुद्ध चित्त सम्पन्न होना ग्रनिवार्य है। मन शुद्धि के विना सयम सम्भन नहीं। चित्त शुद्धि के ही द्वारा न्नत, तप, संयम ग्रोर कर्मच्य संभन है। विशुद्ध भाव ही धर्म है। शुद्ध—भाव ही मुक्ति मागं है। चित्त शुद्धि के विना किसी भी साधन से मुक्ति सम्भन नहीं:—

वंदगु गिंदगु पिंडकमगु गागिहि एह ए जुतु । एक्कुजि मेल्लिव गागमि सुद्ध भाव पिंदि ।।२।६४।। सुद्धहं संजमु सीलु तड सुद्धहं दंसगुगागु । सुद्धहं कम्मक्ख हवइ सुद्ध तेग पहागु ।।२।६७।।

चित्त शोधन मात्र से मानव मन स्वच्छ दर्पण्वत् परमतत्व का ग्राभास कराने लगता है। मन बहिमुंखी न रहकर श्रंतमुंखी हो जाता है। ग्रपने परम प्रिय का दर्शन पा श्रनिवंचनीय ग्रानन्द का श्रनुभव करता हुग्रा साधक उस ग्रवस्था को प्राप्त हो जाता है, जिसमें ब्रह्म-कर्म की श्रपेद्या नहीं रहती, श्रीर ठीक भी तो है। जब मन परमेश्वर से मिल गया श्रीर परमेश्वर मन से, दोनों समरस हो रहे, तो पूजा किसे चढ़ाया जाय?

मणु मिलियड परमेसर हो परमेसरू जि मणस्स, वििएण वि समर्रास हुई रहिग्र पुज्ज चढ़ावजं कस्स ॥४६॥ (पाहुड़ दोहा)

पाप पुराय, लाभ हानि, गुरा—दोप म्रादि की विवे-चना करना तो दूर रहा, उसके म्रन्तर की म्रोर भी सामक का मन नहीं जाता। तभी तो योगीन्दु मुनि ने कहा था कि 'किसकी समाधि करूं? किसकी म्रचना करूं? स्पर्शास्पर्श का विचार कर किसका परित्याग करूं? किससे मित्रता म्रोर किससे शत्रुता करूं? जहां कहीं देखता हूं, म्रात्मा ही दिखाई पड़ती है:— को ? सुसमाहि करउं को ग्रंचउ,
छोपु-ग्रछोपु करिव को वंचउ।
हल सिंह कलहु केण समाण्यउ,
जिंह किह जोवउ तिह उप्पाण्य ॥४०॥
[योगसार]

इस प्रकार कर्म से मुक्त होकर प्रात्मा गुड-चेतन-व्यापार-स्वरूपा हो जाती है-। मिध्याद के बंधन धौर सीमाएं दूट जाती हैं। यही सिद्ध नेवनी प्रयता मुक्त ग्रात्मा की ग्रवस्था कहा गया है। यही साधना प्रय रहस्यवाद है।

साफ प्रगट है कि भारतवर्ष का श्रावः पतन जैनधर्म के श्राहंगा निहान के कारण नहीं हुआ था, बल्कि जब तक भारतवर्ष में जैनधर्म की प्रधानना रही थी, बब नफ उसका इतिहास स्वर्णाचरों में लिखे जाने योग्य है श्रीर भारतवर्ष के हान का गुरुव कारण श्रापसी प्रतिस्पर्धासय श्रावेश्यता है जिसकी नींव शंकराचार्य के जमाने में दी गई थी।

—मि॰ रेवरेड दे॰ रहीटेमान मा॰ (जैनमित्र वर्ष २४ छात ४० में )

# जैन चम्पू का॰यों के शोध की दिशायें

मृत श्रीर सत्य के प्रवर्तक महा मुनियों की श्रमृतमयी वाणी, व्यक्ति या वर्ग-विशेष के लिए ही नहीं होती । उसमें मानव-मात्र के कल्याण का सन्देश निहित होता है । भगवान महावीर जैनियों के ही पूज्य तीर्थं द्धूर नहीं थे, वे मानव-जाति के एक मार्ग दर्शक तथा श्रपने युग के महान सुधारक थे । उनके उपदेश शाश्वत-सत्य से श्रोत-प्रोत हैं । उनका श्रनुसरण युग-विशेष के ही नहीं, युग युग के प्राणी मात्र का हित कर सकता है । ये श्रचय-स्नेह से भरे वे मार्गदीप है, जो जीवन के उच्चतम लद्द्य की पूर्ति के लिये, सदाचार-पथ को ज्योतिमंय बनाते हुए, श्रज्ञान में भटकते प्राणि-मात्र का पथ-निर्देश करते हैं । स्राज के त्रासक श्रीर त्रस्त विश्व मानव की नैतिकता को जगाने की उनमें पूर्ण चमता है ।

श्रमृतमय उपदेशों की यह शीतल—धारा अपने उत्स से निकल कर निर्भारिणों के समान जन,—मानस के सम— विषम भूभागों को आप्लावित करती हुई नाना—विध रूप धारण कर लेती हैं। एक दार्शनिक के अन्तस में उतर कर उपदेश की एक वृंद दर्शन का सरोवर वन जाती है। किव का हृदय उसे ही महाकाव्य के स्वर्ण—पात्र में सुर-चित कर देता है। ये ही उपदेश जन—जन तक पहुंचने के लिए कथा—साहित्य एवं पुराणों का आवरण घारण कर लेते हैं। व्यापकता की यह प्रक्रिया, केवल एक धमं या नीति—प्रवर्तक की वाणी के लिए ही नहीं सभी के लिये समान रूप से कार्य करती हुई दिखाई पड़ती है। श्रीकृष्ण, भगवान बुद्ध एवं भगवान महावीर के मार्गिक जैन दर्शन, जैन-साहित्य एवं जैन पुराण की त्रिविध धारात्रों के संगम से जिस त्रिवेणी के पावन तीर्थ का निर्माण हुत्रा है उसकी पूरी मांकी श्रभी तक सामने नहीं श्रापायी है। विविध स्थानों के जैन-भण्डारों में श्रनेकों इस्तलिखित प्रन्थ पड़े हुये हैं। इस्तलिखित प्रन्थों की सूची तक उपलब्ध नहीं है। इस सूची के तैयार करने की दिशा में कुछ प्रयास होना जरूरी है।

एवं नैतिक उपदेशों का ग्रपना ग्रपना विशाल दर्शन-भ्रीर साहित्य का महासागर तैयार हो गया है।

जैन दर्शन, जैन-साहित्य एवं जैन पुराण की त्रिविष घाराओं के संगम से जिस त्रिवेणी के पावन तीर्थ का निर्माण हुआ है उसकी पूरी फांकी अभी तक सामने नहीं धा पाई है। विविच स्थानों के जैन-भएडारों में अनेकों हस्तिलिखित ग्रन्य पड़े हुए हैं। हस्तिलिखित ग्रन्यों की सूची तक उपलब्ध नहीं है। इस सूची के तैयार करने की दिशा में कुछ प्रयास हो रहा है। केन्द्रीय संग्रहालय की स्थापना के माध्यम से भी शायद कार्य कुछ आगे वढ़े। जैन साहित्य के जो ग्रन्य-रतन प्रकाश में आ चुके हैं; उनमें जैन चम्पू काव्यों का अपना विशिष्ट स्थान है। 'चम्य कान्य का ग्रालोचनात्मक एवं ऐतिहासिक ग्रध्ययन' नामक ग्रपना शोध-प्रवन्य तैयार करते हुये मुभे निम्नलिखित निश्चित तथ्य ग्रवगत हुये:—

- (१) दसवीं शताब्दी से लेकर श्रठारहवीं शताब्दी तक, जब संस्कृत साहित्य की श्रन्य विधःयें सीएा प्रायः हो रही थीं तब चम्पू-काव्य घारा ही प्रखर वेग से प्रवाहित हो रही थी। इस काव्य-परम्परा में ढ़ाई सी से ऊपर चम्पू-काव्य लिखे गये।
- (२) गद्य-पद्य-मयी मिश्र शैली को काव्यात्मक रूप सर्व प्रथम प्रशस्तियों ग्रीर शिलालेखों में प्राप्त हुन्ना।
- (३) चम्पू काव्य का जो स्वरूप म्राज दिखायी पड़ता है उसे सामने लाने में जैन-शिलालेखों ग्रीर जैन चम्पू काव्यकारों का प्रमुख हाय रहा है। किसी सीमा तक इन्हें ही चम्पू काव्य घारा का प्रवर्तक माना जा सकता है।

इन तथ्यों के सामने रहते हुए भी ज्ञात चम्पू काव्यों में जैन चम्पू काव्यों की संख्या उंगलियों पर गिने जाने योग्य ही है। अनेक प्रश्न मन में उठते हैं-जैन शिला-लेखों को चम्पू काव्य की शैली में प्रस्कृत करते हुए जिन श्रनेक जैन विद्वानों श्रीर कवियों से हम परिचित होते हैं, क्या वे शिलालेखों के ही कवि थे। क्या उन्होंने स्वतन्य रूप से चम्पू कान्यों का सुजन नहीं किया? यदि किया हो तो वे काव्य प्रत्य कहां हैं ? वया वे जैन-भएडारों में तो नहीं पड़े हैं ? संस्कृत के प्राचीन हंस्त लिखित ग्रन्यों की सूची तैयार करने वाली विविध शोध संस्वामों या मन्वेपक विद्वानों की पहुँच जैन भएडारों तक नहीं घी। उनके द्वारा प्रस्तृत विवरणों में भी जैन चम्पू काव्य की संरया गिनती की ही क्यों है ? ग्रभी तक इन जिक्क साम्रों की सन्तुष्टि का नोई साधन नहीं है। संभव है जैन ग्रंघों की विस्तृत मूची घीर केन्द्रीय मंग्रहालय ही इन का उत्तर दे सके। प्रतः चम्यू काव्यों की शोध-दिशा के निर्धारण के लिये जैन चम्पू काध्यों की नूची तैयार करना प्रयम एवं ग्रनिवायं सायं है।

यो चम्पू वाच्य ज्ञान हैं और प्रवादित हो घुरे हैं जनमें यरास्तिनक चम्पू ना स्थान प्रत्यन्त ही महत्यपूर्ण है। सोमदेव मूरि का यह चापू वाहर, दर्ग मौर काय का मुन्दर समन्वित रप प्रस्तुत करता है। मन्य जैन चाय काव्यों की मांति यह भी सोद्देश्य रचना है और जैन सिद्धांतों तथा आचार पत्त वा व्यापक और व्यवसारित कप उपस्थित करता है। इस चम्यू वाहर वा ऐतिहासिक एवं सामाजिक हिट्टिबोण से वित्तृत प्रद्यपन थी. हर्गीती ने अपने अंग्रेजी प्रदत्य में प्रस्तुत विधा है। इसके काव्यात्मक पत्त का संक्ति प्रध्यपन मैंने घरने शीम प्रदत्य में दिया है, फिर भी इस द्यूप वाह्य वा निस्त लिखित हिट्टियों से प्रध्यपन प्रस्तुत विधा जा नहता है:-

- (१) यशोधर चरित की कया वस्तु का मूल रहीत, विविध यशोधर चरित कार्यों में विशित कया का नुसनात्मक ग्रह्मयन।
- (२) यशस्तिलक चम्पू के पात्र-यशोधं यशोधर, यशोगी, ग्रम्तभारी ग्रादि के प्रतिरिक्ता मुनि गुप्त की सिद्धियों के स्पर्धन ग्रीर मिद्धियों की दैन परम्पन के साथ प्रध्ययन।
- (३) यदास्तिलक चम्पू में विश्वन पुनर्जनों की परम्पस हिन्दू भीर वीद पुनर्जन्म के सिद्धांनी से नुवनास्मय भ्रष्ययन।
- (४) जैन दार्शनिक निद्धांतीं का याहर प्रगतिनक पान् हादशीलोगामीं सहिन इसका विस्टृत प्रयान है।
- (४) यशस्तिनक वा प्राचार पत्त नैतिकता धौर प्यारणः-चार ।
- (६) हिमा में ब्रहिमा की बोर मशक्तितक का क्यों है। निक ब्रध्ययन ।

्रम्सा महत्त्वपूर्ण देन पासू नाम हिनाद का जीवन्यर परमू है। यह परमू नाप पीर्माणन होते हैं। विशेष गय से सनुस्त्रमा करना है। इसने होते हैं 'जीवन्यनस्य परिसं धुनिन्य में सूर्ण नह नरे, जन दे देश सरते हुए पीर्माण्ड प्रसाद को स्वयन्त्व होत्तर हो है। इस पर इस विस्तृत होंग प्रसाद होतान हो स्वयन्त्र की जिल्हार परित्र मासूत्र नामा गर हा एक एक हो तीसरा जैन चम्पू काव्य 'भरतेश्वराम्युदय चम्पू' है।

यह चम्पू काव्य श्री हीरालानजी के लेख के अनुसार

ग्रमी तक एक जैन भएडार (पाटएए ?) में पड़ा प्रकाशन की प्रतीचा कर रहा है। श्री मद्भागवत में भरत
का उपाख्यान भी गद्य-पद्य मिश्र शैली में ही प्रस्तुत किया
गया है। भरतेश्वराम्युदय चम्पू के काव्यात्मक मूल्याङ्कृत

सहित हिन्दू ग्रीर जैन पुराएगों में विएत उनके उपाख्यानों
का तुलनात्मक ग्रध्ययन किया जा सकता है।

एक प्रत्य उत्लेखनीय चम्पू 'जैनाचार्य निजय' चम्पू है। जैन शिलालेखों में एक पूर्ण रूप से जैनाचार्यों का वर्णान प्रस्तुत करता है। यह शिलालेख भी चम्पू काव्य की ही भांति गद्य-पद्य मिश्रित शैली में लिखा गया है। ( द्रष्टव्य जैन शिलालेख संग्रह) उस शिलालेख के साथ इस चम्पू काव्य का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। विणित ग्राचार्यों के स्थिति—काल ग्रीर कृतित्व का निरूपण करने वाला ऐतिहासिक शोध प्रवन्ध एक वहु-मूल्य देन के रूप में सिद्ध हो सकता हैं।

तिपिष्ठ महापुरुपों का चिरत वर्णन, साहित्य साधना के साथ साथ महत्पुर्य का कार्य समक्ता जाता रहा है। केवल यशोधर के चिरत को ग्राक्षित कर लगभग तीस काव्य—प्रन्य लिखे गये हैं। इनके ग्रतिरिक्त अनेक श्रावकों मुनियों ग्रीर जैनाचार्यों के चिरत भी काज्यात्मक रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। दशवीं शताब्दी से लेकर ग्रठारहवी शताब्दी तक चिरत—वर्णन की मुख्य प्रवृत्ति चम्पू काव्यों के माध्यम से ही रही है। निस्सन्देह ग्रन्य कई चम्पू काव्य सामने ग्रा सकते हैं ग्रीर जैन चम्पू काव्यों की संख्यावृद्धि हो सकती है।

सिद्धों और नाथ पंथियों के साहित्य को प्रकाश में लाने ग्रीर िन्दी साहित्य की पृष्ठ भूमि के रूप में उनका मूल्याङ्कन करने की दिशा में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ग्रीर डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी की साधना ही सफल हुई है। जैन साहित्य के अप्रश्नंश में लिखित अनेकानेक ग्रंथों का प्रकाशन और हिन्दी साहित्य की पृष्ठ भूमि के रूप में सही मूल्यांकन अभी तक नहीं हो सका है। संस्कृत, प्राकृत अप्रश्नंश में निर्मित विशाल जैन साहित्य के एक अंश मात्र की चर्चा मैंने अपनी ऊपर की पंक्तियों में की है। जैन चम्पू काव्यों सहित, उन पर लिखे गये शोध प्रवन्ध कितने मूल्यवान और साहित्य की श्रीवृद्धि में कितने सहायक हो सकते हैं इसे समभना कठिन नहीं है।

वस्तृत: भारतीय साहित्य श्रीर संस्कृति को, मानव-जगत को जैन साहित्य श्रीर संस्कृति की महान देन का भव्य ग्रीर उदात्त रूप तभी सामने श्रा सकता है, जब उसका विशाल साहित्य प्रकाश में ग्राये। तुलनात्मक ग्रध्ययन प्रस्तृत करने वाले शोध-प्रवन्ध प्रत्येक जीवन-दिशा की ग्रोर इंगित करें। जैन दर्शन, साहित्य ग्रौर पुरागा-प्रावेष्ठन में पड़े केवल पूजा की वस्तु मात्र न रह जाय । महान तीर्थं करों की वाणी के मार्ग को उद्वादित करने वाले साधकों के विपुल ग्रंथ जन जन के लिए उप-लभ्य ग्रीर पाठ्य वन सकें, इसका प्रयास ग्राज ही उचित सावना है। तभी ब्राज का मानव कर भारिदत्त से मुनि मारिदत वन सकता है। तीर्थं करों की वाणी का प्रकाश ग्रीर उसकी ग्रमृतमयी शीतलता स्वयं ही यस्त विश्व की मार्ग ग्रीर ग्राश्वासन दे सकेगी । क्योंकि:-- 'जहां सत्य का सूत्र विद्यमान है, प्रभू की कृपा से वह जिह्ना के अप्र तक पहुँचता है। सुकर्मी लोग इसे ग्रच्छी प्रकार पा लेते हैं। कर्म हीनों का मार्ग नीचे की श्रीर रहता है।"

> ऋतस्य तन्तु विततः पवित्रं, भ्रा जिह्वाया भ्रभे वरुगस्य मायया । घीराश्चित्तत्समिनचन्त, ग्राशतात्रा कर्तमवपदात्यप्रभुः ॥

> > ( ऋक् ६।७३।६ )

१. इनके ग्रतिरिक्त महाकवि अर्द्ध दास का 'पृष्देव चंपू' है जो प्रकाशित भी हो चुका है।

# रीति कालीन जैन प्रबन्ध का॰य

विन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को ग्राचार्य राम-चन्द्र शुक्ल ने रीति काल के नाम से ग्रभिहित किया है। पं० विश्वरनाय मिश्र उसकी संज्ञा 'श्टुंगार काल' देते हैं और प्रो० नत्ददुलारे वाजपेयी उसे 'मुक्तक युग' कहना ग्रधिक समीचीन रामभते हैं। इस युग का नाम करण करते समय सभी विद्वानों ने प्रवन्य काव्यों की ग्रवहेलना की है। इस वाल में इतने ग्रधिक प्रवन्य काव्यों की रचना हुई है कि यदि उन पर हिष्टिपात किया जाय ग्रीर शोध के द्वारा उन्हें प्रकाश में लाया जाय तो पुन: इस युग के नामकरण की समस्या पर विचार करना पढ़ेगा।

इस युग में ऐतिहासिक 'पौराणिक' प्रेमाच्यानक एवं नीतिपरक इत्यादि ग्रनेक प्रकार के प्रवन्य काव्यों की रचना हुई। यहां हमें केवल जैन कवियों हारा रचित प्रवन्य काव्यों पर ही विचार करना ग्रभीष्ट है। जैन कवियों की प्रवन्य काव्य परम्परा ग्रपन्नंश काल से ही निरन्तर चलती रही। इन कवियों ने शलाका पुरुषों के चरित्रों को ग्राधार बना कर ग्रथवा किसी जन या पर्व की महत्ता प्रदश्ति करने के निमित्त ग्रपने प्रवन्य काव्यों की रचना की। कित्रय प्रवन्य काव्य हिन्दुमों में प्रचलित कथानकों के ग्राधार पर भी लिखे गए, जिनको जैन धर्मा-नुसार परिवर्तित कर दिया गया।

इस युग का सर्व प्रथम हैन प्रदस्य बाव्य 'पियती चरित्र हैं, जिसकी रचना सं० १७०७ में लब्धोदय नामक किन ने मेवाड़ के महाराखा जगतिमह की खाला से गी। इस प्रस्य की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्यानी है। किन ने कपानक का निर्माह गुरानता से करते हुए प्रयमन्दुरुष इस युग में जब कि हिन्दी में शृंगार की धारा श्रश्लील के पंक से फलुपित हो रही थी, जैन कि वयों ने मुन्दर प्रयन्थ काव्यों की रचना करके मां भारती के शीप को गौरवान्त्रित रचा। हिन्दी साहित्य के इतिहान लेखकों को इन कृतियों की श्रवहेलना नहीं करनी चाहिए। यदि इन बंधों पर विचार किया जाय तो निह्नत ही रीति-पाल सम्बन्धी धारमाशों में परिवर्तन परने के लिये बाध्य होना परंगा।

सभी रसों का नफलता ने परिशाक विधा है। विद राम चन्द्र ने नंद १६१३ में 'सीता धरित' सामत चन्द्र ना अपना किया। इस प्रंप का प्रधानक धानकीति सामाद्रण तथा प्रत्य नभी राम पार्थ्यों ने भिन्द्र है। इस प्रदेश प्रमुखार सीता जनक भी पति विदेश के एमं ने एएएन हुई घी। नारत के साप में नंदरा मा हो जुन्दा भाई उस पर मोहिन हो गया था, निर्मु धना में घमुमंत्र्य के बाद साम के बाद ही यह पित्ति हुई। इस घम पे पार्ट्स का पर ना हो यह पित्ति हुई। इस घम पे पार्ट्स का पर ना है। यह पित्ति हुई। इस घम पे पार्ट्स का पर ना साम के बाद है। इस घम प्राप्त है। इस घम प्रदेश का प्राप्त के साम प्राप्त के साम प्राप्त की साम प्राप्त है। इस घम प्राप्त के साम प्राप्त की साम प्राप्त है। इस घम प्राप्त के साम प्राप्त की साम

कथानक राम सम्बन्धी ग्रन्य कथानकों से सर्वथा भिन्न है। काव्य में सरस प्रवाह ग्रीर कल्पना-वैभव प्रशंसनीय है।

इस युग के अन्य कान्यों में रामचन्द्र का 'जम्बू चरित्र' (सं० १७२०) कवि जोघ का 'प्रीतंकार चरित्र' (सं० १७२१) अजय राज का भी 'प्रीतंकार चरित्र' जिन हर्प का 'श्रे शिक चरित्र' (सं० १७२४) जिन चन्द्र का 'विक्रम चरित्र' (सं० १७२४) उल्लेखनीय है। कवि भगवती दास ने (सं० १७३१) में 'लघुसीता सत्' नामक उत्कृष्ट कोटि के खएड काव्य की रचना की | इस ग्रंथ में किन ने प्रौढ शैली में सीता के सतीत्व का चित्रण किया है। रावण तथा मन्दोदरी के अन्तर्द्वन्द का वड़ा मामिक एवं हृदयावर्जंक वर्ण्न हुन्ना है। कथानक के माध्यम से सरसता पूर्वक कवि ने जिन नैतिक ग्रादशों की प्रतिष्ठा की है, वे काव्य कला से मंडित होकर श्रीर भी चमक उठे हैं। इसके अतिरिक्त विजय हर्ष का 'सुर सुन्दर प्रबन्ध' (सं० १७३६) 'भट्टारक विश्वभूपरा' का 'जिनदत्त चरित्र' (सं० १७३८) विनय विजय तया जस विजय का 'श्री पाल रास' (सं० १७३८) 'गंगेश मिश्र का 'विक्रम विलास' (सं० १७३६), हरखचन्द साघुका 'श्रीपाल चरित्र' (सं० १७४०)जिन हर्प का 'श्रीपाल रास' (सं० १७४०) घर्म मन्दिर गिए का 'चोपी मुनि चरित्र' (सं० १७४१) विनोदी लाल अग्रवाल का 'भक्तासर चरित्र (सं० १७५०) एवं भूघरदास का 'कलियुग चरित्र' (सं० १७५७) इस युग की सामान्य रचनायें हैं।

हेमरल सूरि नामक किव ने सं० १७६० में पिदानी चौपाई नामक काव्य की रचना की । यह एक सरस एवं मनोहर खंड काव्य है । इस काव्य की भाषा मधुर राज-स्थानी है । इस में किव ने ग्रधिकांश दोहा ग्रोर चौपाई छन्दों का ही प्रयोग किया है, किन्तु बीच बीच में छप्पय तथा सबैया ग्रादि भी ग्रपनाए हैं। किव खेमचन्द ने सं० १७६१ में 'गुएएमाल चरित्र' नामक एक श्रेष्ठ ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ में किव ने गोरखपुर के राजकुमार गर्जासह तथा एक श्रेट्ठीकन्या गुएएमाल के प्रेम विवाह एवं जीवन का वर्णन किया है। गुएएमाल का पावन चरित्र, पतिव्रत का ग्रादर्श तथा नारीत्व का गौरव है। गर्जासह का चरित्र

भी हढ़ता एवं शील का परमोज्जवल स्वरूप उपस्थित करता है। किव को मानव जीवन के राग विरागों का मामिक चित्रण करने में ग्राशातीत सफलता प्राप्त हुई है। महाकाव्य के समान जीवन की विभिन्न दशाग्रों का चित्रण हुग्रा है। किव ने प्रसंगानुकूल वन, नदी, सन्ध्या तथा उपा इत्यादि प्राकृतिक दृश्यों को मूर्तिमान करके दिखा दिया श्रीर यथावसर श्रुंगार, करुण, वीर, वीभत्स एवं शान्त रस की स्त्रोतिस्वनी प्रवाहित की है। काव्यं की भाषा भी परिष्कृत एवं ग्रलंकृत है। सभी हिष्टयों से यह काव्य ग्रत्यन्त सफल है। ग्रठारहवीं शताब्दी के श्रन्य काव्यों में विजय पित का 'मलय चरित्र' सं०१६०६१ किशन सिंह का 'भद्रवाहु चरित्र' ,सं० १६०६१ तथा खुशाल सिंह के 'घन्य कुमार चरित्र' 'जम्बू चरित्र एवं 'यशोघर चरित्र' (सं० १७६६) उत्लेखनीय हैं।

जन्नीसवीं शताब्दी में नथमल विलाला के 'नाय कुमार चरित्र' सं० १८१०, जम्बू स्वामी चरित्र सं० १८२४ तथा जीवंदर चरित्र सं० १८३४, भारूमल ने 'चारुदत्त चरित्र' ग्रोर 'सप्त व्यसन चरित्र' सं० १८१३ विजयकीर्ति ने 'श्रेणिक चरित्र' सं० १८२० तथा लाल चन्द ने 'वरांग चरित्र' सं० १८२७, की रचना की।

इस युग में नवल राय खंडेलवाल ने 'वर्ड मानचरित्र'
(सं० १८२५-२६) नामक महाकाव्य का प्रणायन किया।
इस ग्रन्थ में ग्रन्तिम जैन तीथंकर भगवान महावीर का
चरित्र सोलह ग्रधिकारों (ग्रध्यायों) में विणित है। किव
ने वर्ड मान के पूर्व भावों का वर्णान करने के ग्रन्तर
उनके जन्म, वाल्यकाल तथा जीवन के सांगोपाङ्ग वर्णान
किया है। महावीर स्वामी के शीर्य एवं तेज का ग्रत्यन्त
प्रभावशाली वर्णान हुग्रा है। रानी प्रिय कारिणी के
सींदर्य का ग्रंकन करने में किव ने ग्रन्नी कल्पना शक्ति के
वैभव का दिग्दर्शन कराया है। इस काव्य की भाषा वज
है जिसमें बुन्देलखंडी ग्रीर खड़ी वोली का भी मिश्रण
हुग्रा है। ग्रलंकारों में उपमा, रूपक, उप्तेच तथा ग्रति—
शयोक्ति का वहुलता से प्रयोग हुग्रा है। यह ग्रन्थ वड़ा
सरस एवं मनोरम है।

सेवा राम ने 'भविष्य दत्त चरित्र' (सं० १८३१)

ग्रोर 'हनुमान चरित्र' (सं० १८३४), चेतन विजय ने
'सीता चरित्र' 'जम्बू चरित्र' ग्रीर श्रीपाल रास'
(सं० १६३०-५२) लाल चन्द ने श्रीपाल चौपाई
(सं० १८३७) तथा बूलचन्द ने 'प्रद्युम्न चरित्र'
(सं० १८४३) की रचना की।

कवि मनरंग लाल ने सं० १८५७ में 'नेमिचन्द्रिका' नामक ग्रत्यन्त सुन्दर खंडकाच्य का प्रणयन किया। इस काव्य में द्वारावती के राजकुमार नेमिकुमार का अपने ही विवाह के समय भोजन के लिये मारे जाने वाले पश्यों के करुए चीत्कार को सुनकर विरक्त होने की घटना का ग्रत्यन्त मर्मस्यशीं वर्णन किया गया है। उल्लास के वाता-वरण का विपाद में परिवर्तित हो जाना कितना हृदय द्रावक है ? नेमिकुमार की भावी पत्नी राजुल के विरह वर्णन में कवि की तन्मयता हिप्टगत होती है। राजुल एक श्रादशं भारतीय सती है, जो श्रात्मा से पित का वरण करके उसी के साथ तपस्विनी वन जाती है। उसका त्याग श्रीर पति भक्ति करुणा के जल से धुलकर श्रीर भी पावन हो जाती है, किन्तु यथावसर वारसल्य करुए। एवं विप्रलम्भ प्रृंगार का भी सुन्दर परिपाक हुन्ना है। इसकी भाषा कन्नोजी से प्रभावित खड़ी बोली है, जिसको किव ने प्रनेक प्रलंकारों से सज्जित किया है। किव ने मात्रिक तथा विशिक सभी प्रकार के अनेक छन्दों का प्रयोग कुशलता पूर्वक किया है।

इसी काल श्री जयवन्द जैन ने 'भक्तकार चरित्र' (सं० १८७०), कमल नयन ने 'जिनदत्त चरित्र' सं० १८७९ एवं वस्तावर मल्ल ने 'जिनदत्त चरित्र' (सं० १८६४) नामक चरित्र काल्यों की रचना की ।

इन चरित्र काव्यों के छितिरक्त इस युग में जैन किवयों ने प्रतेक पुराण काव्यों की भी रचना की, दो कथानक की धारा प्रवाहिणता के कारण प्रदस्य काव्यों की कोटि के ही आयेगे। कवि देवदक्त जैन ने संव १७६० में उत्तर पुराण की रचना की। इस ग्रंथ में घडिननाथ, संभव नाथ, छिभनन्दन, सुमितनाथ, पदमप्रजु, पाहर्यनाथ चन्द्र प्रमु, ग्रीर महाबीर स्वामी इन माठ तीर्षं रों के चिरत का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्य दोहा चौरा-इयों में लिखा गया है। इसकी किवता उत्तम तया प्रसाद गुण सम्यन्न है। किव बुलाकीदास ने ग्रपनी विदुषी माता के ग्राग्रह से सं० १७५४ में 'पांड्य पुराण' की रचना की। इस ग्रंथ की देखने से किव प्रतिभावान प्रतीत होता है। लेकिन काव्य रचना मन्यम कोटि की है। कहीं वहीं काव्य की उत्क्रप्टता भी मिलती है। देवदत दीस्ति ने 'चन्द्रप्रभ पुराण' (सं० १७५६) तथा पुराल चन्द्र ने 'हरिवंश पुराण' (सं० १७६०) 'परम पुराण' (सं० १७६२) तथा उत्तर पुराण (मं० १७६६) नामक ग्रंथ लिखे।

इस युग के पुराण काव्यों में कवि भूपर दान का 'पार्श्वपुराणा' (सं० १७८६) सर्वोत्कष्ट काव्य प्रन्य है। इसमें कवि की स्वतन्त्र कराना शक्ति एवं उद्भाविनी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। प्रसिद्ध तीर्धकर पार्श्वनाय के घाठ पूर्वभावों का घर्भुन, किन्तु स्वाभाविक वर्णन करते हुए कवि ने उनके मादशं चरित्र का मकलता में भंदन किया है। कथानक में जैसा मुन्दर प्रवाह मिलता है, यह कृषि की प्रवन्य पद्भा का चौतक है । नायक पार्श्वनाक को जीवन की धनेक परिस्थितियों में टान कर फीर उनका मामिक चित्रण करके कवि ने धानी भारतना गा परिचय दिया है । श्री नेमिचन्द्र साम्त्री ने लिला है-'जीवन का इतना सर्वागीए। भीर स्थस्य विवेचन एकाः महाकाव्य में ही मिलेगा।' इस काव्य का प्रायम रस हो शान्त ही है, जिल्तु बयावनर घत्य रनों ना भी नमादेत किया गया है। माध्य में जहां मरन भीर गुण्यर हुएए-स्वर्धी वर्णन मिनते है, वर्ग नैतिर स्वदंशी शाशी श्रमाव नहीं हैं। यदि वी भाषा साहित्यण प्रष्ट एतं रंती सर्वष्टत है। यस्तु पर्णन, भाद-प्रयंत्रता एवं सरिव गारी हिट्यों ने यह बाम्य उत्तम है। बिर पर्मदेश ने भी 'पाहर्व प्रसत्ता' सं ० १७८६ की करता की है।

श्टारक विनेत्र प्रयम् ने 'नेमिनाव पुराण' (सं १८००) धीर सादि पुराण (सं १८१२) राजधार ने 'विस्तास पुराण' (सं १८१८) राज सेवाएस ने

'शान्ति पुराएा' (सं० १८४४) की रचना की । इन्द्रजीत ने 'उत्तर पुराएा' लिखा, जिसमें मुनि सुव्रतनाथ, कु थनाथ ग्रर:नाथ ग्रोर मिल्लनाथ नामक जैन तीर्थंकरो का वर्णन किया गया है। कवि ने दोहा, चौपाई, सौरठा, नराच इत्यादि छन्दों का प्रयोग किया है। इन्हीं कवि के 'श्रीमुनि स्वतप्राण' (सं० १८४५) नामक ग्रंथ का भी उल्लेख मिलता है । विजयनाय माथुर ने 'वर्द्धमान पूराण' (सं० १८६१) का अनुवाद किया । सावन्त राम ने 'द्रोपदी चीपाई' (सं० १८६३) की रचना की । इस कृति में पदों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। कवि ने राजस्यानी भाषा में द्रोपदी का चरित्रांकन जैन दृष्टिकोण से किया है। दस्तावर मस्ल ने 'नेमिचन्द पुराण्' लिखा। कवि म्रजितदास ने मपने पिता की मन्तिम इच्छा पूर्ण करने के लिए 'जैन रामायण' की रचना करना ग्रारम्भ किया। किन्तु वे ७१ सर्ग पूर्ण करके ही ग्रसमय में काल कवलित हो गए और यह विशाल ग्रंथ म्रवूरा रह गया।

इन ग्रंथों के ग्रतिरिक्त जैन किवयों ने न्रतों, पर्वों का महत्व प्रदिशत करने तथा जैन धर्म सम्बन्धी नैतिक ग्रादशों को प्रतिष्ठित करने के लिए ग्रनेक ग्रास्थान काव्यों की भी रचना की। निवन्य का कलेवर वढ़ जाने के भय से हम उनका उल्लेख न करके लेखनी को विराम देना ही उचित समभते हैं।

महने का तात्पयं यह है कि इस युग में जब कि हिन्दी में शृंगार की घारा अश्लील के पंक से कलुपित हो रही थी, जैन किवयों ने सुन्दर प्रवन्ध काव्यों की रचना करके मां भारती के शीप को गौरवन्वित रखा। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों को इन कृतियों की अबहेलना नहीं करनी चाहिए। यदि इन ग्रंथों पर विचार किया जाय तो निश्चित ही रीति काल सम्बन्धी घारणाम्रों में परिवर्तन करने के लिए वाध्य होना पड़ेगा।

पारचात्य विद्वान मि० सर विलियम और हैसिल्टन के मध्यस्थ विचारों के विशाल मन्दिर का आधार जैनों के इस अपेचावाद का ही दूसरा नाम नयवाद है।

× × ×

'विशेषतः प्राचीन भारत में किसी धर्मान्तर से कुछ प्रहण करके एक नूतन धर्म प्रचार करने की प्रथा ही नहीं थी, जैन-धर्म हिन्दू-धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है उसकी शाखा रूपान्तर नहीं।'

-वैदज्ञ प्रो० मैनसमूलर सा०

डा० बृजमोहन शर्मा एम. ए., पी. एत्र. डी. भादवा (जयपुर)

# हिंदी की प्रारम्भिक अवस्था में जैनों की देन

तिंमान भारतीय ग्रार्य भाषाग्रों (वोलचाल के रूप)
का ग्रारंभ करीव १००० ई० के बाद से माना
जातां है ग्रीर इसके पूर्व ग्रपभंश का । भाषा के बोल
चाल के रूप का विकास पहले होता है ग्रीर द्रुतगित
से होता है। जब ग्रपभंश भाषा का साहित्यिक रूप
चरमावस्था पर था, तभी करीव ११ वीं शताब्दी में
ग्रपभंश के बोल चाल का रूप विकसित होकर पुरानी
हिन्दी हो गया।

'हिमचन्द्र ने अपभ्रंश श्रीर ग्राम्य—भाषा में अन्तर किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय अपभ्रंश बोलचाल की भाषा नहीं रह गई थी।। हेमचन्द्र के आसपास ही अपभ्रंशकाल (बोलचाल का रूप) समाप्त हो गया। ईसा की १३ वीं श्रीर १४ वीं शताब्दी से तो आधुनिक भारतीय भाषाश्रों के प्रारंभिक साहित्यिक ग्रंय मिल्ने लग जाते हैं। इस हिन्द्र से ईसा की ११ वीं शताब्दी अपभ्रंश (बोलचाल के रूप) की श्रंतिम तिथि प्रतीत होती है।"

प्रारंभ में हिंदी ग्रप्तंश की गीद में पनती रही। प्राप्तंश का बोलचाल का रूप हिंदी की घोर पहले उन्मुख हुमा घोर साहित्यिक रूप बाद में। एसी प्रकार हिंदी का जन्म कथाभाषा (बोलचाल के रूप) में पहले हुमा घोर साहित्य के चेत्र में बाद में।

इस भाषा-विकास-प्रम पर तत्कालीन नुघारवादी मान्दोलनों का प्रभाव विशेष महत्वपूर्ण है। नुघारवादी श्रन्य प्रमुख शिक्त यें के साथ जैन साहित्यकारों तथा सुधारकों ने भी हिंदी की प्रारम्भिक श्रयस्था में नहत्यपूर्ण योग दिया है। इस सम्बन्ध ने शोध-विद्यार्थी श्रनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का स्ट्याटन कर सकते हैं।

धान्दोलन तत्कालीन प्रचलित युगाइयों को दूर करने के लिए उसकाल के पूर्व के धायरों समाज धौर माहित्य का उदाहरण प्रस्तुत करके मुधार का प्रयत्न करने हैं। हमारे धालोच्यवाल के पूर्व संस्कृत का प्राणस्य था। मंग्यत साहित्य का प्रभाव प्राय: मभी मुभारवाणी धान्दोक्तों के हारा तत्कालीन समाज धौर साहित्य को प्रेरणा देने लगा। मंस्कृत के इन प्रभाव ने मंग्या के तत्मम प्राप्ते को प्रमत्ति कर दिया, जो पहले बोलनाल में धौर हुए समय उपरांत माहित्य में प्रमुक्त होने मने। प्राप्ति धौर ध्रवस्त्र में मंग्यत के तत्सम प्राप्ते का प्रयोग में भागा के एक महान परिवर्तन उपरिधन कर दिया को ध्रवस्त्र के किस्म का छोलक है।

बीद्धयमं की प्रतिसादस्या की अविक्रिया गोल्यायालं के वैदिक समानी सम्प्रदाय में संस्कृत ने स्थलन पर देखते हैं। शंकर के प्रभाव में सम्बद्धित सामनोत्त के

<sup>(</sup>१) 'हिंदी के विकास में घपर्य व का योग' (नानयरसिंह) पुष्ठ १४।

संस्कृत के तत्सम शब्दों का समावेश हो गया जो हिंदी के जन्म का कारण बना।

ईसा की प्रथम शतान्दी में जैन किन निमल सूरि द्वारा रामकथा पर निमित प्राकृत कान्य 'पउन चरिउ' (पद्म चरित्र) का सन् ६७५ ई० में जैन किन रिनिपेण ने संस्कृत रूपांतर करके तत्कालीन ७ वीं शतान्दी के धार्मिक वातानरण में संस्कृत के तत्सम शन्दों का समानेश किया, जिसके अपभ्रंश से हिंदी की और भाषा का विकास हुआ। इसी रामकथा को लेकर जैन किन 'स्वयंभू ने आठवीं शतान्दी में 'पदम चरित्र' (रामायण) लिखकर हिंदी का सनसे पुराना और सबसे उत्तम किन का आसन ग्रहण किया। यहीं से हिंदी का जन्म होता है।

राहुल जी ने अपनी 'हिंदी-काव्य-घारा' में सरट या ग्रादि सिद्ध और स्वयंभू तथा पुष्पदंत ग्रादि जैन साहित्यकारों के काव्य को हिंदी का सबसे पुराना ग्रार उत्तम काव्य घोषित किया है। ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रीर हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी यही मत रहा है। ईसा की ग्राठवीं शताब्दी में रिचत उद्योतन सूरि की 'कुवलय माला' में मच्यदेश के विष्णक की भाषा नमूना 'तेरे मेरे ग्राड' वतलाया है। यह स्पष्ट संकेत है कि तरकालीन मध्यदेश की कथा भाषा हिंदी का जन्म हो रहा था ग्रीर लोक व्यवहार की भाषा के प्राधार पर इसका ग्राखल भारतीय महत्व होने जा रहा था।

जैन मुनि देवसेन (१० वीं शताब्दी) श्रीर मुनि रामसिंह (११ वीं शताब्दी) श्रादि सुघारकों ने उस समय की लोकभाषा को ही श्रवनी उक्तियों का माध्यम बनाया तथा सबकी समभ में श्राने योग्य कथन शैली का प्रयोग किया।

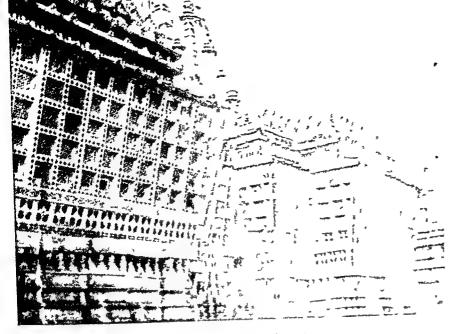
अन्य प्रमुख शक्तियों के साथ जैन साहित्यकारों तथा सुवारकों ने भी हिंदी की प्रारंभिक अवस्था में महत्वपूर्ण योग दिया है। इस सम्बन्य में शोघविद्यार्थी अनेक महत्व-पूर्ण तथ्यों का उद्घाटन कर सकते हैं।

जैन जाति द्या के लिए खास प्रसिद्ध है, श्रीर द्या के लिये हजारों रुपया खर्च करती हैं। जैनी पहले ज्त्री थे, यह उनके चेहरे व नाम से भी जाना जाता है। जैनी श्राधिक शान्ति प्रिय हैं।

जैन हितेच्छु पुस्तक १६ श्रङ्क ११ में से।

—श्री ग्राटोरोय फिल्ड सा० कलेवटर

<sup>(</sup>१) हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचंद्र गुक्ल) पृष्ठ १६ं।



लूदर्वा का जैन मन्दिर जैसलमेर

\*



水

लुक्यों ने ईन मित्र मा गण्य एप



# देवसेन का भावसंग्रह

देवसेन के बनाये हुये दर्शनसार, ग्राराधनासार, तत्व-सार, नयचक ग्रालापपद्धति, ग्रौर भावसग्रह ये ग्रंथ इदाजी उपलब्ध होते हैं। इनमें से सिर्फ दर्शनसार में उंसका रचनाकाल वि० सं० ६६० दिया हुग्रा है। शेप प्रत्यों में रचनाकाल का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। श्रीर भाव संग्रह को छोड़ कर शेप ग्रंथों में कहीं देवसेन ने अपने गुरु का नाम भी नहीं लिखा है। ऐसी हालत में यह पता लगाना बड़ा ही मूश्किल है कि इन सब ग्रंथों का कर्ता एक ही देवसेन है या देवसेन नाम के भिन्न २ व्यक्ति ? श्रीर उनमें कीन कव हुग्रा है । क्योंकि हमारे यहां एक नाम के भ्रनेक जुदे जुदे ग्रंथकार भी हुये हैं। इतने पर भी कुछ विद्वान् इन ग्रन्थों में से भावसंग्रह ग्रन्थ के कर्ता उन्हों देवसेन को मान रहे हैं जिन्होंने वि. सं. ६६० में दर्शनसार ग्रन्थ रचा है। इस मान्यता का श्राधार ऐसा कोई समर्थ ऐतिहासिक प्रमाण भी नहीं वताया गया है जिससे सिद्ध होता हो कि यह "भावसंग्रह" वाकई उन्ही दर्शनसार के कर्ता देवसेन का बनाया हुआ है। जब किसी ग्रंध के रचनाकाल का पता ऐतिहासिक साघनों से नहीं लग सकता हो तो एक श्रीर भी साघन पता लगाने का है। भीर वह उस ग्रंथ के कथनों की मंतरंग जांच करना। इस प्रकार की जांच से भौर नहीं तो भी इतना परिज्ञान तो भावसंग्रह के विषय में हो सकता है कि इस तरह का वर्णन तो धमुक शनाव्दी में ही संभवनीय है या प्रमुक वर्णन प्राचीन दैवमेना चायं के द्वारा होना संभव नही है। इसी खयाल से मैने प्रस्तुत लेख में उक्त भावसंग्रह ग्रंथ की मंतरंग जांच करने का प्रयास किया है। इस जांच से पाठक देखेंने कि यह भाव संग्रह ग्रंथ उन दशवीं शताब्दी में होने वाले देवनेन गा तो बनाया हुन्ना नहीं हो सबता है जिन्होंने दर्शनसार ग्रंप निखा है। नीचे इतकी चर्चा की बाती है-

प्रस्तुत लेख में देवसेन के 'भाव-संप्रह' प्रन्थ पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। खोज कर्ताओं के लिये यह काफी उपयोगी प्रमाणित होगा।

(१) "मांस से पितरों की दृष्ति होती है" ऐगा वैदिक मत वा सिद्धान्त है। इस मिद्धान्त का गरेन करने हुये भावसंग्रहकार ने धैदिक मत के "नाभि रणने वसेन ब्रह्मा" ग्रादि ग्रादि रनोक पृ० १३ पर उक्तांच स्प से उद्धृत किये हैं। जिनमें लिया है कि "जीवों के नानि स्थान में ब्रह्मा, कंट में दिप्या, तालवे में रह, जनाट में महेश्वर, ग्रीर नाक के ग्रग्न में शिव निदास करने हैं।" ऐसा बतलाकर ग्रागे गाया निम्ननिध्त दी है—

सन्वामु जीवरासिमु एए शिवसिम पंत्र टारीसु । जह तो कि पमुबहरों सा मारिया होति ते सन्दे ॥ र आ

देवे वहिक्कण गुग्गा लब्भद जद हाम जनमा के हैं। तो तरक्ष पंदण्या प्रवरे गरदिया मध्ये ॥ ८०॥

मर्थ—सबही जीवीं के नामि छादि पंच स्थानीं से यदि ये बहार विष्णु सादि नियान गरने हैं तो पर्याप करने से देन बहार बादि देनों या परा होता भी गरी द माना जावेगा। सीर यदि कोई सनम प्राप्त देशों का विष्यंन करने ने हुए। ब्राप्त गरी हैं तो देन कृतिहाँ विष्यंनक यवन भी देशनीय माने काले गरी दे धीर तेल सब पानी माने काने परिष्टं।

सामा में बादे तुरवर्ष राद्य हैं। होतान समा नुसार होती है। बीट तुरवर राद्य का बार्ट तक तार्थ बान होता है। बार्यहर की ब्रामित में तेर सामा प्रदी ने भी मुक्त राज्य का बदीत बार समी दिल्ला है। भाव तंग्रह की अगमेर की लिखित प्रति में "तुक्वक वंदाएया" पाठ के स्थान में "तो तुक्कक वंदाएाया" पाठ है जो ठीक जान पड़ता है। इससे छंदभंग भी मिट जाता है। इतिहासकार भारत में यवनों के शासन का प्रारंभ ई. १३ वीं शताब्दी से मानते हैं। अतः उक्त कथन से भाव संग्रह १३ वीं शताब्दी से पूर्व का बना सिद्ध नहीं होता है।

(२) श्वेतांवर मत में स्यविर कल्पी साघु के लिये वस्त्र घारण करना विघेय वताया है। उसका निराकरण करते हुये भावसंग्रह में उसे स्यविर कल्प न वताकर गृहस्य कला कहा है। इसी प्रसंग में भाव संग्रह कार ने गाया ११६ से १३२ तक में जिन कल्प स्थविर कल्प का स्वरूप भी वर्णन किया है। उसमें ग्रापने वन कंदराश्रों में रहना यह जिन कल्पी की क्रिया वताई है श्रीर पुर नगर ग्रामों में रहना यह स्थविर कल्पी की क्रिया वताई है। किन्तु स्थविर कल्पी साघुग्रों के लिये भी नगर ग्रामों में रहने का विघान किसी मान्य श्रागम में नही मिलता है। इसके लिये श्रीजिनसेनाचार्य कृत ग्रादिपुराण का निम्न श्लोक देखिये—

ततो विविक्त शायित्वं वनेवासश्च योगिनाम । इतिशा घारणो मार्गा जिनस्यविर कल्पयोः

।।७६॥ पर्व २१

श्रथं—इसिलये योगियों को एकांत में रहना श्रीर वन में वसना चाहिए। चाहे जिन कत्पी हो या स्थितर कल्पी हो दोनों ही प्रकार के साधुश्रों के लिये यही सामान्य मार्ग है।

इन्ही के शिष्य ग्राचार्य गुणभद्र ने तो ग्रात्मानुशासन में रात्रि के समय में भी मुनि को नगर के समीप ग्रा वसने में ही खेद प्रकट किया है। इन्ही जिनसेन गुणभद्र के ऊपर दर्शन सार के कर्ता देवसेन की कँसी श्रद्धा थी? वे उन्हें कितने उच्चकीटि के मुनि मानते थे इस संवन्च में दर्शनसार की गाथा ३०-३१ में वे लिखते हैं कि—

"वीरसेन के शिष्य जिनसेन सकलशास्त्र के ज्ञाता हुये जो श्रीपद्मनंदि (कुंद कुंद ) के वाद चार संघ के उद्गार करने में समर्थ हुए। इनके शिष्य गुग्गभद्र हुये जो गुण्यान्, दिन्य ज्ञानी, पद्मोपवासी, शुद्धवुद्धि, महातपस्वी भीर भावलिगीथे।''

जो देवसेन दर्शनसार में जिन जिनसेन-गुराभद्र के प्रति इतना सम्मान व्यक्त करते हैं वे ही देवसेन भावसंग्रह में जिनसेन की ग्राम्नाय के विरुद्ध स्थविर कल्पी साधुग्रों के लिये नगर ग्राम में रहने का कथन करने लग जावें ग्रह बात बुद्धि में बैठने गोग्य नहीं है। इसलिये न तो इस भावसंग्रह के कर्ता वे देवसेन हैं जिन्होंने दर्शनसार बनाया है ग्रीर न यह भावसंग्रह कोई प्राचीन ग्रंन्य ही है। यह तो स्पट्ट ही शिथिलाचार के जमाने का बना सिद्ध होता है।

भाव संग्रह में जिन कल्पी के लिए यह भी लिखा है कि ''वर्षा ऋतु में वे छह मास तक निराहार कायोत्सर्ग में स्थित रहते हैं।'' (गाया १२१)

इसी के ग्रनुरूप वामदेव ने भी संस्कृत भाव संग्रह में में ऐसा लिखा है ---

यह कथन भी भावसंग्रहकार का ग्रत्युक्तिपूर्ण है 
ग्रीर वह जिनकरों की चर्या को बहुत ग्रविक कठिन
बताने की गरज से किया गया प्रतीत होता है। इमसे
ग्रंथकार ने यह दर्शाने का प्रयत्य किया है कि बन कंदराग्नों में रहना ग्रीर वर्षा में ६ मास तक निराहार तिष्ठना
ग्रादि जिनकराकी चर्या चड़ी दुर्शर है। उसका पालन
सभी साधुग्नों के लिए शक्य नहीं है।

अगर जिनकल्योको ऐसी ही चर्या है तो तीर्थंकर को कि सब जिनकल्यो ही होते हैं तो क्या वे सब छह मास तक वर्षा में निराहार ही रहते है। ऐसा वर्णन जनके चिरत्र ग्रन्थों में तो लिखा नहीं देखा जाता है। विक गुणभप्राचार्य कृत उत्तर पुराण में तो लिखा है, कि—''नेमिनाथ स्वामी ने श्रावण शुक्जा ६ को दी जा ली और दी ज्ञादिन से वेना के बाद ही उन्होंने पारणा किया।

५६ दिन मुनिग्रवस्था में रहकर ग्राश्विन श्क्ला १ को वेला के नियम में केवलज्ञान पाया।" प्रयात् नेमिनाय स्वामी ने वर्षाऋतु में ही दीचा ली ग्रीर उसी ऋतु में ही केवल ज्ञान पाया । वर्षा ऋतू के इन ५६ दिनों में ही न जाने उन्होंने कितनी वार ब्राहार लिया है। दो वार म्राहार लेने का प्रसंग तो कथा में ही बता दिया है। तत्र जिनकल्पी के लिए वर्षाऋतू में ६ मास तक निराहार श्रीर कायोत्सर्ग में स्थित रहने का नियम कहां रहा ? तथा भावसंग्रह में जिनकल्पी को मौन से रहना भी प्रति-पादन किया है। किन्तु मूलाचार ग्रधिकार ४ गाया १४६ में जो एक विहारी मुनि के लक्ष्ण वताये हैं वहां उनके लिए मौनी रहना श्रीर वर्षाऋतु में ६ मास तक निराहार रहना नहीं बताया है। म्राम तौर पर स्विबर-फल्पी का ग्रथं संघ में रहना ग्रीर जिनकल्पी का ग्रयं एक विहारी होना ही समभा जाता है । वामदेव ने भी संस्कृत भावसंग्रह के श्लोक २७७ में यही लिखा है कि स्यदिर आदि मुनिगुणों के रक्तण पोपण की इच्छा रखने वाले स्यविर कल्पी मृनि वहलाते हैं, श्रीर यही वात भाव संग्रह-कार ने भी गाया १२६ में कही है। किन्तु वे इन दोनों करपों का स्वरूप अन्य गाथाओं में बताते हुए इस मूरय लक्तण पर स्थिर नहीं रहे है और यदा तदा कथन कर गये हैं। वे लिखते हैं कि-"खड़े होकर करपात्र में एक-बार झाहार लेना, पीछी स्नादि उपकरण रखना, पृथ्वी पर सीना, लींच करना छह ग्रावश्यकों का पालना ग्रादि स्यविर फल्पीकी चर्या है। श्रीर घर्म शुक्तध्यानी निष्त्रपायी, मीनी, निस्पृही ग्रादि रूप से रहने की जिन-कल्पीकी चर्या है।" इससे भावसंग्रहवार वा ग्रमिप्राय ऐसा मालूम होने लगता है कि जैसे मानों वे सातवें घादि क्यर के गुग्रस्थान वर्ती वो ही जिनवल्यी मानते हो और एउवें गुएस्यान वाले को स्वविर कत्वी मानते हो ? नही तो जिनकत्वी के ही लिये धर्मशुक्नाध्यानी धर्मद बताने य स्पविर कल्पी ही के लिए झाहार करना, लीच करना, भादि प्रवृत्यात्मक लियाएं दता। मा भीर गया मतलद हो सकता है। विन्तु वे घपनी इस वयोल गल्पिन मान्यता पर भी मारुड़ नहीं रहे हैं। बदीवि वे जिनवन्ती ने लिए पांव में लगे बांटे और फ्रांस में पड़ी रह दो स्टबं न

निकालने व वर्षा में निराहार रहने का भी छादेश देते हैं। इससे सातकें ग्रादि कार के गुण्स्यानी को जिनकारी मानने का भी कोई सम्बन्ध नहीं बैठना है। इस नगर भावसंग्रहकार का कथन इस सम्बन्ध में दिन्युत ही अजीव सा हो गया है। भीर वे इस बादन कोई निज्यित सिद्धान्त स्थिर नहीं कर सके हैं। यह सब गड़दा दिल्या चार को स्थितर कला बनाने के प्रयान में हूरी है। इस प्रकार के अयुक्त वर्णन किये जाने की धारा प्राचीन देवसेनाचार्य से नहीं की जा मकती है।

(३) भावसंग्रह की गाया १२४ में ग्यंदिरणारी के लिए यह भी लिखा है कि ''यह पांच प्रवाद के दक्षी का त्यागी होता है।'' किन्तु ऐसा त्यागी तो जिनकारी भी होता है किर यहां प्रवेत स्वविरकारी के ही लिए ऐसा कथन वयों किया ? इस कथन ने शायद प्रणाशा का ग्राशय यह हो कि वे स्थियर कर्यो प्रवित्त के लिए पांच प्रकार से भिन्न तृग्ण पर्म का उपयोग कर लेटा जायज समभते हो। इसके नमपंच में भावक्षा की हस्तिलिखत कुछ प्रतियों में उन्होंच गाय में विम्कृतिस्था पद्य भी लिखा मिलता है—

ग्रन्डज बुन्टम रोमजचर्म जयनगत पंत रोत्याति । परिहत्य तृराज चेतं यो गृतीयात भवेतु स वितः ॥

इसमें निया है जि—' सूती, रेशमी, उती, नारे य वृत्तों की बत्ताली ने बने ऐसे इस पांच प्रकार के दर्गी का स्थानकर की स्थाने दने दन्त की प्रतार करता है यह पति हैंहै।"

नयन की अपुत्तका को पेयक कियों के इनके नीथे यक्ता में 'सी प्रतीयात न अरेक से किया' लाइ बना दिया है। जिन्तु पाट के ''य' संघल देना देने के दिन्द भीय होगा है और अवद्येशी करना साथ अपित होता है। उप भानगामध्य की साल दिनक की प्रतान संघा में निवाद प्रति में भी 'के दे से व्यक्ति के प्रतान होता की नाइ कार्य प्रदान की नाइ के दिन्द की प्रतान की प्रतान की नाइ के दिन्द की प्रतान की प्रतान की नाइ के दिन की प्रतान की प्रतान की नाइ के दिन की प्रतान की

हेला विकास विकास प्रकास प्रकास की है कहा है है है । वैवर्जी से की विकास है— "विशिष्ट संहननादिशत्तयभावे सित यद्यपि तपः पर्याय सहकारिभूत मन्न पान संयम शौच ज्ञानोपकरण तृण्यमय प्रावणादिकं किमपि गृह्वाति तथापि ममत्व न करोति।"

ग्रर्थ—''विशेष संहननादि शक्ति के न होने से तपका सहायक ग्रन्न पान ग्रीर संयम—शीच—ज्ञान के उपकरण पीछी कमंडलु शास्त्र व तृण्यमयवस्त्रादि कुछ भी साधु ग्रहण करता है। तथापि उसमें ममत्व नहीं करता है।''

विदित हो कि इन्हीं ब्रह्मदेवजी ने वृन्द्रव्यसंग्रह की टीका भी की है। राजस्थान ग्रन्थ सूची तृ० भाग के पृ-१८० पर टीका सहित इस ग्रन्थ का लिपिकाल वि० सं० १४१६ लिखा है। इससे ये १४१६ से पूर्व में हुए हैं ग्रीर उन्होंने किसी प्रतिष्ठा ग्रन्थ का भी निर्माण किया है ऐसा पं० ग्रजितकुमारजी शास्त्री ने वृद्रव्य संग्रह टीका पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है। ग्रधिकतर प्रतिष्ठा—शास्त्रों का निर्माण काल भी १४ वीं सदी ही रहा है। फलत: इन ब्रह्मदेवजी का समय भी १४वीं सदी ही ग्रनु—मान किया जा सकता है।

इस तरह मुनि के लिए तृग्णमयवस्त्र का विधान १४वीं शताब्दि झादि शिथिला चार के जमाने में हुआ है । अरेर वही समय भावसंग्रह का है। भावसंग्रहकार ने जिनकल्पी को तो वाह्याभ्यन्तर सब प्रकार के परिग्रह का त्यागी लिखा है मीर स्थविर कल्पी के लिए पन्चचेला का त्याग करना बताया है। इससे भावसंग्रहकार का साफ अभिप्राय यही प्रकट होता है कि उनके मत से स्थविर-कल्पी साधु पांच प्रकार के वस्त्र से भिन्न तृग्णमय चेल का उपयोग कर सकते हैं और जिनकल्पी किसी भी जाति के वस्त्र का उपयोग नहीं कर सकते। जिस प्रकार ग्रन्थांतरों में उत्सर्ग-अपवाद मार्ग की ग्रोट में शियिला—चार का पोपग्ण किया गया है उसी प्रकार भावसंग्रह में जिनकल्प-स्थविरकल्प की ग्रोट लेकर शिथिलाच।र का पोपग्ण किया है।

जो देवसेन दर्शनसार में मामूली मतभेद की वजह से ही मुनियों को जैनाभास करार देते हैं वे भाव संग्रह में ऐसा कथन करेंगे यह कदापि मानने में नही ग्रा सकता।

यहां यह समफ रखना चाहिये कि श्रासन के लिये मुनि का घास की बनी चटाई का उपयोग करना ऐसा श्रिमआय भाव संग्रह का नहीं है। वहां "तृगाज चेलं" वाक्य दिया गया है श्रीर चेल का उपयोग शीत से बचने के लिए श्रंगप्रत्यंग, को ढक कर किया जाता है। इसी भाव को ऊपर ब्रह्म देव ने "तृगामय श्रावरणं" शब्द से ब्यक्त किया है।

(४) जैसे सवस्त्र मुक्ति मानने वाले श्वेतांवरों के स्यिवर कल्प को भाव संग्रहकार ने गृहस्य कल्प बताया है वैसे ही भाव संग्रह में स्यिवर कल्पी दिगंवर साधुग्रों को जो चर्या लिखी है उसे हम दिगम्परों का शिथिलाचार कल्प कहदें तो कोई ग्रद्धिक्त न होगी। ऐसे शिथिलाचार कल्पी साधुग्रों की प्रशंसा भाव संग्रह की गाथा १३० में इस प्रकार वर्णन की है—

"संहनन की ग्रित हीनता दुपमाकाल ग्रौर मनकी चंचलता होते भी जो महावत के भार के घारण करने में उत्साही बने हुये हैं वे घीर घीर मुनि हैं।" इस गाथा का ग्राशय बहुत कुछ यशस्तिलक के इस पद्य से मिलता है।

काले किलो चले चित्ते देहे चान्नादि कीट के । एतच्चित्रं यदद्यपि जिनरूपघरा नराः ।।

तथा भाव संग्रह की कुछ हस्तिलिखित प्रतियों में यशस्तिलक के कई उक्तंच पद्य भी लिखे मिलते हैं। इससे भी भाव संग्रह का निर्माण यशस्तिलक के वाद में होना सिद्ध होता है।

इसके ग्रागे की गाथा में उक्त साधुग्रों की प्रशंसा जिस ढंग से वर्णन की है वह तो बड़ी ही विलक्षण है— वरिस सहस्सेण पुरा जं कम्मं हगाइ तेगा कायेगा। तं संवद वरिसेगा हु गिज्जरयह हीगासंहगागों।।१३१॥

. इसमें वताया है कि—"पहिले के मुनि अपनी उस कार्य से जिस कम को हजार वर्ण में खपा देते थे उस कम को इस काल में हीन संहनन का घारी मुनि वर्ष भर में ही निर्जरा कर ढालता है।" कहना न होगा कि भाव संग्रह का यह क्यन कितना आपित के योग्य है। साफ तौर से ऐसा कयन अपनी और अपने साथी साधुओं ने जैसी कुछ चर्चा बना रक्खी है उसके पोपए। की हिन्द से किया गया है। सचमुच ही अगर इस काल के साधु लोग कमों की इतनी अधिक निजरा कर डिंडालते हैं तो इनमें किसी के अविधिमन: पर्ययज्ञान व चारए। आदि विविध ऋदियां होती तो नहीं देखी गई हैं। और तब 'पंचम काल में मोद्गगमन का अभाव भी क्यों बताया जाता है?

कपर गाथा १३० ग्रीर १३१ में जो कथन किया गया है उसे घ्यान में रखकर ही भाव संग्रह की निम्न-लिखित गाथा की रचना हुई है—

रांहणणस्य गुणेण य दुस्सभकालस्स तवपहावेण । पुरणयर गामवासी थविरे कप्पे ठिया जाहा ॥१२७॥

अर्थ-संहतन के गुण से अर्थात् हीतसंहतन वाले साधु के अधिक निजंरा होती है जैसा कि गाथा १३१ में कहा है। यह तो हुआ संहतन का गुण और दु:पम काल के तप के प्रभाव से अर्थात् पंचमकाल में इस समय हीत संहतन और मन की अस्थिरता होते भी महान्नती साधु वने हुये हैं जैसा कि गाथा १३० में कहा है। यह हुआ दु:पमकाल के तप का प्रभाव। इन कारणों से साधुयों का पुरतगर ग्राम में रहना स्थिवर कत्य माना जाता है।

भाव संग्रह की गाथा १३१ वीं को रत्नादि ने अपने वनाये भद्रवाहु चरित्र में भी उद्धृत की है। रत्नादि ने तो भद्रवाहु चरित्र में जिन करिपी स्थिवर करिपी वाला यह सारा प्रकरण ही यामदेव के संस्कृत भाव संग्रह से ज्यों का त्यों ग्रनुवाद कर रवला है। ग्रीर सकलकीति ने भी धर्म प्रश्नोत्तर ग्रंथ में प्रश्न नं० ३१७ में भाव संग्रह की गाथा १३१ के ग्राह्मय को ग्रन्थाया है। एस तरए पाथा १३१ के कथन का अनुसरण किया जाना १४ दी नदी के बाद के बने ग्रंथों में तो कही पही मिलता है। दिनु १४ थीं शताब्दी से पूर्व के ग्रंथों में ऐसा जिल्ला प्राप्त हमारे देखने में नहीं ग्राह्म है। ग्रीर को ब्या प्रविद्यां रा से भाव संग्रह के ग्राह्म को लेकर संस्कृत का भाव

संग्रह बनाने वाले बामदेव भी इन कपन से सहमत नहीं मालूम पड़ते हैं न्योंकि उन्होंने भी प्रयत्ने भाव संग्रह में इस प्रकरण की बहुत सो बातें तो ली हैं किंतु 'होन संहनन वाले सायु के प्रधिक निजंश होती है' एन कपन को नहीं लिया है।

इस प्रकार मिय्या क्षरीको ने शिवितानार का पोपण करना यह बताता है कि यह भाव मंग्रह उस दक्त को रचना है जब शिविताचार को शिविताचार हो नहीं माना जाता था बिक्क उसे एक महिमा को चीज किस किया जा रहा था। इससे हम कह सकते है कि यह ग्रंथ संभवत: १४ वीं सदी से पूर्व का दना हुया नहीं है।

(४) भाव नंप्रह में गाया ३५० ने लेकर ५६६ तक २५० गायाओं में पांचवे गुलास्यान हा दल्तं पाया जाता है। तथापि धावकाचार वा उल्लेख बोग्य ऐसा कोई खास वर्णन नहीं विया है। यो बार गामाधीं में श्रावक के १२ वर्ती घीर प्रमुलगुणी के केदन नाम मात्र लिख दिये हैं। न उनके स्वरूप वा वयन विया है न धतीचारों ना । सप्त व्यनन ग्यारह प्रतिमानों था भी कहीं कोई कपन नहीं है। बाकी मारी गापायें मियत पता दान पूजा विषय की ही भर दी गई है। गापा ४६४ मे ४=२ तक स्नान, पायमन, माली गरण, प्रसिंग, दिक्यालों की उपासना, भगवान् के उददना पाना, योग मंदल मादि यंत्रोदार, पूजा, विभागत इत्यादि नियाबांड लिखकर फिर नामा ४८६ तह पृष्टा है। एए स्वर्गपमन वहां ने चलवती ही महालाती दीसा ने कीए के जाना बताबर गाधा ४५७ में इन सदरा लिए वर्ष यह वताया है-

द्य लाङल दिनेनं पुर्तं मादन पान्तं तसः । पादर ल जाम सदनं सहस्य पदमा प्राप्तः ।

सर्थ—इस प्रकार जल नियानंत के राज्यात है जन मीच का कारण पूत्र हैना विशेष पुरुष देशा व्याक्त जब नक सबल संबद सीट राष्ट्रणार्थिय गर्ध प्रणात के लेके नब तत जनी विशेष पुरुष का राष्ट्रमा कर के स्था

भार संदा के इस रुप्त है। प्रणानार कर जान तृत्य साराय अनुस्ता है कि से कार्यों ने पूर्व समूत्र तक क्रिया कांड की मुख्यता लाना चाहते थे इसीसे उन्होंने श्रावकों के बारह बनों ग्रतिचारों ग्रादि का वर्णन नहीं किया है। ग्रीर इस बात पर जोर दिया है कि श्रावकों का कर्तव्य तो विशेष तीर पर दान पूजा करके पुरायसंपादन करने का ही है। वे नहीं चाहते थे कि गृहस्वी घ्यान स्वाध्यायादि के पचड़े में पड़कर उक्त क्रियाकांड के ग्रनु-ष्ठान में शिथिलता दिखावे । अपने इसी उद्देश्य को लेकर कभी तो वे गाया ३५७ में 'पांचवें गुण स्थान में मार्त रीद्र श्रीर भद्र ध्यान होता है । घमं ध्यान नहीं होता है ।" ऐसा कथन करते है। यहां वे भद्रध्यान की एक नई ही कल्पना करते हैं। श्रीर कभी वे गाथा ३७१ में पंचम पष्ठ गुणस्थान में उपचार से घर्मध्यान बताते हैं। वहां वे चौथे गुरा स्थान में उपचार से भी धर्मध्यान होता है या नहीं ? कुछ नहीं बताते हैं। तथा कभी वे धर्मध्यान के सालंब, निरालंब ऐसे दो भेद करके गृहस्थी के गाया ३८८ में पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप का चितवन रूप या मंत्राचर रूप सालंव ध्यान का प्रतिपादन करते हैं। श्रीर इससे शायद वे ग्राज्ञाविचय ग्रादि जो चार भेद रूप घर्मध्यान है वैसा घर्मध्यान श्रावक के न मानते हों। श्रीर ऐसा ही सालंब ध्यान वे छठवें गुए। स्थान में भी मानते हैं। क्योंकि गाथा ३८१ में उन्होंने निरालंब ध्यान सातवें गुए। स्थान में ही बताया है ।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के अर्थ धर्मध्यान के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के कथन किये हैं। किन्तु आगम समस्त "पांचवें गुण स्थान में एक देश धर्मध्यान होता है।" यह जो सही सिद्धांत है उसका उल्लेख अपने उद्देश्य में बाधा पड़ती देख कहीं नहीं कर रहे हैं। जिनकल्प स्थविर कल्प के! स्वरूप कथन में इनकी जैसी टांबाडोल स्थिति रही है, वही डांबाडोल स्थिति धर्मध्यान के स्वरूप कथन में भी नजर आती है।

श्रावकों का खास काम पुएय संपादन करने का ही है . ग्रपने इस सिद्धांत को लेकर भाव संग्रहकार ने जो एक वड़ी ग्रनोखी वात शुरू में ही कही है वह भी जरा विखिये— सेयो सुद्धो भावो तस्सुवलंभोय होई गुण ठाणे । पण दह पमायरहिए सयलिव चारित जुतस्य ॥६॥

श्रथं — शुद्धभाव श्रोय: किह्ये कल्याण मय है उसकी उपलब्धि सकल चरित्र वाले प्रमाद रहित श्रथींत् अप्रमत विरत नाम के ७ वें गुण स्थान में होती है।

यहां ग्रन्थकार ने सातवें गुण स्थान में केवल शुद्ध भाव वताया है। इससे यह दर्शाया है कि— सातवें से नीचे छठवें पांचवें गुण स्थान में शुद्ध भाव तो हैं नहीं, वहां शुभ भाव हो सकते हैं ग्रीर शुभभाव से पुण्यवंघ ही होगा इसलिये श्रावकों को पुण्यवन्य के ही काम करने चाहिये। ग्रीर चूं कि ग्रन्थकार ने खास घमंध्यान सातवें गुण स्थान में ही माना है श्रीर उसी में शुद्ध भाव भी इससे ग्रन्थकार का मत यही प्रकट होता है कि वे घमं— ध्यान में शुद्धभाव ही मानते हैं ग्रीर शुद्ध भाव श्रावक के नहीं हो सकते हैं इसीसे वे पंचम गुण स्थान में घमंच्यान का निपेश करते हैं।

किन्तु सातवें गुण स्थान में घर्मध्यान की मुख्यता होने से प्रन्थकार का वहां सर्वथा शुद्ध भाव मानना भी ठीक नहीं मालूम देता है। क्योंकि जब सातवें गुणस्थान में शुक्ल ध्यान नहीं और कपायजनित वन्घ का ग्रभाव भी नहीं तो वहां सर्वथा शुद्ध भाव ही हो शुभ भाव न हो ऐसा कैसे हो सकता है। विकि मूलाचार पंचाचाराधिकार गाथा १६७ की टीका में तो स्वप्टतया घर्मध्यान को स्वगं गति का कारण लिखा है—

"धर्मध्यान्न शुक्लध्यान्न चैतेह्रे प्रशस्ते देवगति मुक्ति गति आपके।" यहां घर्मध्यान से देवगति होना बताया है। इससे सिद्ध है कि धर्मध्यान में शुभभाव भी होते हैं।

धीर यह भी एकांत नहीं है कि पांचवें छठवें गुएस्थान में कुछ भी शुद्ध भाव नहीं है। चीथे से सातवें गुएस्थान तक जिनके जितने अंशों में मोह का अभाव है उनके उतने ही अंशों में शुद्ध भाव भी हैं ऐसा मानना पड़ेगा इसी से तो आगम में चीथे, पांचवें, छठवें आदि गुएस्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुएगी निर्जरा वताई है।

ग्रीर जो भावसंग्रहकार ने गाया ३५७ में श्रावक के धर्मध्यान का निषेच करके फिर गाघा ३७१ में पाँचवें छठवें गुएास्थान में उपचार से धर्मध्यान वताया है सी यहां उपचार का क्या ग्रर्थ है ? यही कि वहां वास्तविक धर्मध्यान नहीं है। उपचार शब्द से तो गंयकार का यही श्रभिप्राय घ्वनित होता है। तो क्या पांचवें छठवें गुग्-स्थान में चास्तविक घर्मध्यान का एकोदेश भी नहीं होता है ? ग्रंयकार का यह सब कथन ठीक नहीं है । क्यों कि धर्मध्यान के ग्राज्ञाविचय ग्रादि भेद हैं ग्रीर सम्यक्त के साय ही आज्ञानिचय हो जाता है। अतः पांचवें ही नही चौये गुण्स्यान में भी घर्नध्यान होना सिद्ध है। ग्रौर इसीसे तत्वार्थ राजवानिक में चौथे से सातवें गुग्स्यान तक धर्मध्यान बताया है। ग्रीर भावसंग्रहकार का केवल सातवें ही गुरास्यान में घर्मध्यान वताना यह ग्राम्नाय तो श्वेतांवर सम्प्रदाय की है जो उनके तत्वार्याधिगम भाष्य में उल्लिखित है। इसलिये भावसंग्रहकार का पांचवें ही नहीं महात्रती छठवें गुग्गस्यानवर्ती मुनि के भी उपवार से धर्मध्यान वताना सिद्धांत विरद्ध व थन है। इस विषय में विद्यानंदिस्यामी ने श्लोकवातिक में जो विवेचन किया है उस पर ध्यान दीजिये—

"कस्य तद्धं भंच्यानं स्यादित्याह्— साकत्येन विनिर्दिष्टं तत्त्रमत्ताप्रमत्तयोः । अंतरंगतपोभेदरपं संयततोः स्फुटं ॥ संयता संयतस्यैक देशेना संयतस्य नु । योग्यतामात्रतः केश्चिच्चं दुंध्यानं प्रचन्तते ॥ धर्म्यमप्रमत्तरयेति चेन्न, पूर्वेपां निवृत्ति प्रशंगान् । इष्यते च तेपां सम्यक्तप्रभावाद्धम्यंध्यानं ।" नवमग्रध्याय मूत्र ३६ को स्यार्या ।

अर्थ — वह धर्मध्यान विसके होता है ? यह दताये — हैं — अंतरंग तद वा भेद होने में दह धर्मध्यान पूर्णांग्य में प्रमत्त्वसंयत और स्प्रमत्त्वधंयत दोनों के नक्ट नीर में गाना गया है सौर मांयतासंयत पांगवें गुस्त्यान में कर एकोदेश एउ से माना गया है तथा सरावा नुस्त्यान में भी वह जैसी जहां पोस्तता है उस एक माना गया है। "वर्मव्यान अप्रमत्त नामके सानवें गुएस्पान में ही होता है।'' ऐसा नहीं नहना चाहिए। नयों वि ऐसा रहते में नीचे के गुग्रस्थानों में इस धर्मध्यान के समाद का प्रमान आवेगा। नयों कि सम्यक्त के प्रमाद में सानवें में तीने के गुग्रस्थानों में भी आगम में धर्मद्यान दनाया है।

पाठक देखेंगे कि मावन ग्रह्तार ने जारं स्टार्ज गुगा-स्यान में वास्तविक धर्मध्यान ही नहीं दताया है गर्म विद्यानंद्याचार्य पूर्ण धर्मध्यान बताते हैं। इसी तरह भावस ग्रह्तार जहां पांचवें गुगास्थान में भी पाहतित धर्मध्यान न बता कर मद्रध्यान सादि विशिष्ट प्रशार है धर्मध्यान की कल्पना करते हैं वहां घानार्य विद्यानि पांचवें गुगास्थान में भी घोड़े रूप में छनी प्रसंत्रान की बताते हैं जो मानवें गुग्रस्थान में होता है। इस नगर विद्यानंदिस्वामी के मन ने भादसंबद्धार रा मन विद्यान नहीं है।

श्रमर श्रादक के पर्मापान न माना गाये तो चन गीं जैसी विभूति के धारी राजा भरत 'पर में तो पंगरीमें' यह बहायत बैसे घटित हो नहेंगी। यह उनके तुल्या-श्रम में नाधु हुए धर्मध्यान का ही प्रताप पा जो जीका लेने के श्रांतमुँहर्त बाद ही उन्होंने बेजन सान पा निया। सम्यद्धिट राजा श्रीतिण को येण जी भी गांच पे किए भी उनके देद मानर की नरवायु गटकर पश्च प्रतार गां प्रमाण ही रह गर्द, यह पर्म-यान का प्रभाव गांचे के श्रीर विस्ता था? धर्म-यान का प्रभाव गांचे के उत्साद साम्त्री में १६ डो न्यर्ग पर जिला है। प्राप्तां के १० वा बरित में गरभूति या जीव हाली भी देलपण के १० वा रवर्ग गया है।

श्रीर को भावनीतास्त्र ने प्राप्ति विद्यानात के प्रमार के उद्येश्य द्वी रेजन नामाप्ति ने भारत ने प्राप्त के प्रमुख्य रहे देश्य द्वी रेजन नामाप्ति ने भारत ने प्राप्त कर्मात्र के प्रमुख्य रहे प्रमुख्य द्वीत्र प्रमुख्य राष्ट्रिय के प्रमुख्य रहे ते प्रमुख्य राष्ट्रिय के प्रमुख्य रहे ते प्रमुख्य राष्ट्रिय के प्रमुख्य रहे ते प्रमुख्य रहे रहे ते प्रमुख्य रहे ते प्रमुख्य

का उपदेश देने लगता है तो वह भी दंड योग्य समभा गया है क्यों कि पांचवें गुरास्थान के वर्गंन में जो पद्धति भावसंग्रह में ग्रपनाई है वैसी पद्धति प्राचीन देवसेनाचार्य की नहीं हो सकती है। क्योंकि ग्रमृतचन्द्राचार्य पुरुपार्थ सिद्धयुपाय ग्रंथ में ऐसा लिखते हैं—

जिनपुंगव प्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम् । सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदिष ॥२००॥ इति रत्नत्रयमेतत् प्रतिसमयं विकलमिष गृहस्थेन । परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलपता ॥२०६॥

अर्थ—िंगनेन्द्र के आगम में मुनीश्वरों का जो धानार कहा है वह गृहस्यों को भी अपनी पदनी और शक्ति का विचार करके तदनुसार सेवन करना चाहिए। अविनाशी मुक्ति को चाहने वाले गृहस्य को भी यह रत्नत्रय एकदेश रूप से प्रतिसमय निरंतर पालते रहना चाहिए—

इस प्रकार भावसंग्रह में उसके कर्ता ने जिस मनो-वृति को लेकर पांचवें गुणस्थान का वर्णन किया है उससे स्पष्ट होता है कि ग्रंथकार का लद्द्य उस समय उक्त क्रियाकांड के प्रचार करने का था। इस प्रकार का क्रियाकांडी साहित्य का निर्माण बहुत करके १४ सदी से शुरू हुग्रा है।

मंडलपूजा में जयादि द देवियों, १६ विद्यादेवियों, २४यच्चयच्चियों, और ३२इंद्रोकी स्थापना कर उनकी पूजा करने की जैसी पद्धति आशाधर, इंदनंदि, एकसिंध आदि के क्रियाकांडी साहित्य में पाई जाती है वैसे ही पद्धति इस भावसंग्रह में भी हिट्योचर होती है।(देखी गाया ४४६से-४५४) इत्यादि कारणों से यह भाव संग्रह भी एकसंघि आदि के आस पास के समय में ही रचा गया जान पड़ता है।

यहां हम पाठकों को यह भी वतला देना चाहते हैं कि करीब ४० वर्ष पहिले यह भाव संग्रह ग्रन्थ मूल गाथा वद्ध माणिकचन्द्र ग्रन्थ माला द्वारा प्रकाशित हुग्रा था। उसकी प्राकृत गाथाग्रों की संस्कृत छाया पं० पन्नालालजी सोनी ने की थी। छाया करने में कई जगह अगुद्धियां कर रक्ली हैं। ग्रशुद्धियों के कुछ नमूने देखिये—

गाथा २४ सव्वस्तेग-सर्ववस्तुना । चाहिये सर्वस्वेन गाथा ३८२ जङ्गी-यतीना । चाहिये जैन:

गाया २०५ गिवादेयं-वंदिन: । चाहिये नृपं द्विजं गाया २५० करयलाम्रो-करे लग्नां चाहिये करतलत:

कुछ श्ररसे पहिले इस ग्रन्थ का पं० लालारामजी शास्त्री ने हिन्दी धनुवाद करके कुछ दातारों की सहायता से प्रकाशित कर इसे विना मूल्य वितरण भी किया है। इसके पूर्व संस्करण में संस्कृत छाया में जो श्रशुद्धियां वीं वे सभी प्रायः इस प्रकाशन में भी मोजूद हैं। उन श्रशुद्धियों से इसका हिन्दी श्रनुवाद भी जहां तहां गलत होगया है। श्रनुवाद की गित्तयों में से भी एक नमूना यहां पाठकों की जानकारी के लिये दे देते हैं—

जीवों के ग्रुभ, ग्रग्रुभ, ग्रीर शुद्ध ऐसे तीन प्रकार के परिणाम होते हैं। गाथा ६ वीं में कहा है कि—जो शुद्ध परिणाम कल्याण के कर्ता हैं वे तो सातवें गुण स्थान में होते हैं। (यह गाथा इस लेख में क्रपर उद्धृत हुई है) इसके ग्रागे की गाथा इस प्रकार है—

सेसा जे वे भावा सुहासुहा पुराणपाव संजाणया । ते पंच भाव मिस्सा हों ति गुगा ठ्ठाण मासेञ्ज ॥७॥

अर्थ — 'वाकी जो दो शुभ अशुभ भाव हैं वे पुर्प पाप के वन्च करने वाले हैं इस प्रकार जीवों के तीनों परिसाम गुसा स्थान को आध्य करके औपश्मिकादि पंच भावों में मिले रहते हैं।" यह तो सही अर्थ है, किन्तु पं० लालाराम जीने इसके उत्तराद्ध का गलत अनुवाद इस प्रकार किया हैं—

"तथा वे दोनों ही शुभ अशुभ भाव ग्रौदियक ग्रादि पांच भावों से मिल कर गुण्स्थानों के ग्राध्य से रहतें हैं।" हम अनुवादकजी से पूछते हैं कि आपने यहां ग्रौद-यिक ग्रादि पांच भावों में शुभ अशुभ दो ही भावों का मिलना कैसे बताया, शुद्ध भाव को क्यों छोड़ गये ? शुद्ध भाव पंचभावों से बाहर है क्या ? फिर आप ही ने आगे गाथा द के भावार्थ में शुभ अशुभ शुद्ध इन तीनों भावों को पंचभावों में गभित भी लिख दिया है। दर असल वात यह है कि गाथा ७ की संस्कृत छाया जो पूर्व संस्क-रण में ग्रशुद्ध थी वही इस संस्करण में भी है। उसी के ग्राचार पर हिंदी में ग्रर्थ करने से यह गल्ती हुई है।

इसी हिंदी टीका वाले संस्करण के पृष्ठ २६७ पर
यनुवादक्तजी ने सूचना छपाई है कि—''वहुत तलाश
करने पर भी दक्षिण उत्तर में कहीं भी इसका यंत्र नहीं
मिला जिससे इन पद्यों का अयं नहीं टैठा है।'' अनुवादक
की इस सूचना पर हमारा निवेदन है कि—यह कोई
प्राचीन ग्रंथ नहीं है जो इसमें लिखा यंत्र दक्षिण उत्तर में
कहीं न मिले। दरअसल में आपके दिमाग में यह प्राचीन
ग्रंथ जंवा हुआ है इसीसे आपने अच्छी तरह तलाश नहीं
किया है। हम बताये देते हैं कि इस यंत्र का नाम
त्रिलोकसार यंत्र है और यह विद्यानुशासन पूजा सारादि
ग्रंथों में पाया जाता है। आप वहां देख सकते हैं।

(६) इस ग्रंथ में दान के प्रकरण में गाथा ४०४ से लेकर ४०० तक जो कथन किया गया है वह भी खास विचारणीय है। वहां लिखा है कि—''जो कुछ भी विद्धांत शास्त्र का विशिष्ट ज्ञाता हो ग्रीर कुछ भी वाह्य ग्रभ्यंतर तप का धारी हो तथा हढ़ ब्रह्मचारी हो वह वेदमय तप-मय पात्र है ऐसा पात्र नियमतः संसार से तारने वाला है।

इम कथन में जो रहस्य छिपा हुम्रा है वह यह है कि
- "दस्त्रधारी भट्टारकों को उत्तम मध्यम जघन्य पात्रों में
से कीनसा पात्र माना जाये ? जैनागम में जो इन पात्रों
के लक्षण लिखे गये हैं उनने मनुसार तो प्रायः निष्परिम्रही
नग्न मुनि उत्तम पात्र माने जाते हैं। तब वस्त्रधारी
मट्टारकों को कीनसा पात्र मानना चाहिये ? इसी प्रश्न वा
समाधान जवर के कथन में किया गया है धौर उनने यह
सूचित किया है कि चेदमय तपगय होने से वस्त्रधारी
मट्टारक भी एक विशिष्ट पात्र है। इसीसे उनके लिए
सिदांततान, तप भीर ब्रह्मचयं या होना को वताया गया
है कितु प्रपरिसही निरारंभी, दम्निक्यी होने वा यमन
नहीं किया है।

जिस प्रमार भावसंबद्धार ने सुरुकी है जिस कर-

ध्यान और पंचमकाल के हीनसंहननी साबु के छिन्न निर्जरा होने आदि वा स्वछंद क्यन किया है। दिनका कि ट्यर दिवेचन किया गया है। उसी प्रकार घेरमय तपमय पात्र की एक नई करपना यहां भी की है। इसमें स्पष्ट है कि यह भाव संग्रह भट्टारत की दमाने की रचना है।

इसके अलावा एक बात यह भी है कि प्राचीन देशनेन ने दर्शनसार प्राराधनासार प्रादि छोटी छोटी रचनाएं सूत्र रूप ने की है और इसीसे उनकी रचनाप्रों के नामों के अन्त में प्रायः सार शब्द पाया जाता है। भारतग्रा सातसी गायाग्रों का एक बड़ा ग्रंथ है प्रतः बहुउन प्राचीन देवसेन का नहीं है ऐसा प्रतिभाषित होता है।

दूसरी दात यह है कि— बाराधर के दराये टीगा ग्रंथों में बहुत ने उदरण ग्रंथों दों के मिनते हैं। उनने ग्रंथनारों के समय निर्णय करने में वही मयद मिनती है। खास कर वे ग्राचार ग्रंथ को बाराधर में पूर्व दन खुके थे उनमें से तो जहां तक मेरा गयान है कोई भी ऐसा ग्रंथ नहीं दचा है जिनका हुए न हुए उनके खाशाधर ने भवने नागर बाराधर मे प्रवंग की मरीहा दीवा में न किया हो। धाशाधर में प्रवंग की गायर धे प्रवंग ये थे में की

"पुरुषायं निर्मुपाय, विभिन्नति श्रादशाणान, सम-स्तिलका, रानव रीप्यादवाणान, वसुन्दि व्यादशाणान, स्रादि पुनास्त्रा जैन संस्तार प्रवन्ता, गृगाणान कीन उत्तरी सामान्द्रति दीका, प्रानंदिरंगविक्तिका, व्यक्ति-सार वीर रमनारंद्यी प्रभाणंद दीका ।"

ल्हिन ह्यागावर में इन मह होगी में हहागण निवे है यह बण मानम में नि हमीने माण्येत होने दे गुन भी हहागण गरी लिया। जदिन हमीने देशीन में राज्य होप दर्शनगर ह्यागानतागर में भी हहागण निवे हैं। ह्याग्यनगर दर में हमीने दीना भी निवे में । स्थान हमता में वि-ह्यागायाभी में राज्य मा हा प्रोत्तान करा ही राज्य में हमाज निवेश निवेश में । जिस नावा ह्याबाद प्राद्यागर हमागणी अपन्या में, गुप कुंद श्रावकाचार। सावयघम्म देशां, श्रीर शिवकोटिकी रत्नमाला श्रादि भी श्राचार के ग्रंथ हैं किंतु ये सब श्राशाधर से बाद के बने हुए हैं इमीसे इनका उल्लेख श्राशाघर के ग्रंथों में कहीं नहीं पाया जाता है। उसी प्रकार भाव संग्रह ग्रंथ भी श्राशाघरजी के बाद का बना हुप्रा है इसीसे उसका उल्लेख भी श्राशाघररिवत ग्रंथों में नहीं मिलता है।

इस प्रनार जांच करने से यह भाव संग्रह ग्रंथ निश्चय ही प्रवीचीन सिद्ध होता है । यह १० वीं शनाब्दि में होने वाने देवसेन का न होकर १४ वीं शताब्दि में होने वाले किसी अन्य ही देशसेन के द्वारा रचा हुपा जान पड़ना है। संभवतः यह उन देवसेनका भी हो सकता है जिन्होंने याभ्रंशभाषा में सुनोचना चरित लिया है। मुलोवना चरित की समाप्ति का समय श्रावरा शुक्ता १४ वुवनार राज्ञस संवस्तर दिया है एक राज्ञस सं०। वत्सर वि. सं. १३७२ में भी पड़ता है। भावसंग्रह का रचना समय हमने जो ऊपर १४ वीं शताब्दि अनुमान किया है उससे भी इसकी संगति बैठती है तथा सुलोचना-चरित्र के कर्ता ने ग्रपने गृह का नाम निमलसेन लिखा है। भाव संग्रहकार ने भी अपने गुरु का नाम विमलसेन लिखा है। एवं भाव संग्रह की रचना में काफी तौर पर ग्रयभ्रंश भाषा के शब्द पाये जाते हैं। इन सब कारणों सें सुलोचना चरित्रकार ग्रौर भाव संग्रहकार दोनों का वहुत कुछ मेल बैठता है ग्रतः दोनों ग्रभिन्न मालूम पड़ते हैं। रहा सुलोचना चरित्र में देवसेन ने अपने गुरु विमल-सेन का उल्लेख करते हुए उन्हें मलधारी लिखना जबिक भावसंग्रह में देवसेन ने उन्हें गए। लिखा है। इतने मात्र से दोनों की भिन्नता नहीं सिद्ध की जा सकती हैं। भिन्नता के लिए अन्य कोई पुष्ट प्रमाण होने चाहिए। हो सकता है कि विमलसेन के अनेक शिष्यों का संघ होने से वे गणी या गण्घर कहलाते हों ग्रीर मलधारी उनकी कोई उपाधि होने से वे मलघारी नाम से भी पुनारे जाते हों। इसलिए एक ही देवसेन ने अपने दो ग्रंथों में से एक में तो अपने गुरु के नाम के साथ मलचारी शब्द का प्रयोग कर दिया हो और दूसरे में गए। घर शब्द का । ये ही नहीं

विद्यने कई भट्टारकों ने भी अपने की गएा, गएवर, ग्रीर गणभूत् शब्द से उल्लिखित किया है। ग्रीर यह कहना कि दर्शनसार के कर्ता देवसेन ने दर्शनसार ग्रीर ग्रारायना सार के मंगलाचरण में अपना नाम श्लेपहप से ध्वनित किया है। वही पद्धति भावसंग्रह में भी ग्रपनाई है इसलिए दर्शनसार श्रीर भाव संग्रह के कर्ता दोनों एक है। इस हेतु में भी कुछ सार नहीं है। नयों कि मंगलाचरण में श्लेप रूप से अपना नाम प्रकट करने की परिपाटी देवसेन की ही नहीं ग्रन्य ग्रंथकारों के ग्रंथों में भी देखी जाती हैं। हां, यह ठीक है कि भावसंग्रह के कर्ता वे देवसेन नहीं है जिनको पांडवपुराण के कर्ता मायुरसंघी यशः कीर्ति ने अपनी गुरू परम्परा की पांचनी पीढ़ी में वताया है। भाव संग्रह के कर्ता के लिए यह भी जरूरी नहीं है कि वह काष्ठा संघी ग्रादि कोई जैनाभासी ही हो। वह वैसा मूल संबी भी हो सकता है जैसे कि ग्रन्य सहस्व भद्रारक अपने को मूलसंघी लिखते हैं।

भाव संग्रह में कई ऐसी गाथायें हैं जो निश्चयत: ग्रन्य ग्रंथों की हैं ग्रीर वे इसमें मूलका ग्रंग वनी हुई हैं। जैसे कि 'हिंसार हिए घम्मे ''गाधा । यह गाया कुंद कूँद के मोत्त पाहड़ की है जो भावसंग्रह में २६२ वें नम्बर पर पाई जाती है। इसी तरह गोम्मटसार पंचसंग्रह श्रादि ग्रंथों की भी इसमें कुछ गाथायें जहां तहां हिट-गोचर होती हैं। जबकि उल्युक्त जांव से यह भावसंग्रह ग्राशाघर से बाद का बना सिद्धं हो जाता है तो इन गांधाओं के बांबत कुछ विद्वानों की जो यह घारणा वशी हुई है कि गोम्मटसारादि ग्रंघों में ये गाथायें भावसंग्रह से ली गई हैं वह घारणा गलत सिद्ध होती है। ग्रीर ग्रव यह कहना चाहिए कि ये गायायें भावसंग्रहकार ने ही उक्त ग्रंथों से लेकर ग्रपना ली है। इसी तरह इसमें वसुनंदि-श्रावकाचार की भी कई गाथायें विना विसी उक्तंच के पाई जाती है। जिनमें से "संकाइ दोसरहियं" म्रादि ६ गाथायें जो गाव संग्रह में नं॰ २७६ से २८४ तक पाई जाती हैं वे भी विशेष विचार करने से वस्तुत: वसुनंदि श्रावका चार की ही प्रतीत होती हैं। जो किसी तरह भावसंग्रह में प्रिचित्त हो गई हैं। क्यों कि प्रकरण को देखते हुए

आवसंग्रह में इन गाथायों की कुछ भी संगति वैठती नहीं है। ग्रगर देवसेन को ऐसा कुछ कथन करना ग्रभीष्ट होता तो वे प्रकरण संगत गाथा २६३ के ग्रागे कर सकते थे। भावसंग्रह की गाया २७८ में कहा है कि-"उन ग्रहींतों के द्वारा कहे हुए नवयदार्थ, पंचास्तिकाय, ग्रीर छत द्रव्यों का माज्ञा ग्रीर मधिगम से धदान करने वाले के सम्यक्तव होता है।" इसके आगे नव पदार्थो आदि के नाम ग्रीर उनके स्वरूप का वर्णन होना कम प्राप्त है किन्तु जो गाया २५५ से शुरु होता हैं। इसलिए वीच की २७६ से २५४ तक की वे ६ गायायें स्यप्टतः अप्रा-संगिक नजर आती हैं। भाव संग्रह के उस प्रकरण में जबिक सम्यक्तव के अंगों के नाम तक भी नहीं हैं तो श्रंगों में प्रसिद्ध होने वालों की कथाग्रों का उल्लेख करना साफ ही ग्रसंबद्ध मालूम देता है। किंतु वसुनंदि श्रावका-चार में इन गाधाओं का होना संगत मालूम देता है। वसुनंदि ने प्रपने इस श्रावकाचार में जहां सप्त व्यसनों का वर्णन किया है वहां भी गाया १२५ से १२३ तक में व्यसनों की कथाओं का उल्लेख किया है। यही नहीं गाया ३४८-३४६ में वैयावृत्य का फल पाने वाले वसु-देव ग्रीर श्रीकृष्ण के भी नाम लिखे हैं। उसी तरह सम्यक्त के ग्रंग सम्बन्धी कथात्रों का उल्लेख करना वसुनंदिकी कथन शैली की प्रकट करता है। इससे वे गायायें वसुनंदि श्रावकाचार की ही हो सकती है ऐसा मानने को बाध्य होना पड़ता है'। इसलिए वसुनदि श्रावकाचार की कोई एज हस्तिविखित प्रति में इन गाधाओं को ''उक्तंच भावसंग्रहात्" वादय के साथ लिख देना अवश्य ही निसी गल्ती का परिएगम है। इस गल्ती की पुष्टि इस दात से भी होती है कि वसुनंदि श्रावकाचार में ग्रंथ भर में वही भी उक्त च का नाम निशान नहीं है। उक्त च की यह प्रणाली तो प्रधिकतया भावसंत्रह में ही नजर साती है जो उसकी कई हस्तलिखित प्रतियों से सिद्य है। तथा भीर भी विचारने का दिषय है कि पं. घारापरती ने पसुनंदि श्रादकाचार के कई छद्धरसा विवे हैं एमने नह सकते हैं कि उन्होंने दसुनंदि श्रापकानार को घटती करत से देखा है तो दिनादस्य उक्त स्ट्रमायामों के दूर्व में लिया "उक्त" च भावसंत्रहात् "बावय भी ग्रारामस्त्री की रहर

में गुजरा होगा तब यह स्वामादिक है कि उनकी उन्हों भाव संग्रह ग्रंथ को देवने की भी हुई ही होगी कीर के जसे प्राप्त कर देखा होगा। यदि यह नय हुमा हो हो आशावर के साहित्य में भावसंग्रह के उद्धर्म भी मिनते। किंतु ग्राशावरजी का तो जितना भी गाहित्य उत समय उपलब्ध है जसमें तो कहीं भी भाव संग्रह की होई गामा उक्तंच रूप से लिखी नहीं मिलती है। इनने की हुनु-मान लगाया जा सकता है कि-वनुनंदि कायकाचार की प्रति में ग्राशावरजी के वक्त भी उन ६ गायाओं के नाम "उक्तंच भावसंग्रहात्" बाक्य नहीं या और हो भी कैने जबकि भावसंग्रह ग्रंथ मादाावरजी से पहिले बना हो ग था। यह तो मानने में नहीं साता कि जानकारी होते भी आशावरजी उसे न प्राप्त करें या उन्हें दह न दिल नहें।

यदि ऐसा कहा जावे कि "धनर ये गाणवे भार-संब्रह की न होकर दस्तंबि आववानार की है की शालंकर में इनका उल्लेख उक्तांच मय हे पर्यो मही है? " तो इसका उत्तर यह है कि-ये ही क्या बहुनंदि सदस्यान की तो प्रत्य भी गाणायें इसमे दिना उन्तांत के निवासे हैं। इसी तरह के उन्त्रों की भी मिलकी है। इकी गाम नं । २६२ को देनिये जो इसमें मूलका चंगदनी हुई है। दर असल में यह गाया मोदणहरू वी है जो वर्त ६० नम्बर पर पायी जाती है। तथा भगतन्त्र ही हरू-लिखित प्रतियो वी हालत पर एवं एवं विषय हर है तो माण्याच्या प्रत्य माला में भी भारतीय धरा है। उत्में एक प्रति तो मं, १६६= भी निर्मा हो है और दूसरी सं-१६२७ की निर्मा है। निर्मु कोनी कि की के बज़ ही बन्तर है। में १६२७ प्रति में रणभागे में बल्प ने उदरत है लियु र. १४६० हो ही में दर्भ उद्भाग नहीं है। इस प्रतियों के महान ए. ४, सरम्बरी भवन भारतगरण्या की गर्ग और भी भी गर्ग गर्मा हो सं-१४८८ को निकी हुई है। उनमें की प्राप्त करार सारी के उनमें भी उद्भाग मिलारे हैं जिल्ले कि स. मुंदर प्र सी उन्हें क्रीत में बादे परि है। इन इसला सी से सीह हो। स्याः संस्मृतस्याः संप्रतानम् वे पञ्चनमा कीपृत् है । िक्किती हर राज्याचारी कि क्षेत्रण पात्र होट्ट की कारत

वहुत करके प्राकृत भावसंग्रह के ग्राशय को लेकर की गई है। ऐसी हालत में उद्धरणों से विद्वानों ने यही फलितायं निकाला है कि ये उद्धरण भूले ग्रन्यकार के द्वारा उद्धृत नहीं । हुये हैं । किन्तु किसी स्वाध्यायशील व्यक्ति ने भाव संग्रह की प्रति के हांसिये पर लिख दिये ये जो ग्रागे चल कर प्रतिलिपिकार ने नासमक्ती से उन्हें मूल के साथ नकल कर दिये हैं। अगर यही बात ठीक है तो वसुनंदिश्रावका चार की वे विवादास्य ६ गायायें भी हांसिये पर से उठ कर मूल में शामिल हो गयीं हों ऐसा क्यों नहीं माना जा सकता है ? इसी से तो उनकी स्थिति भावसंग्रह के प्रकरण से नहीं मिलती है। ग्रीर जबिक संस्कृत के भाव संग्रह प्राकृतके भावसंग्रह से यनुव।दित है ग्रीर संस्कृतके भावसंग्रह में सम्यक्त के ग्राठ ग्रंगों का वर्णन होते हये भी उसमें ग्रङ्ग प्रसिद्ध कथाग्रों का जिकर नहीं है। इससे नया यह सिद्ध नही होता कि संस्कृत भाव सम्र ह के कत्ता वाम देव के वक्त भी प्राकृत के भावसप्र ह में वे ६ गायायें नहीं थीं । उसमें वे बाद में प्रचिप्त हुई है

यहां यह भी जान 'लेना चाहिये कि सं. १४५८ की लिखित प्रति में यशस्तिलक चम्पू, संस्कृत भावसं ग्रह ग्रादि के उद्धरण न होने से इसे ही देवसेन की मूलकृति मानली जाय सो ऐसा भी नहीं है। इस प्रति में भी थोड़े बहुत हांसिये के उद्धरण जरूर मूलमें शामिल हुये हैं। इसके लिये देखिये भाव सग्रंह का ४१६वें नम्बर का दोहा यह दोहा सावयधम्म पुस्तक का है जो ग्रपत्रंश भाषा में है ग्रीर यहां विना किसी उद्धरण १६वीं शताब्दि के पहिले के ग्रन्थों में नहीं देखे जाते हैं ग्रीर उनत दोहा भावसग्रंह की सम्बत १४८८ की लिखी कालराणटन की प्रति में भी नहीं है, जबिक ग्रन्थ सबही उद्धरण उसमें भी लिखे मिलतेहैं। इत्यादि कारणों से सावधम्मका रचना काल बहुत ग्रायुनिक मालूम होता है।

सर्वया यह भी न समक्तना कि भावसंग्रह में सब ही उद्धरण हांसिये पर से ही मूल में शामिल हो गये हैं। वित्क इनमें से क्तिने ही उद्धरण मूल ग्रंथकार के द्वारा भी उद्धृत हो सकते हैं। जैसा कि वसुनंदि श्रावकाचार की कई गायाग्रों को इसमें उद्धृत मिलने से जाना जा सकता है। इन गायाग्रों में से कुछ गायायें तो ज्यों की त्यों ले ली गई हैं ग्रीर कुछ गायायें मामूली हेर फेर करके उद्धृत की हैं। ऐसी गायाग्रों की तालिका ज्ञान पीठ से प्रकाशित वसुनंदि शावकाचार की प्रस्तावना में देख सकते हैं। हेर फेर की हुई गायाग्रों से तो यही निश्चय होता है कि खुद भाव संग्रहकार ने ही वसुनंदि गायायें ग्रपनाई हैं। "वसुनंदि ने ही भावसंग्रह की गायाग्रों को ग्रपनाया हो" ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है। इसके लिये उदाहरण स्वरूप हम एक गाया पेश करते हैं—

मिच्छादिट्ठी भहो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते । तस्त फत्तेगुववज्जइ सो उत्तयभोषमीसु ॥२४४॥

यह गाया वसुनंदि श्रावकाचार की है। इसमें लिखा है कि—''जो मिथ्या हृष्टि मद्र (मंदकपायी) पुरुष उत्तम-पात्रों को दान देता हैं उसके फल से वह उत्तम भोगभूमि-यों में उत्पन्न होता है।'' इसी गाया को कुछ रद्दोवदल करके भावसंग्रह में निम्नरूप से लिखी है:

मिच्छादिट्ठी पुरिसो दाएं जो देइ उत्तमे पत्ते । सो पावई वरभोए फुट्ट उत्तमभोयभूमीसु ॥४६६॥

वसुनंदि की उक्त गाथा के प्रथम चरण में आपे "मद्दो" शब्द की जगह भावसंग्रह में 'पुरिसो' शब्द में तबदीली तो करदी परन्तु पुरिसो शब्द में अर्थ की वह खूवी न श्रासकी जो भद्दो शब्द में थी। इससे साफ प्रमाणित होता है कि भाव संग्रहकार के द्वारा ही वसुनंदि की गाथाओं में हेरफेर किया गया है।

भावसंग्रह की ऐसी स्थित को देखते हुए न्यायकुमुद-चंद्र के पृष्ठ ८५६ पर "पड्विघो हि ग्राहार: प्रवचने प्रसिद्ध:" वाक्य के साथ "एगोकम्मकम्महारो"""गाया उद्धृत हुई है। वही गाथा भावसग्रह में ११० वें नम्बर पर स्थित है। वह गाथा भी खास भावसंग्रह की नहीं प्रतीत होती है। वह किसी ग्रन्य प्राचीन ग्रःगम की जानपड़ती है। श्रीर वहीं से प्रभाचंद्र ने न्यायकुमुदचंद्र में उद्धृत की है न कि भावसंग्रह पर से। "मतना कोई उत्सूत्र कथन हो जाये" इस दात का प्राचीनकाल में वड़ा भय रहता था। इसीसे प्रखरबुद्धिवाले निर्मलग्राचार के घारी कोई वड़े ग्राचार्य ही शास्त्र निर्माण का कार्य करते थे। यह नियंत्रण ग्रागे चलकर घीरे घीरे लुप्त होता चला गया, फिर तो वस्त्रघारी भट्टारक ही नहीं गृहस्थी भी इस काम के ग्रधिकारी वन बैठे। प्राय: १३ वीं शताब्दि ग्रीर उसके बाद में तो साधुग्रों के शियलाचार ग्रीर श्रावकों के क्रियाकांड को लेकर कतिपय शास्त्रों में जिस स्वच्छंदता से जथन किया गया है उस स्वच्छंदता के दशँन इस भाव संग्रह में भी होते हैं। ऐसा इसके ग्रध्ययन से सहज ही जाना जा सकता है। एक श्रोष्ठ ग्राचार्य की रचना जैसी व्यवस्थित, सारगित,

पुनरुक्ति-पूर्वापर विरुद्धता ग्रादि दोषों से रहित, प्राचीनग्रेष परंपरा की ग्रनुगामिनी होती है दैसी रचना इस भावसंग्रह की दिखाई नहीं देती है। ग्रीर तो क्या "भावनंग्रह" इस नाम के ग्रनुरूप ग्रीपशमिकादिभादों के सक्ता गीर उनके उपभेदों के नाम तक भी इसमें नहीं है।

इस प्रकार के कहावीह से मुक्त यह भायरांग्रह प्राकृत ग्रंथ १० वीं शताब्दि में होने वाले देवनेन के हारा निमित नहीं प्रतीत होता है। वितु किसी यन्य ही देवसेन के हारा १४ वीं शताब्दि के लगभग वा बना जंचता है। मेरे ये विचार वहां तक ठीक है दस पर विद्वजन ध्यान देंगे।

वास्कोडिगामा द्वारा किये गये उल्लेखों से यह वात पृर्ण इप से विदित हो जाती है कि, मालावार प्रान्त के समुद्री किनारे पर उस समय जो वस्ती थी यह न कभी हिंसा करती थी, इतना ही नहीं किन्तु समुद्र के किनारे पर रहने पर भी गांम मन्द्री लादि के आहार को निषिद्ध ही मानती थी। इस वस्तु स्थिति से अनुमान होना है कि यह प्रजा जैनधर्मी ही होनी चाहिए, जिसका प्रभाव तसाम प्रजा पर पृर्ण इप से पणा था। इसके उपरांत जैनधर्म के सम्बन्ध में ईण्ट इण्डिया कम्पनी के समय के धनेक उन्हेन्य मिट पोता बुक की डायरी में पाये जाते हैं।

# Language and Style of Harichandra

HARICHANDRA is one of a few famous Jaina Sanskrit poets who have contributed to Jainology and have exerted their utmost to awaken moral consciousness in society through their literary compositions.

We find two works, viz., the Dharmasarmabhyudaya and the Jivandhara Champu to the poet's credit. A drama named "Jivandhara Nataka," the M/s of which has not yet come to light (IA XXXVI, p. 285), is also attributed to the name of Harichandra.

Nothing can definitely be told about the place of birth or residence of Harichandra is one of a few famous Jaina Sanskrit poets who have contributed to Jainology and have exerted their utmost to awaken moral consciousness in society through their literary campositions. In this article the author has discussed the language and tyle of Harichandra.

Harichandra. He gives his personal history at the end of Ds. showing his parentage, the name of his brother Laksmana and the name of his familiy-Nomaka. His father was Ardradeva who was the only son of his parents and his mother's name was Rathya (Ds. Prasasti 1-3). It appears that the poet himself was a follower of the Digambara sect (Ds. Prasasti 4), and the other members of his family (father mother, brother etc.) belonged to

1. There have been many writers by the name of Harichandra in the history of Sanskrit literature between the 1st century A. D. and the 13th centutry A. D. We, at first, find the names Haricandra and Bhattara Harichandra in the Madhukosi commentary of the Madhava Nidana at pages 17 and 20 respectively. Whether these names are of one person is not certain. Again Bana (700 A. D.) mentions one Bhattara Harichandra (vide Harsacharita 1-13). Another Harichandra is also mentioned in the Gaudavaho-800 of Vakpatiraja. After that two Harichandras 'are referred to by Rajasekhara. (900 A.D.) in his Kavya Mimamnsa Ch. X and Karpura Manjari I Book respectively. But our Harichandra (1120-1250 AD), the writer of Ds.\* and Jc.\* is quite "distinct from other Harichandras as detailed above. Hultzsch also opines that the composer of Ds. is quite different from one Bhattara Harichandra as mentioned by Bana. Nor can he be identified with the physician Harichandra who, perhaps, resided iΩ the court of the king Sahasanka (I A XXXV. p. 268). Ds. stands for Dharmasarmabhyudaya and Jc. for Jivandhara Champu.

some other faith. Being converted to this sect, he might have lived in close contact of some learned Digambara Jaina Acharya under whom he seems to have learnt Sanskrit and Jaina scriptures and acquired the way and power of composing poetry (Ds. Prasasti 4-5). It also appears that his Kavya (Ds. was examined and appreciated by the learned critics of his period (Prasasti 9).

We are here to confine ourselves to the main topics.

Language—Our poet belongs to the decaying days of the ornate age (1120-1220 A.D.) and follows Magha as far as mannerism is concerned. He attaches much importance to both Sabda and Artha² for making the poetry more attractive and interesting. This notion corresponds to that of Magha also.³ The poet was possessed of the poetic genius. He would have put forth the delicacy and gracefulness of the Kalidasan era, had he not been the follower of the above-cited poet

(Magha) in the field of mannerism. The poet has shown his dexterity in presenting the Chitra Bandhas (Ds. XIX-72, 84, 86, 94, 98, 99, 101, 102, 104 etc).4 Verbal exercises particularly abound in this very canto where there are some verses which give one cense if read forward as usual and another sense if read backwards. Thus in one verse the first and third, and the second and fourth lines are identicals. In another stanze first and third lines' read backwards the same way as second and fourth lines respectively. There is again a verse comprising only one (Ds. XIX 82), two (Ds. XIX 54, 88, 92) and four letters (Ds. XIX 33). There is a stanza that has no labial letters (Ds. XIX 58). We find again a verse which has no palatal letters (Ds. XX 68).

All such verbal feats, though fit for the enjoyment of the learned of the time, present hurdles in understanding the meaning easily thereof. It is, there-

- 1. The tales and names of of ¿gods, as seen in the Hindu Puranas are referred to by our poet in both the works frequently. This shows the great and abiding impact of Hinduism on his mind. Moreover, he hints at only his having been a Dipambara while he leaves other members of his family in mentioning whether they a cre the followers of the Digambara sect or not (Ds. Prasasti 4).
- 2. वाणी मवेत्कस्यविदेव पुर्ग्य: शब्दार्थं सन्दर्भं विशेष गर्भा । Ds. I-16.
- 3. शन्दार्थो सत्कविरिव हयम् विद्वान् प्रपेस्ते । SV. II=86.
- 4. Bharavi (K.XV), Magha (Sv. XIX) and Ratnakara (Hv. XLIII and XLVIII) have also indulged in presenting artificial Bandhas.
- 5. रागिनाजिवरा कापि नेतेनातनाममा। सामवातवना तेने पिकारावजिता गिरा ॥ Ds. XIX 45
- G. प्रतस्त्रमानसे सेवा सदाना सामा रखे। प्रतस्त्रमानसेसेना सदानानामारखे u De. XIX 56 स
- 7. मारतार समानास राज्ञमा नरमा रमा। मा गता हमता तेन म तेनामहतासमा । Ds. XIX ।।

fore, evident that Harichandra's language has become somewhat difficult in the XIX canto of the Ds. The reader may get puzzled without a lexicon and commentary on this canto. The poet, no doubt, appears to be acquainted with the literature of lexicography as he has used a good number of obsolete words. Only at a few places he uses the language full of double entendre. His occasional twisting of the language and his attempt at several extremely fantastic metrical devices may be taken as a bit repulsive to the modern reader.

Lastly his fondness for the use of idiomatic and proverbial expressions which are the result of his vast experience and close observation gives an indescribable charm to the language of his works.

Style-According to Sanskrit technical terminology Harichandra's style may be named as Vaidarbhi,² though he has, at times, evinced his poetic gifts of descriptive power and word-play³ due to the literary taste of his period. But in view of his having presented

the language of both the works in a simple and intelligible manner on the whole, we have to call it Vaidarbhi. No doubt, chronologically the poet does belong to the last and decaying days of the period of Sanskrit poetry when the high flowing ornate style was in vogue. It is, therefore, remarkable to note the simple way of the presentation of his poetic genius. He probably had in mind a special zeal for preaching the Jaina tenets among the public of his days and adopted the Vaidarbhi style when the Gaudi preponderated the literary field. He has, perhaps, hinted at the fact of taking to the Vaidarbhi that might have been opposed and criticised by the followers of the Gaudi style.4

Harichandra chiefly delights in the figure of speech-the Utpreksa<sup>5</sup>. If the reader once becomes acquainted with the partiality of the poet for this figure, he can understand him more easily.

He has been able to present original ideas in most of his Utpreksas (Jc. I-18, 55, 61, II-7, Ds. V-3, 6, 7, 11, X-10, 16, 29, XIV-1, 16,82, 83). Occasionally he

ग्रन्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ S.D. IX, २. ३.

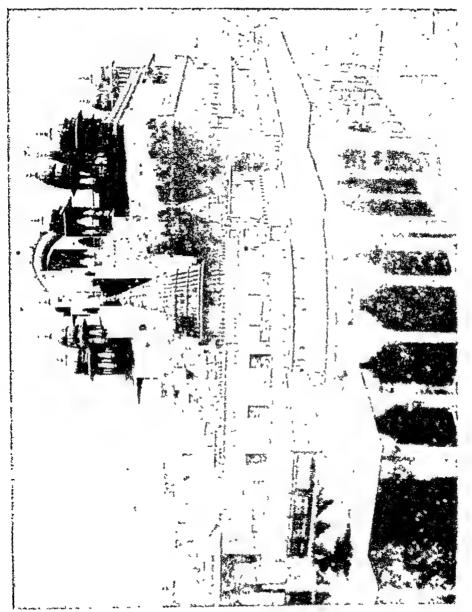
<sup>1.</sup> Vide Ds. 1-10, 26, 29, 44, 57, 72, II, 19, 25, 33, III, 53, 59, XIV, 2, 4, XVII 45 etc.

<sup>2.</sup> Visvanatha defines the Vaidarbhi style as follows :माध्यंव्यञ्जकैवंगी: रचना लिलारिमका।

<sup>3.</sup> Vide Ds. XIX canto.

<sup>4.</sup> Vide Ds. XIX-10.

<sup>5.</sup> The examples are too numerous to be quoted here. However, note the following:— Ds. 1-3, 32, 39, 40, 43, 45, II-5, 14,17, III-5, 6, 38, V-3, 6, 7, 10, VI-3, 36, 42, VII-7, 11,13, 24, 25, 36, VIII-10, 14, 17, IX-9, 18, X-16, 25, XI-3, 26, XII-17, 47. XIII-14, 15, 19, X.V-2, 15, XV-5, 12, XVI-11, 39, XVII-17, 27, 36, XX-79. Jc. I-13, 15, 18, 20, II-7, III-4, 5, 15, IV-11, V-4, 9, VI-2, 4, 5, VII-44, VIII-39, 63, 1X-11, 58, 102, XI-47 etc.



नीन मीमामा, ज्यान महिन्दन, मामिन



presents very fine Utpreksas (Ds.IV-15, 92, VII-42, XVII-64). But sometimes he indulges in artificiality (Ds. XI-27, 33, XIII-3, 4 etc.) His fondness for the excessive use of the Utpreksas has led a scholar to name him as Utpreksa Kavi, who surpasses even Magha in the field of this figure.

The next important figure is the Upama. He shows his keen interest in different varieties of the simile. Learned simile (Ds. II-62, III-9, 19, 74, V-57, 70, IX-48, XV-43, [XVII-55, Jc. I-9). Similes based on general observations of nature and life (Ds. II-73, III-7, 45, 71, V-23, 35, 49, IX-7 etc.), Malopama-(Ds. II-79, V-82,86, XV-2, Jc. I-27, 58, 89, III-29, V-37, 41 etc.) Sensual simile (Ds. IV-13, VII-53), Abstract simile (Ds. V-70, VI-16, VII-1, 68, IX-76, XII-32 Jc. I-22, 49, 101 etc.) are noteworthy.

Many examples of Metaphors are also found in the works of the poet (Ds. I-4, II-64, 68, III-67, 69, XII-59, XIII-21, XV-17, XVI-43, Jc. 1-6, 41, 43, 99, II-1, 3, 8, 16, 21, III-18, 31, 42, 56, 57, 60, 62, IV-33, 35, V-19, 42, VI-2, 7, 31, 36; VIII-35, 36, X-58, 113, 120, etc.) are undoubtedly praiseworthy. Complicated Metaphors (Ds. XIV-20, 21, XV-45, 48, 50, 51, 53, XX-11, 29) and simple Metaphors (Ds. XIV-18, 53, 61, etc.) are also very common.

It must be noted, however, that Harichandra is not so fond of Alliteration<sup>2</sup> as he is interested in the Yamaka.<sup>3</sup>

Of other figures of speech he has used Virodhahbasa (Apparent contradication) Jc. 1-3, 13, II-27, V-35, VI-26, X-50, XI-6, Ds. XVII-33, 45 etc.) Bhrantimana (Errors) (Jc. I-15, 17, 103, III-8, 9, 10, IV-9, VIII-34, XI-3, Ds. VII-31, VIII-3,), Udattalankara (The Exalted) (Jc. I-14), Vyatireka (Dissimilitude) Jc. I-19, III-31, Ds. I-22, 83, Samsayalankara (Jc. III-68, 69, V-43, VI-48, etc., Sahokti (Connected description) (Jc. I-21, 56, 59, 60, V-5, VII-20, Ds. XII-31.)

Apahnuti (Concealment) (Jc. I-21, VI-37, VII-24, Atisayokti (Hyperbole) (Jc. I-25, Ds. II-29, Svabhavoktı (Natural description) (Jc. I-47, IV-8, Dr. VII-45, 59, Arthantaranyasa (Corroboration) (Jc. I-57, 91, III-5, 9, 22, VI-9, VII-3, VIII-5, Ds. VII-61, XIV-12, Dipoka (Illuminator) (Ic. I-31, Dc. XI-40, Tadguna (Borrower) (Jc. II-10, VII-45 XI-3, Kavyalinga (Poetical chure) (ic. IV-10,) Asangati (Direchnechen) (ja. IV-39.) Parisambhya (Special menteta) (Ic. VI-28, Sandcha (Doubt) (Jc. VII-21). Ds. XVII-101), Samuccaya (Conjunction) (Jc. VII-36), Yatha Samirhya (Relative order) (Jc. VII-38, Vihalpa (Alternative) (Jc. VIII-30), Nidarsona (Mustr tich) (Jo. XI-28), Sleen (Paranem. cm) (Jr. I-20, 23, 59, III-31, 67, W-31 WI-66, VII-41, VIII-29, Dc. 1-10, 73, 70, NECC. etc., Distanta (Exemplification) (1): VII-54, VIII-49, Protest (Conversed to VIII-56), Prativactup and Typenal and parison) (Dr. MIV-03, NV-03, NV-04)

<sup>1.</sup> Vide Prastavana to Jc. p. 41.

<sup>2</sup> Only a few instances of Anupraga are found. For example 15. NIN-11. 1., 4., 81 etc.

<sup>3.</sup> Most of the stancas of Ds XIX may be taken an eval therefold the ex-

etc. have also been used by the poet.

Some stanzas and passages of both the works appear to be hinting at the dexterity of his being an adept in the art of conversation and dramaturgy. The stanzas Ds. III-49-60, 62-73 lend to the poem a conversational mantle where the King Mahasena and the sage Pracetasa exchange their views. Similarly the dialogues (Ds. IV 63-75) between the Minister and the king also point to the same element. The stanzas Ds. V-25, 26, 27-35, XV-8-11, 13, 15, 22, XVI-77-82, XVIII-14-43 XIX-5-43, Jc. I - 49 - 54, 94, II-4, III-11-26, IV-31, VII-29-38. VIII-2-9 -13, 24, 32. show him as a good convergo a long sationalist and way to prove that he is more or less interested in dramaturgy also. We find some verses Jc. VIII-13, 45, X-32, 37, 85, 86, 100, XI-48, Ds. XV-22, 50, etc. that are very significant from colloquial point of view.

Harichandra's vocabulary is quite extensive and he is not afraid of using some obscure words. Some pet words and verbs occur again and again. He makes use of the verb BHA at many places Ds. I-40, 48, 49, 52, 54, 64, 66, 86, II-7, III-15, 26, IV-21, VIII-8 (Jc. I-47, III-29, 52 etc). Similarly the form Cakasti has been used by the poet more than once (Ds. I-33, 39 63, Jc. III-17 etc.). He is fond of Pronoun Compounds (Ds. I-2, 4, 5, 6, 7, 11, 41, 47, 81, II-53, 54, 67, 72, III-26, 49,XV-17, Jc. II-18, etc.) and Avyayibhhava (Ds. XIII-16, 18, 29, 35).

"Jainism is one of the great religions of the East which has moulded the lives of countless people to a higher plane of mental discipline and purity of thought. I am much attracted by the teachings of Lord Mahavir."

Ahmed Ali
Former Dy. High Commissioner
Pakistan.

### महावीर का सर्वोदय तीर्थ

त्र्यपने भौतिक जीवन की सुख सुविचाग्रों से जिन्हें संतोप नहीं होता, उससे ग्रागे बढ़कर जीवन के उद्देश्य को जो खोग करना चाहते हैं, उनके सूक्ष्म तत्व को जानना चाहते हैं मानव ग्रीर विश्व के रहस्य को समभना चाहते हैं, मानव की पीड़ा तया उसके निवारण की उत्कएठा जिन्हें दैचेन किये रहती है, ऐसे महापुरुप ही साधना के कठिन पथ पर अग्रसर होते हैं। यह पथ दो प्रकार का है। एक तत्कालीन पंथों के ग्रन्तगंत रह कर ईश्वर साचा-रकार, ग्रात्मसिद्धि ग्रादि का प्रयत्न ग्रीर दूसरा तत्कालीन पंथों का वन्धन तोड़कर सत्य की शोध में नये मार्ग की खोज, प्राप्ति ग्रीर लोगों को उस नये मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न । इस देश में पहला मार्ग वैदिक संस्कृति का रहा है ग्रीर दूसरा मार्ग श्रमण-संस्कृति का। पहले मार्ग में नये साधकों ने वेद-प्रामाएय मान्य करते हुए नये मार्ग खोजे ग्रीर वे वैदिक विचारधारा से कितने भी दूर रहे हों, पर वे वैदिकधर्म के श्रंग स्वीकार कर लिये गये शौर जिन्होंने वेंद-प्रामाएय ग्रस्त्रीकार किया, वे वैदिक धर्म-विचार से कितने भी निकट रहे हों, उन्हें घलग मार्ग निश्चित करना पड़ा। वे ग्रलग सिद्धांत के प्रतिपादक हुए भीर वाद में वे नये घर्म में संस्थापक हो गये। वद मान महावीर श्रीर गीतमबुद्ध इस दूसरी परम्परा में थे। यद्यपि गौतम बुद्ध की भांति बद्ध मान महावीर ने ग्रपने ग्रापको विल्कूल ही नये मार्ग का यात्री नहीं माना, उन्होंने ऋषभदेव श्रीर पार्वनाथ को श्रपना मार्गदर्शक स्वीकार किया। लेकिन नये तीर्घ की स्वापना ही इस बात का मूदक है कि वर्तमान जैन धर्म बहुत कुछ उनकी मौलिक गोज, चिन्तन, प्राचरण, नियम धौर संगठन का परिग्णम है।

महावीर ने सृष्टि की रचना, पालन धौर संहार करने याने सर्व शक्तिमान ईश्यर को नही माना, जो शष्टु का महाबीर ने कर्म-सिद्धान, श्रानेकांत श्रीर रत्नत्रय—इन तीन तत्वों पर धर्म, दर्शन श्रीर समाज को श्राधारित किया है श्रीर इससे उन्होंने निरचय ही इस विश्व में ऐसे सर्वोद्य तीर्थ की प्रतिष्ठा की है जो देश श्रीर काल की श्राविध से परे है।

सर्वनाश करने वाला धौर भक्तों को मुख्य मां विदि प्रदान कर देने वाला है, यहिक इसके घटाय उन्होंने सर्वोपरि स्थान वर्मसिद्धान्त को दिया, जिन्ही प्रमुगार प्रत्येक चेतना युक्त प्राणी में सम्मान तथा राउंगिता मंदर म्रात्मा है, जिस पर उनके मयने दिए हुए वर्मी ना धावरण छावा हुवा है भीर उने पतने पुष्पार्थ ने ही हटाया जा सकता है । उने हटाकर प्रत्येक प्राप्ती राज्य सर्वेशिक्तिमान सर्वेश ईश्वर यन महता है। यह निद्यार एक बारगी ही क्षेत्र-नीच, छोटे-बोर् धनी-निधंन, १५७-पांत. देश-विदेश, स्त्री-पूरप, इन गर भेदों हो हर हटाकर सबके लिए मुक्ति का मार्ग गोल देल है। यहा नहीं यह तो पेवन मनुष्य ही गती, पशु-पदी ते दिन् भी सामना वा मार्ग प्रशत वर देता है कीर उनके ए व भी मनुष्य का भाईपारा कायम करने पर जीत देला है। यह जैन समाज की धर्म-जिहेंदना ही है कि काल उनके भी छुपाछुन, लात-बांत, पार्य-बुंबेन्ड, गृग्य-वर्ग भी लयाबधित उपवता धौर तिवता ने धाणार दर चेट-भार धीर पानिक प्रियमिक ही क्लाबिका की दल तक एस गई है कि समझह समाधीर की सुनि के आहे क भी उपावित होसी अति ने लेते रे वित्र करते हैं। इस मारी विकृति का जैन पर्व और क्षांत है अहे

सम्बन्ध नहीं है, यह परिस्थित इस धर्म के अनुपायियों में साम्प्रदायिकता के प्रवेश के बाद सत्ता और सम्मत्ति की सुरक्षा के लिए अपने चारों और के समाज के अन्धे अनुकरण से पैदा हुई और बढ़ी है।

कमं-सिद्धान्त भौतिक जगत के वैज्ञानिक सिद्धान्त-कारण-कार्य सिद्धान्त को ग्रात्मा के चेत्र में ले जाता है ग्रीर मानव के सुख-दुःख का ग्रत्यन्त वैज्ञानिक विश्लेषण करता है। यह ग्रपने पुरुषार्य के मूल ग्राधार पर प्रत्येक के ग्रीर सबके उदय का सिद्धान्त है।

जैन धर्म का दूसरा सिद्धान्त अनेकांत का है। यह भी अत्यन्त वैज्ञानिक दृष्टिकीए। है। यह विश्व अत्यन्त-जटिल और रहस्यपूर्ण है। श्रात्मा का ज्ञान भी बहुत गहरा श्रीर कठिन है। सामान्य मनुष्य इनके एक पहलू को ही सामान्यत: समभ घीर जान सकता है इसलिए मानव जो कुछ प्रतिपादन करता है, उसे सही तरह से समभने के लिए यह जानना जरूरी है कि वह प्रतिपादन किस दिष्टिकीए। से, किस परिस्थित में किया गया है, तभी उसका ठीक से मूल्यांकन किया जा सकता है। मानव का सारा दर्शन सापेच है क्योंकि प्रत्येक मानव अपने युग और परिस्थिति से प्रभावित है। लेकिन मनुष्य केवल परिस्थितियों का ही दास ही श्रीर उन्हों से पूर्णतया ग्रभिभूत हो जाता हो, यह भी सही नहीं है, नयोंकि मनुष्य परिस्थितियों का ग्रीर युग का निर्माण भी करता है, ग्रतः परिवर्तन के साथ-साथ विश्व में तथा मानव से कुछ मूलधौन्य तत्व भी है। इस प्रकार जैन दर्शन प्रपार्थं ग्रीर परिस्थिति या भाग्य का समन्वय करता है। ग्रनेकान्त का सिद्धान्त सारे विश्व के विचार को जैन धर्म की महान् देन है। यह सर्वोदय की हिट्ट सबके विभिन्न विचारों को समभने, उनमें से मूल तत्व को खोज निकालने, गीए तत्वों के मतभेद पर वजन न देने और सबको समान ग्रात्म तत्व के ग्राघार पर स्नेह तथा सम्मान के द्वारा साथ ले लेने की हिन्द को समर्थन ग्रीर वल देने वाला है।

जैन धर्म की तीसरी देन तीन रतन या रतन श्रम का सिद्धान्त है। 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोच मार्ग: - उमास्वामि का यह महान सूत्र विश्व में मानव-मुक्ति के सारे सम्भव प्रयत्नों का समन्वय करने वाला है। दुनियां के विभिन्न पंथों में से किसी ने भक्ति ग्रीर ग्रात्म-समपंण पर जोर दिया है जैसे इस्लाम ने। हिन्दू धर्म के ग्रन्तगंत भक्ति—मार्ग के सम्बन्ध में गीता में श्री कृष्ण ने कहा है:—

सर्वधमीन् परित्यज्य मामेकं शरणं वज । अहंत्वां सर्वपायेम्यो मोच्चयिद्यामिमा श्च: ।।

इसके विपरीत कुछ पंथ जैसे देदांत, सांख्य ग्रादि ज्ञान पर ही जोर देते हैं ग्रीर कुछ पंथ जैसे मीमांसा ग्रादि कर्म या ग्राचार—व्यवहार पर ही वल देते हैं ग्रीर कहते हैं कि इसी से मानव का उद्घार सम्भव है, लेकिन महा-वीर का कथन है कि यह तीनों मिलकर ही मोच का मार्ग वनते हैं। इसमें जहां तीनों रत्नों—महान् तत्वों का समन्वय है, वहां इन तीनों की महत्ता की स्वीकृति भी है। यह मानव ग्रीर मानव—समाज के सर्वाङ्गीण विकास ग्रीर प्रगति के लिए ग्रानवार्यतः ग्रावश्यक इस महान् सत्य का सूंचक भी है कि मानवीय प्रगति श्रदा, ज्ञान ग्रीर ग्राचरण—व्यवहार, इन तीनों से मिलकर ही हो सकती है, ग्रन्यथा नहीं।

हमारा मानना है कि महावीर ने कमं-सिद्धान्त, अनेकांत और रत्नत्रय—इन तीन तत्वों पर धमं, दर्शन और समाज को आधारित किया है और इससे उन्होंने निश्चय ही इस विश्व में ऐसे सर्वोदय तीर्थ की प्रतिष्ठा की है जो देश और काल की अवधि से परे हैं। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र का यह कथन कि महावीर का सर्वोदय तीर्थ अनादि और अनन्त है—सर्वोदय तीर्थ मनाद्यनंतं—यह देश और काल की दृष्टि से किसी सीमित और संकुचित विचार का द्योतक नहीं है, विल्क व्यापकतम दृष्टि से उसमें मानव और मानव—समाज के कल्याएं का चिरंतन सन्देश है।

## विवन-ग्रवानित का एकमात्र उपाय-महावीर के धर्म की साधना

करता हूं तो लोग पूछते हैं तुम तो जाति के ब्राह्मण हो, वैदिक परम्परा को मानते हो—फिर महाबीर जयन्ती पर क्यों ग्रा गये ? तो में कहता हूं कि ग्राह्मिकता की पराकाष्ठा महाबीर में थी। वैदिक परम्परा यह है कि जो वेद को न माने वह नास्तिक है। किन्तु मुक्ते यह निश्चय हो जुका है कि वेद तो ग्रंथ है, शास्त्र नहीं। मैं किसी भी सिद्धांत के मामले में शास्त्र को प्रमाण मान सकता हूं, ग्रंथ को नहीं। ग्रंथ के ग्रंदर जो सत्य है उसे मानता हूं। ऐसा हो ईश्वर को मानना न मानना ग्राह्मिकता की पूर्णता नहीं है। मानने न मानने का प्रश्न तो बड़ा गीए है। प्रश्न तो ग्राचरण का है। मैं तो यह कहता हूं कि जो ग्रपने हृदय पर विश्वास रखे व ग्राह्म प्रेरणा से कार्य करे वह ग्राह्मिक ग्रीर जो न रखे वह नाह्मिक।

में महावीर को परम श्रास्तिक मानता हूं। महावीर ने मनुष्य जाति ही नहीं प्राशी मात्र के विकास और निर्माण का माध्यम प्रहिंसा मानी थी किन्नु उसका प्रारम्भ उनने कमवार किया स्वयं से शुरु कर कुटुम्ब जाति समाज राष्ट्र और विश्व पर। इस तरह उनके हृदय की बात कर्म हारा जग पर छा गई। उनके हृदय में यह छात्मी- यता जागी कि प्राशी मात्र का बत्याण होना चाहिए। उनकी श्रद्धा इतनी जाग्रत थी कि उस गन के छादशं को विश्य के सामने रूप वे विश्व के बत्याण का मार्ग प्रशस्त कर सके।

में महाबीर को परम श्रान्तिक मानता हूं। महाबीर ने मनुष्य जाति ही नहीं प्राणी मात्र के विकास श्रार निर्माण का माध्यम श्रिहंसा मानी थीं। किन्तु उसका प्रारम्भ उनने क्रमधार किया। स्वयं से शुरु कर छुटुम्य, जाति। समाज राष्ट्र श्रार विश्व पर। इस तरह उनके हृद्य की बात कर्म हारा जग पर। छा गई। प्रस्तुत केल में विद्वान लेलक ने इस बात पर जोर दिया है कि महा-श्रीर के उपदेशों को हृद्य में उनारा जाय।

महाबीद ऐसे जमाने में हुए में लि मनुष्य मनात है दक्त का प्यामा या। उसने घरिमा ना जो महदर्श कर्म हारा उपस्थित विया यह न ने यस उसने प्रधा जो महदर्श कर्म हम्म कुम के लिए या। या उसने भ्राप्ता जो मानी मात्र तक फैलाया। ने भरित्य एपटा थे। धे राज्ये के कि प्रधा मात्र तक फैलाया। ने भरित्य एपटा थे। धे राज्ये के कि प्रधानमें गुणाने नवीं से घरित्य करा तक व्यक्ति है हि प्रधान के प्रधान के प्रधान के कि प्रधान के प्रधान के प्रधान के प्रधान के हि प्रधान के प्र

स्वती सुनियात थी-क्षित्य शतुम हर नद्यात है। प्रक्रिया गीर निक्र गत्रने कर बन्दार कर है, एसने हाति कि द्वा व ग्राज की दुनियां में भी जब गांधी ने यह देखा कि सत्य ही ईश्वर है तो उनने स्वयं सत्य का तप तपा ग्रीर फिर राष्ट्र निर्माण का यज्ञ प्रारम्भ किया।

सभी धर्मकारों ने झहिंसा और तप को प्रधानता दी। मन पर काबू करना, वासना मारना, लोभ काम क्रोध शत्रग्रों पर विजय तप है। यह कर लेने से श्रहिंसा मन में प्रतिष्ठित होगी। यह घमं महावीर का घमं है। वे जानते थे कि मनुष्य ग्रत्पज्ञ और कमजोर है ग्रतः उसने ग्रहिसा ग्रीर तप के लिए भी सीढ़ियां वनाई--व्यवहार घर्म की बात कही । किन्तु हमने मूल को छोड़ दिया, गील को पकड लिया--जैनियों से मेरी खास शिकायत है। ग्राज हम छोटी छोटी वातों में हिसा की दुहाई दे वचते हैं किन्त् शोपएा (Exploitation) समाज खुल कर करती है। जैन समाज के जीवन में यह द्वीत म्राखिर क्यों ? ''धैंक वेक्षेन्स'' वढाने का घमं ग्राज महावीर की समाज भी करती है। अमेरिका में वैंकर्स सबसे अविक दयाल ग्रीर ग्रहिसक कहे जाते हैं किन्तु वहां के सब से वड़े घनी भी वं ही हैं। तो अहिंसा परायण हो, शोपण द्वारा सबसे बड़ी हिंसा करना यह तो महावीर के ग्रादर्शा-नुयायियों का धर्म नहीं।

ऐसे घनिक लोग दान का सहारा ले वरी हो जाते हैं, वे सोचते हैं कि लूट कर कमाग्रो, दान कर देंगे, धर्म भी कमा लेगे। किन्तु यह गलत है। दान तो परिग्रह से छुड़ा ग्रपरिग्रही बन त्याग सीखने का मार्ग भर है। दान केवल ज्ञान—निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकता। लोग इस तरह मूल छोड़ गीएा को पकड़ लेते हैं।

किन्तु अत्र गरीवों का भगवान जाग्रत हुमा है। अब वे किसी को घनी नहीं होने देंगे, अंग्रेज बुद्धिमान थे कि उनने इस जाग्रति को पहचाना और अपना सर सलामत कर लिया। देशी राजों ने भी बुद्धिमानी कर अपना सर सलामत कर लिया। और यह सब श्रहिंसक क्रांति से आरम्भ हुमा। अब पूंजीवाद का नम्बर है। पूंजीपतियों को भी यदि सिर सलामत रखना है तो वे शोषण छोड़ें। आज तो समाज का घमं है कि वह यह हृदय से माने कि सबके कल्याण में हमारा कल्याण है श्रीर मानव समाज एक है। मैं घन न कमाने की बात नहीं कहता किन्तु हृदय परिवर्तन की बात करता हूं। यदि श्राज हृदय वदल यों वन जाये कि चीन, श्रमेरिका, इंगलैएड श्रीर सारे विश्व के लोग मेरे भाई हैं तो विश्व युद्ध न हो। हमारी मान्यता श्रलग श्रलग हो कोई बात नहीं। किन्तु साम्प्रदायिकता ना ख्याल क्यों? श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी मन्दिर मार्गी यह पन्य क्यों? ऐसी भेद की दीवार क्यों खडी की जाती है?

मुभे ग्राश्चयं होता है जब जैन समाज जो श्रनेकांत भीर समन्वय की दृष्टि रखता है, स्वयं छोटे छोटे पचड़ों में पड़ जाता है। महावीर का घर्म तो नास्तिक, हिंसक, दुराचारी सब मेरे भाई हैं--यहां से शुरु होता है। समता भाव उसका मूल है। तो मैं तो कहता हूं कि जैन समाज को पन्य श्रीर सम्प्रदाय छोड़ ग्रपने श्रापको जैन ही कहना चाहिए और तब वे महाबीर के घर्म की प्रसा-रित करने में सफल हो सकेंगे। भेद बुद्धि को तो छोड़ ही देना होगा। अभेद अहिंसा को हृदय ग्रीर साधना में उतारना होगा । हम ग्रगर दूसरों के दोप देखने लगें तो स्वयं के दोपों को नहीं देख पायेंगे। मनुष्य में तो दोप अधिक हैं। अत: यदि उनका वहिष्कार शुरू कर देंगे तो स्वयं वहिष्कृत हो जायेंगे। ग्रतः हम ग्रपने दोप देखकर दूर करने का प्रयत्न करें । त्रिन। स्नमा के चश्मे के दुनियां को न देखें। तभी प्रगति हो सकेगी। ब्रहिसा की शर्त हैं ज्ञमा, संयम, तप, सत्य। यदि यह नहीं है तो हम ग्रहिसक हो ही नहीं सकते।

ग्रीर दूसरी वात है श्रम्। विना श्रम किये हम ग्राह्सक हो ही नहीं सकते। जीवन के लिए जितने भी उद्योगों की ग्रावश्यकता है वह सब हमें करना चाहिए। दूसरों पर जीना तो शोपण् याने हिंसा होगी। गांघीजी ने बुनियादी तालीम में जो सिद्धांत रखे वह मूलत: श्रिहिं-सक नव समाज निर्माण के मूल तत्व हैं। ग्रभी जो राठ में सर्वोदय सम्मेलन हुगा था यदि इसका यह नाम करण न होता तो मैं इसे हो "महाबीर जयन्ती" नाम दे देता क्योंकि वहां हमने ग्राहिसा की स्थापना कैसे हो इसके सिवा दूसरा प्रश्न ही नहीं सोचा। मैं तो अहिंसा के प्रसारक महात्मा गांधीजी को महाबीर का अवतार मानता है।

स्रिंसा की साधना में जो किठनाई होती है वह यही कि स्रात्मा एक तरफ और शरीर के स्वार्थ वासना स्रादि दूसरी स्रोर खेंचातानी करते हैं। शरीर स्रपना पहले सोचता है और स्रात्मा दूसरों का ध्यान पहले रखता है। स्रादमी दूसरों के हित का पहले सोचते ही धार्मिक वन जाता है।

भूख लगने पर खाना यह तो पाप और चोरी है किन्तु स्वयं को भूख लगते ही झात्मा में यह एपाल छाना कि और भी नोई भूखा होगा उसे पहले दिया लागे. यही धर्म है। इस तरह जड़ चेनना में जो पाइयन रुपां चलता है उसमें आत्मा को विजयी बनाना पदी तप. छाप श्रीर श्रीहसा है।

- (१) जैनियों के ऋहिंसा तत्व की प्रशंसा में निन्न महानुभाव ने लिला है कि इसका प्रभाव ऋजैनों पर पड़ा है जैनियों के उद्योग से बढ़न सी पशुवित वन्द हुई है।
- (२) उनका (जैनों का) साहित्य तो बहुत ही गम्भीर श्रीर देखने योग्य है।
- (३) जैन कित्रयों ने हिन्दू व मुसलमान राजाओं के साथ बहुन काम किया है।
- (४) चड़े साहित्य भएडार के स्थापित करने वाले जैन लोग हैं।
- (४) उन्होंने कथा प्रन्थ भी बहुत बढ़िया लिखे हैं।
- (६) भारतीय सभ्यता का इतिहास लिखने के लिये जैन कथाएँ वहन ही अमृल्य कारण हैं।
- (७) जैन कथाश्रों में नीति व धर्म का स्पष्ट उपदेश है।
- (=) जैन कथाचें लोगों की प्राचीन दशा को बनाने के लिए बीट प्रधार्यों की खिपेसा बहुन छाधिक विश्वाम गुक उपाय हैं
- (६) जै । कथा साहित्य का प्रकाशन बहुत आवस्य क ते ।

-तिर राज्य गरीत, शारी

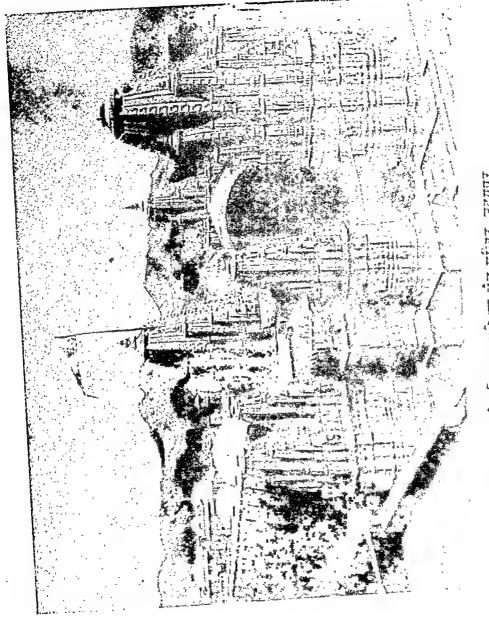
#### संत तारण-तरण और उनका तारण पंथ

द्वारत को ग्रने काने क संतों के उत्तन्त करने का श्रेय है। सच कहा जाय तो यह सन्तों का देश है। तारण पंथ के प्रवर्तक महात्मा तारण तरण भी इसी देश को ग्रपने पावन जन्म से ग्रलंकृत कर चुके हैं। उनका जन्म मगिसर सुदि ७ विक्रम संवत १५०५ में युन्देल खएड के पुष्पावती नामक ग्राम में हुमा था। कहा जाता है कि उनके पिता का नाम गढ़ासाहू ग्रीर माता का नाम वीर श्री देवी था। यह पता नहीं चलता कि उनका जन्म नाम क्या था। ग्राज तो वे हमारे सामने संत तारण तरण के नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

वे जैन परिवार में जन्मे ग्रीर जैन शास्त्रों का उन्होंने गंभीर ग्रध्ययन किया। कवीर ग्रादि संतों की तरह वे भी क्रांतिकारी थे। जैन समाज उस समय प्रनेक प्रकार के निर्जीव क्रिया कः एडों से भ्राक्रान्त या, भ्रम्घ विश्वासों का बोल वाला था और उसे नाना विव गंदगियों ने दूपित कर रक्खा था। संन तारण तरण चाहते थे कि मानव समाज धर्म का वास्तविक स्वरूप समभे । वाह्य क्रिया काएड उसका उद्धार नहीं कर सकते । वे तो उसे वर्बाद कर रहे हैं। वास्तविक धर्म उसे मिलता नहीं और जी मिलता है घर्म का कोरा पाखराड है। यह स्थिति वडी चिन्तनीय थी । संत तारण तरण इसमें क्रांति करना चाहते थे। जनकी यह क्रांति सफल हुई ग्रीर उन्होंने एक नये पन्य को जन्म दिया जो ग्राज तारण पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। जिस तरह श्वेताम्बर संप्रदाय में गलत परंपरा ग्रीर शिधिलाचार से वेदनाभि भूत होकर श्रीलोकाशाह ने स्यानक वासी संप्रदाय की ग्रीर फिर उसमें से ग्राचार्य भीखड़ जी ने तेरापंथी संप्रदाय की स्यापना की उसी तरह संत तारण आज हमारे वीच नहीं हैं, पर इसमें कोई शक नहीं कि उनकी अमर आतमा आज भी हमें सत्य के दर्शन की खोर आकृष्ट कर रही है। संत सूर्य की तरह सब खोर अपना प्रकाश फैलाते हैं। उनमें सांप्रदायिकता नहीं होती। जाति एवं छल आदि का अभिमान भी उन्हें नहीं होता। ये अहिंसा की वाणी में वोलते हैं और अहिंसा की वाणी में वोलते हैं और अहिंसा ही उनकी साधना होती है। कोई भी उनकी छत्र छात्रा में आकर खपना कल्याण कर सकता है।

श्री तारण स्वामी ने दिगम्बर संप्रदाय में से तारण पंथ को जन्म दिया ।

तारण स्वामी मूर्ति पूजा के विरोधी थे । फिर भी मंदिरों की आवश्यकता समभते थे । वे मंदिरों में प्रतिमा नहीं अपितु शास्त्रों की स्वापना करते थे ध्रौर शास्त्र ही उनके आराज्य थे । उन्होंने सब मिला कर चौदह शास्त्रों का निर्माण किया । उनका सारा साहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है । एक में शास्त्रीय ज्ञान की व्याख्या और दूसरे में निष्कलंक आत्मानुभूति का विवेचन था । इन ग्रंथों में नौ हजार श्लोक और एक लाख सूत्र हैं । आत्मा के विषय में उनका गहन विवेचन वास्तव में पढने योग्य है । तारण स्वामी के कुछ ग्रंथों का सम्पादन स्वर्गीय ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने किया है ।



क्षेत्रनियानाथती का जैन मस्टिन, उदयपुर

	•		
•			

इस पंथ के मानने वालों कीसंख्या सव मिलाकर करीव चालीस हजार है और इसके अनुयायो प्राय: बुंदेल खएड में ही मिलते हैं इनमें कई प्रसिद्ध व्यापारी हैं और वड़ी घामिक आस्या वाले सज्जन हैं। कई प्रतिष्ठित विद्यान इस घमें के अनुयायी हैं। संत तारण का संभवत कोई भी ग्रंथ संस्कृत या प्राकृत आदि भाषाओं में नहीं है। उनके ग्रंथों की भाषा उस समय की शायद लोक भाषा है। वह व्याकरण के नियमों से जकड़ी हुई नहीं है। जरूरत है कि उनके शास्त्रों का प्रचार हो। संत तारण हमारे देश की महान विभूति थे। उनकी क्रांति सत्य के लिए थी। उन्होंने इस क्रांति द्वारा जगत के लिए सत्यं शिवं सुन्दरम् का पथ प्रदर्शन किया।

सन्त सत्य दृष्टा ग्रीर सत्य प्रचारक होते हैं। जन मानस में सत्य दृष्टि को ग्रंकित करने के लिए यद्यपि उन्हें नाना विष्न वाधाग्रों ग्रीर यातनाग्रों का सामना करना पड़ा, किन्तु वे ऐसी चीजों की विना परवाह किये ग्रपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए सतत ग्रागे वढ़ते रहे थे। प्रत्येक देश में ऐसे सन्त हुए है जिन्हें जगत का वातावरण स्वस्थ बनाने के महान प्रयासों में लोक निदा भत्संना ग्रीर वर्जना सहनी पड़ी किन्तु इन तुच्छताग्रों पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया ग्रीर वे श्रन्त में सफल हुए संत तारण के फ़्रांति पय में भी अनेक विध्न झाये होंगे पर वे उनव अनवरत महान साधना में स्वत: हो विभीन हो गुपे।

संत तारण आज हमारे बीच नहीं हैं, पर इस कोई शक नहीं कि उनकी अमर शात्मा माज भी हमें गर के दर्शन की ओर आकृष्ट कर रही है। छंत मूर्य की तर सब ओर अपना प्रकाश फैलाते हैं। उनमें मंत्रदादिएत नहीं होती। जाति एवं कुल आदि का प्रभिमान भी उन नहीं होता। वे अहिंसा की बाणी में बोलते हैं घौर धहिन ही उनकी सायना होती है। बोई भी उनको छव स्था में आकर अपना कल्याण कर सकता है।

तारण स्वामी का जीवन मधिक लंदा नहीं मा। म संवत १५७२ में दिवंगत हो गये। जहां वे देह मुक्त हुं ये वह स्थान ब्राज तीयं बन गया है। यह तीयं रक्षा (मल्हार गड़) बीना (मच्यप्रदेश) से ६ मील नी हुने प है। वहां उनके स्मारक स्थरप एक नमाधि रुपत भी दन हुआ है। उनकी समाधि के धासपान उनके हिन्दू मुक्ता मान और हरिजन शिष्यों की भी समाधियों दर्ग हुई हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका जीवन दर्शन मान भी मानव मन को प्रेरणा दे रहा है।

#### तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण : एक अध्ययन

चौबीस तीर्थं करों के शरीर का वर्गा-रंग शास्त्रों में निम्न प्रकार वताया है:-

१-"तिलोय पण्यात्ती" अधिकार ४

चन्द यह पुपफदंता कुन्दुन्दुसार हार संकासा । हरिदा सुपास पासा सुन्वय ऐमी सणील वरणात्रो ॥४८८॥ विट्दुम समाणदेहा पडमप्पह वासु पुन्ज जिए एगहा । सेसाण जिएवराएं काया चामीयरा यारा ॥४८॥

२-- 'पउम चरिय' (विमल सूरि कृत) पर्व २०

वन्दाभो चन्द निभो वीस्रो पुण पुप्फदंत जिए वसभो ।
कुसुम पियगु सवएणो इवइ सु पासो विगय मोहो ॥५४॥
यर तरुण सालि वएणो पासो णागिंद संधु श्रो भयवं ।
पउमाभो पडमिनभो वसु पुज्जो किंसुय सवएणो ॥४४॥
स्रांजन गिरि सरिस निभो हवइ य मुणि सुव्वस्रो नियस णाहो ।
वर हिण कंठावयवो नेमि जिणो जाय वाएणदो ॥४६॥
निद्धन्त कण्य वएणा सेसा तित्थंकरा समक्खाय ॥४७॥

३-- 'पद्म चरित' (रविषेगाचार्यं कृत) सर्ग २०

चन्द्राभरचन्द्र संकाशः पुष्ण्यदंतरच कीर्तितः ।
त्रियंगु मंजरी वर्णः सुपार्श्वो जिन सत्तमः ॥६३॥
प्रमुक्त्व शालि संकाशः पार्श्वो नागाधिपस्तुतः ।
पद्म गर्भ समच्छायः पद्म प्रभ जिनोत्तमः ॥६४॥
किशुकोत्कर संकाशो वासु पूज्यः प्रकीर्तितः ।
नीलांजन गिरिच्छायो सुनि सुन्नत तीर्थं कृत् ॥६४॥
मयूर कंठ संकाशो जिनो याद्व पुंगवः ।
सुत्रत कांचनच्छायाः शेपाः जिनवराः स्मृता ॥६६॥

४—"ग्रकृत्रिम चैत्यालय पूजा"—

द्रौ कुन्देन्दु तुपार हार धवली, द्वाविन्द्र नील प्रभौ। द्वी बंधूक सम प्रभौ जिनवृपौ, द्वी च प्रयंगु प्रभौ॥ शेपा पोड़श जन्म मृत्यु रहिता, संतप्त हेम प्रभाः। ते सन्जान दिवाकराः सुरनुताः, सिद्धि प्रयच्छंतु नः॥

५—पूजासार (हस्त लिखित पत्र ५३)
पार्श्व सुपारत्रौं हरिदौ नीलाभौ नेमि सुत्रनौ ।

चन्द्र दंतौ सितौ शोणौ पदम पुच्यौ परे परे ॥

(इन सब ग्रन्थों में —चन्द्रप्रभ श्रीर पृष्पदंत को कुंदपुष्प, चन्द्र, वर्फ एवं हीरा मुक्नाहार की तरह 'क्वेत' सुरार्श्व श्रीर पार्श्वनाथ को प्रियंगु मंजरी (मेंहेदी के पत्तों) की तरह ग्रयवा दिना पके धान्य के पीधों की तरह 'हरित' मुनिसुवत श्रीर नेमिनाथ के नीलांजल निरि ग्रयवा मगूरवंड की तरह 'नील' पद्मप्रभु श्रीर वासु पूज्य को कमल श्रयवा टेसू के फूल की तरह 'नाल' श्रीर देव १६ तीर्थंकरों को तपाये सोने की तरह 'पीत' वर्ण वाले वताये हैं )।

६-वरांग चरित ( जयसिंह नंदि ) सर्ग २७

सुत्रण्विण् खलु पोड़रीव चन्द्र प्रभो हो च जिनो सितामी। हो हो च संध्यांजन तुल्य वणी हावेन दूर्वा कुर कांड भानी।।<ऽ:।

७-जिन यज्ञ कल्प ( आशाधर कृत ) अध्याय १

सितौ चन्द्रांक सुविधि श्यामलौ नेमि सुत्रतौ । पद्म प्रभ सु पूज्यौ च रक्षो मरकत प्रभा ॥=०॥ सुपाश्व पाश्वौ स्वर्णाभानशेषांश्चालेखवेत्समरेन् ॥=१॥

५-ग्रनगार धर्मामृत ग्रध्याय ५ इली. ४१ की टीका ( पृष्ठ ५६६ )

श्री चन्द्र प्रभनाथ पुष्पदशनौ कुन्दावदातच्छ्यी । रक्तांभोज पलाश वर्ण वपुषौ पद्म प्रभ द्वादशौ ॥ कृष्णौ सुन्नत यादवौ च हंरतौ पार्दाः सुपार्दारच व । शेषाः संतु सुवर्ण वर्ण यपुषो में पोड़शावघन्दिहदे ॥

६—गौत्तम चरित ( मंडलावार्य धर्मचन्द्र कृत ) ग्रधिकार ५ चन्द्राभ पुष्पदंतेशौ श्वेत वर्णो प्रकीर्तितो । पद्माभ द्वादशो राजो स्याम ली नेसि स्वत्री ॥१२ =॥ सुपार्श्वनाथ पार्श्वी द्वौ हरिद्वर्णो च पोइशः । तीर्थकरा बुधेर्श्वेयाः संवष्न कनक प्रभाः ॥१२ ।॥

१०-चर्चाशतक (दचानत रायजी कृत)

पहुप दंत प्रभु चंद्सम सेत विराजे।
पारसनाथ सुपास हरित पन्नामय छाजे।।
वासु पूज्य दंत प्रभु छरु पद्म रक्त माणिक द्वृति सोहे।
सुनि सुवत छरू नेमि स्याम सुन्दर मन मोहे॥
वाकी सोले वंचन वरण यह विवहार सरोर धुन।
निहचे छरूप चेतन विमल दरम हान चरित-हुन ॥०६॥

(इन ग्रन्थों में भी उपर्युक्त ४ नंदर तन के प्रत्यों की गरर ही की के एक एक प्राप्त है सिर्फ मुनि सुवत और नेमिनाय को 'नोल' वर्स की को बढ़ाय 'हारा' वर्ग बयावा है )

११-हरिवंश पुराएा (जिनसेनाचार्य कृत ) सर्ग ६०

चन्द्राभ एव चन्द्राभः सुविधिः शंख सत्प्रभः ।

प्रियंगुमंजरी पुंजवर्णः सुपार्व तीर्थ कृत् ॥२१०॥

मेघ रयामवपुः श्रीमान् पार्श्वस्तु धरणस्तुतः ।

पद्मगर्भ निभाभश्च पद्म प्रभ जिनाधिप: ॥२११॥

रक्त किंशुक पुष्पाभी वासुपूज्यो जिनेश्वरः ।

नीलांजना चलच्छायो मुनीन्द्रौ मुनि सुत्रतः ॥२१२॥

नील कंठ स्फुरत्कंठ रुचिर्नेमिः समीक्तिः।

सुतप्त कनकच्छायाः शेपास्तु जिन पुन्गवाः ॥२१३॥

( इसमें और तो सब उपर्यु क्त ग्रन्थों की तरह ही वताया है सिर्फ सुपार्क्व ग्रीर पार्क्नाय को कंगर्गो के फूल एवं वादलों की तरह श्याम-ऋष्ण वर्गा वताये हैं। साथ ही मुनि सुव्रत श्रीर नेमीनाय को नीलवर्ण वताये हैं)।

१२—तिलोयसार (नेमिचन्द्र कृत)

पडमप्पह वसु पुष्जा रत्ता धवला हु चन्द् पह् सुविही। ग्णीला सुपास पासा गोमी मुग्गि सुन्त्रया किएहा ॥५४०॥

१३--संस्कृत चीवीसी पूजा-जयमाल (ज्ञानचन्द्र जैनी लाहीर द्वारा प्रकाशित )

१४—चौबीस तीर्थं करों का ज्ञातव्य नकज्ञा (जीयालालजी, जौहरी नगर-मैनपुरी)

(इन सब में ग्रीर कथन तो यथा पूर्व है सिर्फ सुपाइर्व पाइर्व को 'नील' वर्गा ग्रीर नेमि-मुनि सुव्रत को 'कुष्ण' वर्ण वताया है। भूधरदासजी कृत 'पार्च्व पुराण' में भी पार्च्वाय प्रभु को नील वर्ण लिखा है देखो-ग्रधिकार ७ श्लोक ३०-नील वरण नौ हाथ उतंग ॥)

१५-गुणभद्राचार्य कृत उत्तर पुराएा का एतत्संबंधी कथन ठीक 'तिलोयपण्यात्ती' के समान है। 🕊 पुष्पदंत कृत अपभ्रंश उत्तर पुराण का कथन गुराभद्रानुसार है सिर्फ नेमिनाथ को नील के बजाय कृष्ण बताया है।

१६—'एकसंघि जिन संहिता' (प्रतिमा लक्ष्ण-परिच्छेद श्लोक नं. १४१) — हरिवंश पुराण की तरह कथन है (पार्श्व-सुपार्श्व=श्याम । मुनि सुव्रत-नेमि=नील बताये हैं।)

१७ - कल्याण मंदिर स्तोत्र इलो. २३ में पार्च नाथ को स्याम वर्ण बताया है। इसीलिए पाटण म्रादि में पार्व नाथ 'सांवलिया पारस नाथ' कहलाते हैं।

१८-पार्श्व नाथ चरित (वादिराज कृत सर्ग १ व्लो. ६, सर्ग १० व्लोक ६६ में पार्श्व प्रभु को च्याम वताया है ग्रीर सर्ग ११ क्लोक २३, ४५ एवं सर्ग १० क्लो. ६ में मरकत्त (पन्ना) की तरह हरित वर्ण बताया है।

देखो ज्ञानपीठ प्रकाशन—पृष्ठ ४१ प्रियंगु प्रसवच्छिवः (सुपार्श्व) पृष्ठ ४३५--वालशालिटनुच्छायः (पाश्वं) पृ. २४६ सर्पाशन गलच्छायः (मुनिसुव्रत) पृष्ठ ३७७-नीलांभोज दलद्युति (नेमीनाय) ।

- १६—'स्वयंभू स्तोत्र' (२०-२) में मुनि सुत्रत को मयूर कंठवत् नील वर्ण वदाया है।
- २०—मुनि सुव्रत काव्य ( ग्रर्हदास कृत ) सर्ग ७ श्लोक ४-६ में मुनि सुव्रत नाय को कृष्ण वर्ण ग्रीर सर्ग ६ श्लो. ३३ में 'तमाल नीला कृति' सर्ग ४ श्लोक २३ में 'नीलांजन सिन्ध' बताया है।
- २१—दौलत रामजी ने 'पदम चरित' की वचनिका में नेमिनाथ को मयूर कंठ समान इयाम वतावा ( जबकि मयूर का कंठ नीला होता ) सर्ग २० श्लोक ६५।
- २२-रामचन्द्र कृत 'चौबीसी पूजा'
  सुपार्श्वनाथ को हरितवर्गा । पार्श्वनाथ को मेघ समान कृर्णा वर्गा । मुनिसुव्रत को स्याम वर्गा बताया है ।
- २३—वृन्दावन कृत 'चौबीसी पूजा'। पार्वनाथ को हरित वर्गा। मुनिसुवत ग्रीर नेमिनाय को श्याम वर्गा बताया।

२४ - कृत्रिमा कृत्रिम चैत्य पूजा

जंवू धातिक पुष्करार्ह्घ वसुधा चेत्र त्रये ये भवा । श्चन्द्रां भोज शिखंडि कंठ कनक प्रावृड्घनाभाः जिनाः ॥ सम्यग्ज्ञान चरित्र लज्ञ्गण धरा दृग्धाष्ट कर्मेन्धनाः । भूता नागत वर्ष्तभान समये तेभ्यो जिनेभ्यो नमः ॥

(जंबू द्वीप, धातकी द्वीप, श्राधा पुस्कर द्वीप श्रर्थात् श्रद्धाई द्वीप (मनुष्य लोक) के भरत ऐरावत श्रीर विदेह इन तीन क्षेत्रों में उत्पन्न, श्वेत-रक्त-नील-पीत श्रीर कृष्ण वर्ण वाले, रस्त नय के धारी, श्रद्ध कमों के हंता, भूत-भविष्यत्-वर्तमानकालीन तीर्थकरों के लिए नमस्कार हो।)

इन २४ प्रमाशों से स्पष्ट है कि १६ तीर्थकरों के पीत वर्श, चन्द्रप्रभ-पुष्पदंत के द्वेत दर्श श्रीर पद्मप्रभ-वासुपूष्य के रक्त वर्श होने में सब ग्रन्थ एक मत हैं। सिर्फ मुपाद्य श्रीर पार्व तथा मुनिसुव्रत श्रीर नेमि इनके वर्श के विषय में परस्पर मतभेद है। कोई मुपाद्य पार्व को ह्रिन दोई कृष्ण श्रीर कोई नील वर्श वताते हैं। इसी तरह कोई मुनिसुव्रत श्रीर नेमि को नील श्रीर सुप्या वर्ष बताते हैं जिसकी उपरोक्त २४ प्रमाशों के श्रनुसार निम्नांक्ति तफसीत है:—

१ से ४ ग्रीर १५ — सुपार्च पार्च = हरित। सुप्रत-नेमि = नील।

६ से १० - सुपार्श्व-पार्र्व=हरित । सुव्रत-नेमि=कृष्णा ।

११ श्रीर १६—सुपार्श्व-पार्श्व=कृष्ण । सुव्रत-नेमि=नीन ।

१२ से १४ -- सुपार्श्व -पार्श्व = नील । सुव्रत - नेमि = कृत्सा ।

१७-पार्च=स्याम । १८-पार्च=स्याम श्रीर हरित । ६६-मुप्तन-नीन

२०—सुव्रत=कृष्ण ( नील ) । २१-नेमि=स्याम । २२-मुपार्व्य=हिना । पार्ण सुव्रत=स्थानः २२—पार्व=हित्त । सुव्रत=नेमि=स्याम ।

 <sup>&#</sup>x27;ज्ञानपोठ पूजांजलि, पृ. ६४ में इसका मदूरा मीर गलत मर्थ विमा है।

ऐसी हालत में यह विचारणीय हो जाता है कि-ग्रन्थों में यह परस्पर विरुद्ध ग्रीर भिन्न कथन क्यों है ? क्या इसका कोई समाधान या संगति भी है या नहीं ?

नीचे समाधान प्रस्तुत किया जाता है:--

काला, नीला ग्रीर हरा ये तीनों रंग एक (कृष्ण) ही माने जाते हैं-ऐसा किव संप्रदाय है। महा किव कालिदास ने प्रपने 'रघुवंश' सर्ग २ क्लो. १७ में लिखा है:—

स पल्वलोत्तीर्ण वराह भूथा न्यावास वृत्तोनमुख वहिर्णानि । ययौ मगाध्यासित शाद्धलानि स्यामाय मानानि वनानि पर्यन् ॥

(नंदिनो गाय को चरा कर शाम के वक्त राजा दिलीप वापिस घर को लौटने लगे तो इस प्रकार वन की शोभा देखी—)

''सरोवर से निकले (कोचड़ से लिप्त अतः स्याम वर्ण। जूकर समूह ग्रीर ग्रपने ग्रावास की ग्रोर जाते) (नील वर्ण) मयूर तया जिस पर मृग वैठे हैं ऐसी (हरो) दूव इन तीनों से मानों वन स्याम वर्ण हो रहा था''।

इस प्रकार किव ने चामात्कारिक शैली से कृष्ण, नील और हरित इन तीनों को एक इयाम वर्ण द्योतित किया है।

यह किव संप्रदाय कोरों कल्पना मात्र ही हो ऐसा नहीं है प्रत्युतः प्रत्यच्च अनुमानादि से भी इस की पुष्टि होती है यथा-गहरे नीले रंग के पदार्थ जैसे नीलम का पत्थर, मोर तूते की डली सामान्य तौर से काली ही दिखाई देती है। रोशनी के सामने करने पर या टुकड़े करने पर ही वह नीली दिखाई देती है। इसी तरह गहरे हरे रंग के पदार्थ भी काले ही दिखाई देते हैं जैसे पन्ने का पत्थर आदि।

संस्कृत शब्द कोशों में भी नीला रंग अलग नहीं वताया गया है। वह कृष्ण रंग के पर्याय-वाची रूप में ही वताया गया है; देखो-"अमर कोप" कांड १ वर्ग ५ क्लोक २३-कृष्णों नीलाऽसिन स्याम काल स्यामल मेचकः, ये ७ नाम काले रंग के दिये हैं जिनमें १ नाम 'नील' भी है। श्रीर इसी लिए भीर को नीलक, नीलंगु। काले उड़द को नील माप। कीचड़ और ग्रंधकार को नील पंख। कृष्णांजनिगिरि को नीलगिरि। अग्नि को नील पृष्ठ। काली मक्खी को नील मक्षिका। शनिश्चर को नीलक्सन। काले सुरमे को नीलांजन। काले वादल को नीलाभ कहते हैं। इसी दृष्टि से प्रमाण नं. २० के 'तमालनील' और नीलांजन' शब्दों में प्रयुक्त 'नील' शब्द का अर्थ नीला न होकर काला ही है क्योंकि तमाल वृक्ष काला ही होता है (देखो अमर कोष-"कालस्कंघ स्तमालः स्यात") इसी तरह ग्रंजन सुरमा भी काला ही हीता है।

'जिन सहस्त्र नाम की जुतसागरी टीका पृष्ट २११ में' केशव, शब्द की ब्युत्पित्त देते हुए लिखा है-''प्रशस्ता ऋिकुल नील वर्णः केशा मस्त के विदयते यस्य स केशवः'' अर्थात् जिसके शिर पर भंतरे क समान काले केश हों उसे केशव कहते हैं। इसमें भी स्पष्टतया नील शब्द को

अ घनंजय नाम माला के ग्रमर कीर्ति भाष्य (ज्ञान पीठ प्रकाशन) पृ० ७२ में भी कृष्ण रंग के पर्यायवाची नामों में हरित ग्रीर नील-मेवक (मेवक: शिखि कंठाय: इति दुर्ग) शब्द दिये हैं इससे भी जाना जाता है कि हरे नीले को काले कहने की कवियों की मान्यता रही है ।

कृष्ण वर्ण के ही रूप म प्रयुक्त किया है। इन सब प्रमाणों से यह ग्रन्छी तरह सिद्ध हो जाना है। कि-'नील' का ग्रर्थ कृष्ण भी होता है। ग्रव 'हरित' के विषय में नीचे कुछ विवेचन दिया जाता है:

किव लोग इस पृथ्वी को "शस्य श्यामला" श्रयीत् हरे हरे पौधों से श्याम दर्ग दानी. इस विशेषण से व्यक्त करते हैं। इसमे हरे को भी काला कहने की पद्धति का पना लगता है। इसी हिण्ट से वादिराज ने 'पार्श्व नाथ चिरत' में पार्श्व प्रभु को एक जगह हरा छोर एक जगह स्थाम लिखा है। देखों इ.माण नं १८। तिलोयसार गाथा ७८४ में तीसरे काल के मनुष्यों का सरीर 'प्रियंगु—श्याम=हरित—श्याम वर्ण वाला बताया है। इस तरह स्पष्ट है कि हरे को इयाम भी वहा जाता है।

इस सब विवेचन से जिन्होंने नील ग्रथवा हरिन की जगह स्याम-कृप्रा वर्गा लिखा है यह में समक्त में बैठ जाता है किन्तु जिन्होंने हरित की जगह नीलवर्गा लिखा है उसका क्या समाधान है ?

लोक में हरित शाक सब्जी को नीलोती कहते हैं। मालवा में हरे चर्गों को लीलवा सहते हैं (नील और लील एक ही शब्द हैं यथा नीलगर, लीलगर)। हरी दूव को हिन्दी और मंदलत में 'नील दूवी' कहते हैं। कोंकरा में 'नीली हरियाली,' गुजराती में 'नीलोधा,'। लीलीधो मराधी में 'नील दूवी' हरयाली, काली दूवीं कहते हैं।

(प्राक्वत शब्द महार्ण्व, में भी 'शील' शब्द का ग्रर्थ हरा ग्रीर नीला दोनों बताया है गौर प्रमाशा में ठाणांग च पण्णावणा सुत्त १ का नाम दिया है। इसी तरह कोनों में इन्द्रनीलनिष् गा श्रर्थ नीलम (नीले रंग की मणि) ग्रीर मरकत (हरे रंग का पन्ना) दोनों दिया है।

गोम्मटमार जीव कांड गाथा ४६५ में जघन्यभोग भूमि वालों का गरीर हरित वर्ग दताया है, इसे ही 'गौतम चरित्र, ग्र० ५ क्लो० ६२ मे 'नील वर्ग से कहा है।

इस सब से यह स्पष्ट जाना जाता है कि-हरे रंग को नीला कहने की भी प्रगानी है। हरा रंग बनता भी नीले ग्रीर पीले रंग के संयोग से है।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि ग्रन्य कारों ने दो हिन्छ, जुम्म, श्रीर नील इन तोनों को परस्पर उलट पुलट-प्रथवा एक स्थाम वर्ण हो प्रयुक्त किया है, यह श्रयुक्त नहीं है।

फिर भी एक सवाल उत्पन्न होता है कि तब क्या हरे और नीले कोई घटना रंग नहीं है है अगर हैं तो पार्व-सुपार्व और मुनिसुव्रत-नेमी का वास्तिवक रंग नया है ? वया ये चारो जाते की हैं ? अगर ये काले ही होते तो ग्रन्थकार इन को श्रन्थ श्रन्य नहीं दताते, चारों को एक जाया वर्ण का ही लिख देते। श्रन्य ग्रन्य श्रुम्भ) बताने से और साथ में श्रन्य घटना रंग के देते हैं। इस्परण देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि—इनका रंग भिन्न रहा है।

वह भिन्न रंग काले हरे और नीले में ने कींग ने नीर्य कर या सारविक कींनरा है। इसकें निर्याय करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है जो भी मान्य केंग्राओं ने जिला है। कर प्रस्तर विरुद्ध होने पर भी उने संग्रह करके चलना ही क्षेत्ररहर है।

फिर भी युक्तिवाद का झाश्रय लें तो निस्त तथ्य सामने पाटा है। हाले रंग में सहाद ों देखे जाते हैं किन्तु हरे और नीले रंग के मनुष्य कहीं देशने में गरी पांते हों सीटी एपने वे सहाद अवस्य देखे जाते हैं। हरा रंग कोई स्वतंत्र रंग नहीं है वह पीले और नीले रंग के संयोग से वनता है इसीलएं उसका एक नाम 'पीतनील' है। देखो—'ग्रिभिधान चिन्तामणि' कोश पृष्ठ ५५६—''पीतनीलः पुनर्हरित्'।

जैन शास्त्रकारों ने रंग के ४ भेद वताये हैं—ये ही चौबीस तीर्थकरों के वर्ण के स्राघार रहे हैं। ये ४ भेद इस प्रकार हैं —काला, पीला, नीला, लाल श्रीर सफेद। इनमें नीला रंग तो है किन्तु हरा नहीं।

इसी तरह वर्ण नाम कर्म के उदय मे जो कृप्ण, नील, कापोत, पीत, पदत्र (लाल) गुक्ल ये ६ द्रव्यलेश्या—शरीर का रंग वताया है, उसमें भी नीला रंग तो है किन्तु हरा नहीं।

इस दृष्टि से तिलोयसारादि (प्रमाण नं. ११-१२-१३-१४-१६-२४) का कथन जिनमें हरे रंग के तीर्थ कर नहीं बताये हैं विशेष उचित प्रतीत होता है—वशर्ते कि 'नील' का ग्रर्थ 'हरा' न लिया जाय। (तिलोयसार, के कर्ता ने 'नील' के साथ कोई उदाहरण भी नहीं दिया है जिससे जाना जाता कि उन्हें नील से कौनसा वर्ण विशेष इष्ट था।

यह तो हुग्रा २४ तीर्थकरों का वर्ण विवेचन । ग्रव प्रसंगोपात ग्रन्य पौराणिक महापुरुपों का भी शरीर-वर्ण नीचे प्रस्तुत किया जाता है:—

- (१) तिलोयसार, गाथा ५१८ १२ चक्रवर्तियों का शरीरवर्ण सुवर्ण सहश (पीत) वताया है।
- (२) जंबूदीव पण्णती—उह् श २ गाथा १८२, १८३, १८४ ६ बलदेवों का व्वेत तथा ६ नारायण-प्रतिनारायणों का नील कमल के समान (नीला) वताया है।
- (३) तिलोय पणाती (भाग १ पृ० २०० से २०६) १४ कुलकरों का रंग सुवर्ण सहश (पीत) वताया है।
- (४) हरिवंश पुराण सर्ग ६० श्लो० ५६७ नवनारायणों को ग्रंजनच्छाय (कृष्ण वर्ण) बताया है। श्लोक ५६९ में तब बलदेवों को चन्द्रसम—श्वेत वर्ण बताया है।
- (५) उत्तर पुराण (गुणभद्र कृत) में ६ वामुदेवों का रंग नील-कृष्ण बताया है और ६ वलदेवों का क्वेत बताया है। देखो ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० ३८३-(श्रीकृष्ण) लसित्र लाब्ज वर्णाभो। पृ० ८५, १२६, २४१, २५५ में क्रमशः बलदेव नारायण का रंग इस प्रकार द्योतित किया है:—शंखेन्द्र नील संकाशी, शुक्ल कृष्ण त्विषी, चन्द्रे न्द्रनील संकाशी, श्रमेय वीर्यों हंसांशनीलोत्पल समित्वषी।

इस थिपय में व्वेतांबर-मान्यता क्या है वह नीचे प्रकट की जाती है:

१—ग्रभिधान चिन्तामिएा (हेमचन्द्राचार्य कृत) कांड १ क्लो॰ ४६— रक्तो च पद्म प्रभ वासु पूष्यो शुक्लो तु चन्द्रप्रभ पुष्पदंतौ । कृष्णौ पुनर्नेमि सुनी विनीलौ श्री मल्लि पार्श्वो कनकत्विपोऽन्ये ॥





(म्रर्थ-पद्मप्रभ ग्रीर वासुपूज्य 'लाल', चन्द्रप्रभ ग्रीर पुष्पदंत इवेत', मुनिनुयन गीर नेमिनाथ 'कृष्ण', मल्लि ग्रीर पाइवं 'नील' एवं शेष (१६) तीर्थंकर सुवर्ण रंग के हैं)।

२-३--"त्रिपिष्ट शलाका पुरुष चरित" (हेमचन्द्र) में तथा "जैनरत्नसार" पृ. २== में भी उपर्वुवत ही कथन है।

४-विचार सार प्रकरण (पद्युम्नसूरि) :

पड माभ वासु पुज्जा रत्ता सिस पुप्फद्तंत सिस गोरा। सुव्वय ने मि काला पासो मल्ली पियंगु निभा॥११०॥ वर कण्य तिवय गोरा सोलस तीत्थंकरा मुण्यव्या। एसो वर्णा विभागो चडवीसाय जिण वराणं॥१११॥

(मर्थ:—इसमें पार्व-मिल्ल को प्रियंगु सदृश (हरित) वर्ण वाले बताये हैं—भेप गयन उपर्युक्त ही की तरह हैं)।

४—"मंत्राधिराज चिन्तामिणा" में सागरचन्द्र सूरि रचित 'मंत्राधिराज कल्प' तृतीय पटल इत्तीज पट, ६० में—मुनि सुव्रत श्रीर नेमि का "तिलाक्तकजल कलेवर—करणांग (गहरे काले) लिखा है। क्लोक प७, ६१ में—मिल्ल श्रीर पार्क्नाय को "कदलीदल नीलदेह" अर्थात् केने के पत्तों की तरह नील वर्ण वाले वताये हैं किन्तु केले के पत्तों का रंग हरा होता है नीला नहीं श्रतः यहां 'नील' का श्रर्थ उदाहरण के अनुसार 'हरा' ही लेना चाहिए। पूर्व में हरे तो नीला कहने की पद्धित का दिग्दर्शन करा ही श्राये हैं। ऊपर भी भ्रमाण नं. ४ में पार्च मिला को प्रियंगु—हरित वर्ण ही लिखा है। ऐसी हालत में एक वात विचारणीय है कि—उपर प्रमाण नं. १-२-३ में जो हेमचन्द्राचार्य ने पार्श्व मिल्ल को 'नील' वताया है सो उपने कीनण रंग ग्रहण करना चाहिए? नील का श्रर्थ श्रासमानी श्रीर हरा ही नहीं होता, काला भी होता है। श्रगर हरा ही ग्रहण करें तव तो क्वे० श्राम्नाय में कोई मान्यता भेद नहीं होता मोर गगर श्रासमानी भी काला ग्रहण करें तो मान्यता भेद उत्तरन होता है। हेमचन्द्राचार्य ने पत्री भी नील के साथ कोई उदाहरण नहीं दिया है इसमें यह निर्णय करना कटिन है कि—'नील' से कौनसा वर्ण विशेष उन्हें इष्ट था।

( ''त्रिपष्टिशलाका पुरुष चरित'' :गुजराती अनुवाद पर्व ६ सर्ग ३ पृष्ठ ४००-७१ में पार्क प्रभु को नीलमस्मी और नीलकमल की सहश कांति वाले नीलवर्गा, लिखा है—गर मार्क्य है।

६—ऋषि मंडल स्तोत्र #

शिरः संलीन ईकारों विनीलोवर्णनः स्मृतः । वर्णानुसार संलीनं नीर्यक्रन्संदर्व नमः ॥१३॥ शिरः ई स्थिति संजीनो पार्श्व मल्ली जिनोत्तमो ॥१४॥

(ग्रर्थ—'हीं' इस बीजा ग्रक्षर की ईकार मात्रा का रंग दिनील (विशेष रोजा किया पारे ग्रीर उस पर उसी रंग के तीर्थकर—पार्व मल्ली के नाम निसे जाये) रमण क्या होता हेमचन्द्राचार्य ही की तरह है।

<sup>\*</sup> यह कृति श्वेतांवरी ही है इस विषय में एक खोजपूर्ण लेख हमारे निजानी हा सैन गरेस में को गरे गरे हैं । प्रकाशित हुमा है उसे देखिये।

च्वेतांवर आम्नायां नुसार यह २४ तीर्थंकरों का वर्ण विभाग है। इससे स्पष्ट है कि— दि० च्वे० अम्नाय में खास अंतर निम्न प्रकार है— मल्लिनाथ को च्वेतांवर नील वर्ण और मुपार्च्वनाथ को कनकवर्ण मानते हैं जबिक दिगंवर मिल्लिनाथ को सुवर्ण वर्ण और सुपार्च्वनाथ को हिरत या नील वर्ण मानते हैं अर्थात् च्वेतांवर सुपार्च्वनाथ की जगह मिल्लिनाथ को विनील लिखते है। इस नाम-व्यत्यय के सिवा रंग के विषय में च्वे० हेमचन्द्राचार्य का कथन दि० ''तिलोयसार" ग्रन्थ के कथन से मिलता है।

श्रव ६३ शलाका पुरुपों में से शेप का शरीर वर्ण क्वेतांवराम्नायानुसार क्या है यह नीचे बताया जाता है:

१-विचारसार प्रकरण (प्रद्युम्न सूरी)

वन्नेगा वासुदेवा नीला सब्वे वला च सुविकलया ॥१७०॥ सच्चे विरागवण्णा निम्मल कणगण्यभा मुणेयव्या । छह खंड भरह सामी तेसि पमाणं अस्रो बुच्छे ॥१४३॥

(६ वासुदेव तथा ६ प्रति वासुदेव नीलवर्गा है ग्रीर ६ वलदेव गुक्ल वर्गा हैं १२ चक्रवर्ती कनकवर्गा हैं)।

२--- ''त्रिपष्टि शलाका पुरुष चरित'' (हेमचन्द्र) पर्व १ सर्ग ६

वासुदेवाः नवाऽमित्ताः ॥३३८॥

वलदेवाः सिता नव ॥३३६॥

काश्यपरच क्रिएः स्त्रर्ण वर्णा श्रद्टैपु मोत्तगा ॥३२६॥

[इसमें वासुदेवों (प्रति वासुदेवों) को क्रप्णावर्गा वताया है शेप पूर्ववत् है]

३—''ग्रभिधान चिन्तामिए।'' (हेमचन्द्र) कांड ३

वासुदेवा श्रमी कृष्णा नन शुक्ला वला स्त्वमी ॥३६१॥

[इसमें भी प्रमारा नं. २ की तरह ही कथन है]।

ऊपर के विषय में दि॰ क्वे॰ ग्राम्नाय में परस्पर क्या ग्रंतर पड़ता है यह बताना ग्रनावक्यक है। यह दोनों ग्राम्नायों के दिये गये प्रमाणों से विज्ञपाठक स्वयं निर्णय कर सकते है। निर्णय को विधि पूर्व में प्रदिश्ति कर ही ग्राये हैं।

त्रव नीचे कितपय ऐसे ग्रन्थोल्लेख प्रस्तुत किये जाते हैं जो तीर्थकरों के शरीर-वर्ष विषय में कुछ विलक्षण ही प्रकाश डालते हैं :—

१--- ग्रपराजित पृच्छा (भुवनदेवाचार्य कृत)

चन्द्र प्रभ पुष्पद्तः श्वेती वै क्रींचसंमवी ।

पद्म प्रभो धर्म नाथो रक्तोत्पल निभौ मतौ ॥

सुपारवः पार्श्वनाथर्चहरिद्वर्गौ प्रकीर्तितौ ।

नेमिश्च श्याम वर्णः स्यान्नीलोमहिलः प्रकीर्तितः ॥

शेपा पोडशसंत्रोक्तास्तप्त कांचन सप्रभाः।

वर्णानि कथिनान्यये लांछनानिततः श्र्णु ॥

—प्रतिमालक्षरा (सं. द्विजेन्द्रनाथ गुनल) पृ. २७१

इसमें सुपार्श्वनाथ को जो हरिद्वर्ण बनाया है वह दि० संप्रदायानुसार है और महिलकाय को जो नील वर्ण बताया है वह श्वे० संप्रदायानुसार है इस तरह इसमें दोनों छान्नायों को गर्मित किया है किन्तु धर्मनाथ को रक्त वर्ण और मुनि सुन्नतनाथ को कांचन दर्ण दठाया है वह दोनों ग्राम्नाओं से विरुद्ध है इस तरह इस ग्रन्थ का कथन वड़ा ही विलक्षण मालुम पट्ना है।

यह 'ग्रपराजित पृच्छा' ग्रन्थ जैनेतर है इसके कथन से सिद्ध है कि इनके कतां को जैन (दि॰ स्वे॰) ग्रन्थों का प्रामाणिक ज्ञान नहीं था। ग्राजकाल जिस तरह ग्रनेक जैनेतर दिहान जैन मान्यताग्रों के विषय में ग्रन्थथा प्रतिपादन करते देखे जाते हैं उसी तरह पूर्वकान में भी ऐसा हीना रहा है - यह इससे स्वप्टतया प्रमाणित होता है।

(२) "मूर्ति विज्ञानम्" (जी० एच० खरे कृत ) पृ० २०२-२०५ में दिगम्पर मनानुमार तोयं करों का वर्ण निम्न प्रकार बताबा है। (देखो--१ पर्वत कृत महापुराण भाग २ पृ० ५४ = १

सुमति, पद्म = कुं कुम । वासु पूज्य=रक्त पाहर्व, मिल्ल=नील । मृनि मृजत, नैमि=हुरम् । सुपाहर्व=कांचन ।

(इसमें मिलनाथ को नील और सुपार्श्व को कनचन वर्गी बताया है। यह रवे. संग्रदायानुमार जबिक ग्रंथकार ने यह वर्ग-विवेचन दि॰ मतानुसार होने वी बात कही है जो गलन हर रवी है। इसके सिवा सुमित नाथ को जो कुं कुमा (रोली केशर) के समान नान वर्ग के बताये है। यह दोनों संप्रदायों की दृष्टि से विरुद्ध है इस तरह इस ग्रंथ का कथन भी विनक्षण ही ज्ञात होना है। यमर 'सुमित' विपयक कथन को मुद्रण की गलती मानली जाय तो समग्र कपन रवे॰ धारनायानुमार हो जाता है किन्तु ग्रंथकार ने समग्र कपन को दिगम्बर मत का दताया है यह विनक्षणना जिर भी रहती है)

इस सब विवेचन से तर्थकरों के शरोर-वर्ग विषय में ग्रंथकारों के परस्पर भिन्न विषय कथनों के तथ्य को पाठकों ने अच्छी तरह हृदयंगम कर लिया होगा । ग्रंग में यह और नाम वाहता हूँ कि—ग्रंथों में अन्यत्र भी जहां रंगों को लेकर परस्पर भिन्नता विश्वता पार्व भी हो वहीं उपर्युक्त विवेचन को लगा लिया जाना चाहिये।

जिस तरह हरित, नील ग्रादि में विविधार्थकला पाई जोती है उसी सरह 'गीर' प्रध्य हे भी है, देखी हेमचन्द्र कृत 'ग्रनेकार्थ संग्रह, द्वितीय कांड दलीक-४२४" मीरः प्येनेट मां पीने विद्युत चन्द्रमस्यिप' । ग्रयीत् ''गीर' शब्द सफेद, लाल, भीर पीने तीनों रंगों में प्रयुक्त होता है।

संस्कृत भाषा में एक शब्द के श्रनेक श्रर्थ श्रीर श्रामय होते है. यह दमकी राजिए है। इस खासियत को श्रव्यवस्था, जटिलता या विरुद्धता का जनक नहीं समस्ता चाहिए कि हु यह परिकार का द्योतक है, श्रतः समीचीन है।

परस्पर भिन्नता में जो यथोचित समन्वय नहीं कर सहते उन्हें है विराहता ए इस पड़ती है ।

#### त्रप्रमंश भाषा का रासा साहित्य

पहती है। इसका उद्गम कर और कैसे हुआ,
यह एक विचारणीय विषय है। यह परम्परा भी अपअंश की देन कही जाती है, परन्तु यह बहुत प्राचीन है।
रासा स्वरताल-नृत्य और लय के साय की जाने वाली एक
कला है। रास वह वस्तु है जिसमें संगीत का रस या सार
अयवा निचोड़ आप्लावित हो, अयवा जिसकी सुरीली
मघुरतान और गंभीर नृत्य-कला दर्शक के मन को आनन्द
विभोर करदे। रासाकला में गान के साय नृत्य-कला की
ओर विशेष घ्यान दिया जाता था। प्राचीनकाल में स्वियां
'लास्य' नृत्य करती थी। आज भी देश भेद से नृत्य-कला
के अनेक भेद हैं। इस कला से जहां जनता का मनोरंजन
होता था, वहां उसके प्रति आकर्षण भी होता था। यह
संगीत कला का ही एक भेद जात होता है।

रास परम्परा का पुरातन जल्लेख भारत के नाट्य शास्त्र में पाया जाता है। त्रतः इसे अपन्नंश भाषा की देन वतलाना या अमीरों से सम्बद्ध व्यक्त करना उचित नहीं हैं। जिस काल में अपन्नंश भाषा में साहित्यिक रच-नाएँ नहीं होती थीं, उस काल में भी नृत्यकला प्रचलित थी, उसमें नृत्य के साथ रास भी होता था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रास या रासक नृत्यकला या संगीत का ही एक भेद है। भरत ने नाट्य शास्त्र में रासक को एक उपल्पक माना जाता है और उसके ताल रासक, दएडरासक और मंडल रासक ये तीन भेद बतलाये हैं। रास या रासक परम्परा एक प्राचीन परम्परा जान पड़ती है। इसका उद्गम कव और कैसे हुआ, यह एक विचारणीय विपय है। यह परम्परा भी अपभ्रंश की देन कही जाती है, परन्तु यह वहुत प्राचीन है। रासा स्वरताल-नृत्य और लय के साथ की जाने वाली एक कला है। इस्तुत लेख में लेखक ने अपभ्रंश भापा के रास साहित्य पर खोज पूर्ण प्रकाश डाला है।

ग्रभिनवगुप्तने ग्रभिनव भारती में रास या रासक को गेयरूगक का एक भेद माना है। गेयरूपक में ताल ग्रौर लय का विशेष स्थान होता है ग्रौर इसमें ग्रधिक से ग्रधिक ६४ जोड़े भाग ले सकते हैं। जैसा कि नाट्यशास्त्र (भा०१ पृ०१८३) के निम्न पद्य से प्रकट है:—

"ग्रनेकनर्तकी योज्यं चित्रताल लयान्वितम् । ग्राचतुष्यद्वि युगलाद्रासकं मसृणोद्धतम् ॥"

ग्राचार्य हेमचन्द्र ने भी काव्यानुशासन में रासक को नेय काव्य माना है। दे हेमचन्द्रने ग्रनेकार्य संग्रह कोप में रासक का ग्रयं—क्रीडासु गो दुहाय भाषा 'श्रृंखिलके' दिया है, जिसका ग्रयं—'ग्वालों की क्रीडा' तथा भाषा में श्रृंखलाबद्ध रचना होता है।

- 'ताल लसक नाम स्थात् ततित्रध्य रासकं स्मृतम्।
   दण्ड एसकं त् तथा मण्डल रासकम ।।"—भरत नाटय शास्त्र
- २. 'गेयं डोम्बिका भाग प्रस्थान शिङ्गक भागिका प्रेरण रामा भीड हल्ली। एक रासक गोष्ठी श्री गदित राग का व्यादि॥" —काव्यानुशासन ५,४

हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने नाट्यदर्गण में रासक का लच्चण हेमचन्द्र से भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है किन्तु उसके नृत्य-गीतत्व को पूर्णरूप से मान्य किया है । वाग्भट्ट ने भी हेमचन्द्र का अनुसरण करते हुए उसे गेय रूपक में स्वीकार किया है। हां, पिश्वनाथ ने प्रयने साहित्य दर्गण में रासक के लच्चण पर विचार करते हुए, पात्र, वृत्ति आदि की पूर्ण रूप में व्याह्या करने का प्रयत्न किया है ।

महाकवि स्वयंभूने अपने छन्द जन्य में 'रास' का लक्षण वतलाते हुए उसे जन-मन अभिराम वतलाया है, इसी कारण वह लोकरंजक भी हुआ है। घता, छड़िण्या, पढ़िया तथा ऐसे ही अन्य सुन्दर छन्दों से युक्त रासा-वन्य काव्य-जन-मन प्रभिराम होता है। प इसके वाद ही किन २१ मात्रावाला रासा छन्द का लक्षण भी दिया है। उस रासक या रासा छन्द के लक्षण पर विचार करने से अब्दुल रहमान का सन्देश रासक अपभ्रंशभाषा का सुन्दर काव्य-प्रन्य कहा जा सकता है। अन्य अनेक रास यद्यपि इस कोटि के नहीं है परन्तु वे जीवन परिचयात्मक रास भी अपनी कम महत्ता नहीं रखते। स्वयंभू के इस छन्द लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस जान में

रासादन्य दःद भी प्रचलित या।

कित शाद्धांपर के हारा मंगीत में दी दूर राम-सम्बन्धी कथा भी इसके मूल कर पर हुछ प्रकाश दायलें है। इस कथा में दतलाया गया है कि तिस ने नाम्हद नृत्व किया और पार्य ती ने लाह्य नृत्य। पार्य ती ने हमें वाणानुरकी पुत्री कथा को नियलाया, को हम्मा के राजी अनिरुद्ध को विवाही गई थी। उसने हाम्यकी की गीहियों को और गीपियों ने सौराष्ट्र देगा की नय-पुर्विद्यों की सिखलाया, और वहां से यह समस्त भूमग्दल में दिस्हुष हुमा। परन्तु यह कल्पना है और इस प्रकार की कल्पना से कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं निवाला या गरवा है।

प्रज की रासलीला तो लोक प्रसिद्ध है हो। यह
प्राचीन परम्परा अपनंदा भाषा के विकास काल में उनक
स्तर पर घी। विरुम की १० वी में १३ शता है। इस
इसमें अनेक रास रचे गए हैं। और बाद में सहम्मानी,
हिन्दी और गुजराती निश्चित भी अनेक राम रचनाएँ
देलने में आती हैं। विरुम की १५ की शताब्दी में मन
सक्त कीति के लघु आता एवं निष्य प्रता जिन्हाम के
रचे हुए ४५ रामें मिनते हैं। राम परम्परा का उद्देश्य
किसी व्यक्ति विशेष, या देवी—देवता की मानग्या, की

४. 'साहित्य दर्परा पृ० १०४ - १०५ ।'

पता-छट्डिलिग्राहि पद्धिग्राहि मुघण्णसमृहि ।
 रासा बंधो कव्वे जगा-मगा-प्रहि रामयो होट ॥"

--रवर्षस् छन्द ६-११६

६. एकवीस यत्ता खिह्गाउ उद्यामिन, विच्या विद्यामिन, विच्यामिन विद्यामिन व

३, 'पोडश द्वादशाष्टो या यिस्मन् नृत्यन्ति नायिकाः ।
पिडी बन्धादि विन्यासे रासके तदुदाहृतम् ॥
पिडात् तु भवेत पिडी गुम्फनाच्छं तला भवेत् ।
भेदनात् भेद्यको जातो नता जातापनोदतः ॥
कापिनी भिर्मु वो भर्तु रचेष्टिनं यतु नृत्यते ।
रामांइ वासन्त मासाच स दोपो नाट्य रासकः ॥'
—नाट्य दर्पण श्रोरियण्डल इन्स्टीट्यूट दटीटा १८२६ भाग ६ पृष्ट २६४

साधु या किसी सेठ की जीवन गाया को अंकित करना, अथवा किसी विरहिगी नारी के सन्देश को उसके विरही पति तक पहुंचाने के लिये, अथवा आत्म—सम्बोधन के लिये रासा साहित्य की सुष्टि की गई है।

#### ग्रपभ्रंश की प्राचीन चर्चरी रास

वर्तमान में उपलब्ध रासरचनात्रों में सबसे पुरातन 'चर्चरीरास' है <sup>१</sup> जो प्रतिहार सम्राट्वत्सराज के समय जालोर (जावलिपुर) के म्रादि नाथ मन्दिर में शक संवत् ७०० (वि. सं. ५३५) में उद्योतन सूरि द्वारा रचा गया था, ग्रीर जो कूवलय माला कथा के प्रारम्भ में अन्तर्निहित है। इस चर्चरी रासकी कुछ ग्रपनी विशेषताएं हैं। इसमें वतलाया गया है कि-'मनुष्य समभ वृभ कर कार्य करे, ग्रन्यया मृत्यु के घेर लेने पर ग्रन्य कुछ भी कार्य नहीं हो सकेगा। द 'तू विश्क्त हो विश्क्त हो संसार में भ्रमण मत कर।' इसमें चार घ्रवकों की परिपाटी है जिनमें एक ध्रुवक जहां कामोन्मादक रस का जनक है वहां दूसरा घ्रुवक कामोद्रेकसे परानम्ख करने वाला है। और तीसरा ध्रावक अशुचि मल-मूत्रादि से संयुक्त घृणित श्रस्य पंजर को दिखाकर ज्ञान श्रीर विवेक की श्रीर ले जाता है। ग्रीर चौथा घ्रुवक वैराग्य की ग्रीर ग्राकुष्ट करता है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता कि जैन कवियों की रास रचना का उद्देश्य राग से हटा कर जन साधा-रण को ज्ञान-वैराग्य की स्रोर स्नाकपित कर हित के मार्ग में संलग्न करना रहा है।

इस छोटी सी कृति (चर्चरी रास) में अनेक रसों का संमिश्रण है। इसमें भगवान महावीर के गणघर सुघमं स्वामी की एक जीवन घटना को अंकित किया गया है—वे एक दिन अंकेले ही एक ऐसे वनमें गये, जहां ५०० भयंकर डाकुप्रों का समूह रहता था। वहां 'उन्होंने चर्चरी रास' युक्त एक गान गाया और ऐसा नृत्य किया कि डाकू दल ने सदा के लिये डाके जनी छोड़ कर आत्म-वोघ प्राप्त किया। उद्या इसमें इस रास की खास महत्ता ज्ञात हंगती है।

इसी तरह 'उपिमिति भव प्रपंच कथा' में जिसका रवना काल वि॰ सं॰ ६६२ है ग्रीर जिसके कर्ता किंव सिद्धिष्ठ हैं। उसका नाम 'रिपुदारणरास' है। जो संस्कृत भाषा के ५ घ्रवक पदों को लिये हुए हैं, जिसका नाम सार्थक है, ग्रीर गान, नृत्य, लय ग्रादि से समन्वित है। जिसमें वह देश के सार्वभौमराजा तपन द्वारा सिद्धार्थ पुर के मिथ्यावादी ग्रीर ग्रहंकारी उद्दग्ड राजा रिपुदारण को तांत्रिक योगी से दग्ड दिलाने या उसे वशमें कर उसके विनाश करने का उल्लेख किया गया है। रिपुदारण की उद्दग्डता का उल्लेख उक्त रासके-'यो हि गर्वम-विवेकभरेण करिष्यते' वाक्य से ज्ञात होता है। ४ इसके ग्रातिरक्त संस्कृत भाषा में ग्रन्य कोई- संजिप्त प्राचीन रास मेरे देखने में नहीं ग्राये। परन्तु उसमें ग्रन्य रास रचनाएं जरूर रची गई होंगी।

रासक रचनाम्रों में कई रचनाएं उपदेशक भावना के साथ सम्बोधक भावना से स्रोत-प्रोत हैं। इन रास रच-

१. देखो, कुवलममाला कथा पृ० ४।

२. संबुज्भह किएा दुज्भह एतिए वि मा किति मुज्भह। कीरज जं करियव्वयं पुरा हुक्कइ तं करिय व्वयं।।

<sup>-</sup>कुवलयमाला
३. 'जहा तेण केविलणा ग्ररणां पिविसिङ्गण पंच-चोर-सयाइं रास-एाच्चणच्छलण महामोह-गह-गिह्याइं ग्रिक्खिविङ्गण इमाए चच्चरीए संबोहियाइं + + + एवं च जहा काम-णिव्वेग्रो तहा केहि-लोह-माण-मायादीण कुतित्ययाणां।। समकालि चिय सव्व-भाव-वियाणएणगुरुणा सव्वण्णुणा तहा तहा गायंतणताइं चोराणां पंच विसयाइं संभिरय-पुव्व-जम्म-बुत्तंताइं पिडवण्ण-समण-लिगाइं तहा कयं जहा संजयं हिडवण्णाइं ति।' —कुवलयमाला पृ० ४-४।

४. देखी, उपिमिति भव प्रपंचकथा प्रस्ताव ४ इलोक ४३७ से ४४२।

नाम्रों से ज्ञात होता है कि पुरातन काल में जो रास या रासक रचनाएं रची जाती थीं वे बहुत ही सारगित होती थीं, किन्तु बाद में ज्यों ज्यों उनका विस्तार होता गया त्यों त्यों उन रचनाम्रों की महत्ता का मूल्य भी कम होता गया।

रास या रासक रचनाएं जैन सम्प्रदाय में भी पाई जाती हैं। परन्तु जैनियों में इसका रिवाज बहुत पुराना है। त्रीर किव के विक्रमसंवत १०७६ में रिचत'ज जम्बू-स्वामिचरित' नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि उनके पिता किवरदेवदत्तने ग्रपभंशभाषामें 'ग्रम्यादेवीरास' नामक एक ग्रन्थ बनाया था जिसका रचनाकाल सं०१०५०के लगभग है। यह रासताल, स्वर , लय ग्रीर नृत्यके साथ गाया जाता था। यह रचना ग्रभी श्रनुपलव्य है।

दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में रासो या रासरचनाएं अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी श्रीर गुजराती भाषाश्रों में तीन चारसौके लगभग होंगी। दिगम्बर रामा ग्रन्थों की संख्या २०० के करीब है, जिसमें १६० के तो मेरी सूची में नाम दर्ज हो चुके हैं, रोषका ग्रन्थ भंटारों में श्रन्वेपण कार्य चल रहा है। यदि सभी ग्रन्थ-भन्टारों का सुद्दमता से निरोक्तण किया जाय तो उनकी गंद्या दो मो से भी ऊपर होगी।

जैनेतर कियों ने भी धनेक रास ग्रन्य दनाये हैं, 'पृथ्वीराजरासी, वीसलदेवसभी, गुमलसभी, सन्देगराभी सादि के नाम प्रमिद्ध हैं इनमें सदने पुगना पृथ्वीराजरामी मतलाया जाता है परन्तु उमका वर्तमान भाषारात बहुत कुछ धस्त-व्यस्त है तो भी यह मूलका माध्यक्षेत्रभाषाके यहुत नजदीक है। हां, उसकी गुष्ट ऐतिहासिक घटनांए जरूर घटकने याली है, उनका उपलब्ध ए जिला के माथ ठीक सामज्ञहस्य नहीं दैठना— वे मुन गुनाकर यो ही गर

दी गई हैं। इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि बर पूर्णि राजके समय वा प्रस्य नहीं है जिल्लु वह सहूर सार में लिला गया है।

दिगम्बर सम्प्रदायका रागी साहित्य प्रमीतक प्रात्मा-शित है, उसके प्रवाश में प्राप्ते पर प्रतेक शालग्य याती पर प्रकाश पट्ने की सम्भावना है। श्वेताग्यर सम्प्रदावने प्रतेक रास प्रकाशित हो चुके हैं।

हां, मुसलमान विवि 'झब्दुल ग्रामान' की मन्देस रासक रचना उल्लेखनीय है। यह रचना हमासित हो चुकी है।

रासो रचनाएँ तीन प्रशार की हिंदि गोयर होती है, पहली राग परक अर्थाद धूंगार तथा दिरा-मूनक, इंग्सें अध्यादमरस संयुक्त, उपदेगपरक, धौर वीवनी रचना जीवन-चरिन-सन्दर्भी है। इनमें प्रशुपरण्यान की पृति सन्देशसास प्रथम प्रकार की रचना है, हो महत्रहर्म है। इसमें एक विरशिगों नायिका का विरश्नमूनण-मन्देश विरही पति के पास पहुंचाना का जरूपम दर्शींग है। असा कि उन प्रस्प के निस्त दोहों में कार है:—

जनु पदगंत्रम् यत्रमिता गुरुर विकेश्म राम्। मजिजद मेदेशास्त्र, तिमी प्रतिय विकास । १३०।

हि बिना, जिसने प्रथम करते हुए प्रचलना है निया सौर य लिसने वियोग से सभी ही, उस जिया हो । रहेश देती हुई सजित हो रहे हूं है

स्ति स्विष्ट उस परिता से पर्ता के विश्वेत बहुते दिस्तृत में प्रस्तु सुसर्ग दावारके प्राटा के के वार्त के हैं। भी स्विधि (स्विष्ट स्वायक के वार्त के हैं) इसमें उसने विकासकार के संस्थार का संस्थान व्यासकार सा सक्ता है।

प्र. निवकत् किलास नेदप्रति, भित्र स्म. लेटादेशियति।
— सेद्र शास्त्रिकारित पर दिर

७. मंदेसाड मदिस्परक परमार महामा नहाह। को कालं मुनि स्ंय कड़ मी बाहारी समाई।। —सर्देश समाम

दूसरी रचनाएं ग्राध्यात्मारस का संयुक्त है, जिनमें राग से विराग उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। उनमें ग्रात्म सम्बोध जनक उपदेश की प्रधानता है । जैसा कि कूवलय माला के 'उक्तचर्चरीरास' में ग्रंकित है। देव भक्ति रूप रचनाएँ भी जहां देव में प्रनुराग वर्धक है वहां देह भोगों से विराग की भी-सं-सूचक हैं। इसीसे उनकी गणना ग्रलग नहीं की है। ग्रांध्या त्मिक रचनाग्रों में कविविनयचन्द्र का 'चूनडीरास' निभार पंचमी कहा रास तथा पंडित योग-देव का 'सुवतानुशे चाप्रेचारास' श्रीर जिल्हम का श्रनुशे चा रास म्रादि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। कवि लद्दमीचन्द्र का दाहा, प्रनुत्रे चारास भी महस्वपूर्ण कृति है, जो संवेग-निर्वेदभाव की सां सूचक है। इन रचनाम्रों में ससार भ्रौर शरीर के स्वरूप का निर्देश करते हुए वैराग कि अनुपम छटा को जागृत किया गया है। ग्रीर कर्मास्तव तथा कर्मवन्ध से छुडाने का यत्न किया गया है । साथ ही वारह भग्व-नाम्रों द्वारा वस्तु तत्व का विवेक करते हुए म्रात्मा को वैराग्य की स्रोर स्नाकर्पित करने का प्रयत्न किया गया है।

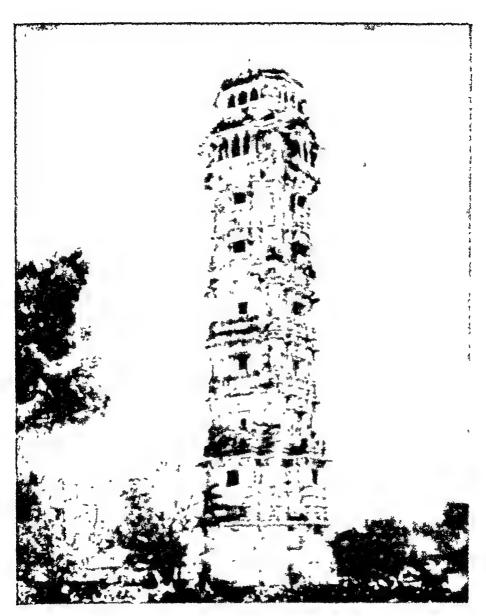
तीसरी प्रकार की रासक रचनाओं में किसी व्यक्ति विशेष राजा, देवी, देवता, या सामान्य पुरुष ग्रथवा किसी साधु या सेठ का जीवन-परिचय ग्रंकित मिलता है। उसका चरित भाग तो सुन्दर होता ही है ग्रीर इसीलिए वह दूसरों के जीवन पर भी ग्रपना प्रभाव डाले विना नहीं रहता, वह मानव जीवन के गुएों की सुरिभ से सदा पाठकों को सुवासित करता रहता है। ऐसे ग्रनेक रास लिखे गये हैं, जैसे जंवूस्वामिरास, बाहुबिलरास, सुकुमाल सामिरास पृथ्वी राजरासो ग्रादि ग्रादि । ये सब रासग्रंथ एक प्रकार के चरित रास हैं, जो एक व्यक्ति विशेष के जीवन-घटनाक्रम की मुख्यता से लिखे गये हैं, परन्तु उनमें से जैन चरितरासों में जीवन-घटनाओं के परिचय के साथ सांसारिक देह-भोगों से विरक्ति दिखलाते हुए ग्रात्मसाधना की ग्रोर ले जानेका प्रभावक प्रयास किया गया है।

जंब्रस्वामी रास में भगवान महावीर के संघ में दीचा लेने जंब्रकुमार का जीवन-परिचय गूंथा गया है, जो ग्रंतिम केवली थे । उनके जीवन की पिवत्रता ग्रीर वैराग्य की कहानी बड़ी रोचक है। दूसरे वाहुविलरास में ग्रादि ब्रह्मा श्रापभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती के लघुश्राता बाहु-वली का महत्वपूर्ण जीवन चरित ग्रंकित किया गया है, इसमें भी युद्ध, राज्यत्याग ग्रीर उनके एक वर्ष के किंठन तपश्चारण का वर्णन है। ग्रीर उसका परिणाम ग्रात्म-विभूति की प्राप्ति है। सुकुमाल स्वामीरास में ग्रवन्ती के सुकुमाल की जीवन-गाथा दी हुई है। पृथ्वीराजरासों में राजापृथ्वीराजचौहान का ग्रतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन है।

इनके अतिरिक्त 'मयणजुन्म' रास में योगीश्वर आदिनाथ का काम से युद्धकर उसे जीतने का सुन्दर एवं सरस वर्णन है। रचना अतीव आकर्षक है। किव देवदत्त अम्बादेवीरास स्तुति परक एक रचना अवश्य थी, परन्तु वह अनुपलव्य होने से उसके सम्बन्य में कुछ कह सकना कठिन है।

इस तरह अपभ्रंशके रासा साहित्यका कुछ परिचय कराया गया है। आशा है विद्वान इस पर विशेष विचार करेंगे। और रासा साहित्य के प्राचीन इतिहास को खोजकर प्रकाश में लाने का कष्ट करेंगे।

अपर्अंशके अतिरिक्त हिन्दी गुजराती और राजस्थानी भाषा में भी अनेक रासग्रन्थ रचे गए हैं, जिन पर कभी प्रकाश डालने का यत्न किया जायगा। जिनकी संख्या चारसौ के लगभग होगी।



मीनि स्मान, विक्षेत्रर

# जैन धर्म में ध्यान का महत्त्व

हिया न मन की एकाग्रता को कहते हैं। मनको निविषय बना लेना भी घ्यान है। सभी भारतीय धर्मों में घ्यान का बड़ा महत्व रहा है। ग्राध्यात्मिक हिट से ही नहीं लोकिक हिट में भी उसका महत्व बहुत ग्रधिक है। विचारों की एकाग्रना विना मनुष्य का कोई काम ग्रच्छी तरह नहीं हो सकता। ग्रच्छे न्यायाध्यन्त, ग्रच्छे वकील, चोटी के दार्शनिक ग्रीर कलाकार ग्रादि कोई भी एकाग्रता के विना सकन नहीं हो सकते। एकाग्रत। ग्रपने ग्राप में एक बहुत बड़ा संयम है। ग्राज के जो महान् धैज्ञानिक हैं उनकी सफलता का रहस्य उनके मनकी एकाग्रता है।

जैन शास्त्रों में सामायिक के नाम से एक दैनिक कतंव्य का निर्देश मिलता है। वह सामायिक मन की एकाग्रता के ग्रतिरिक्त श्रीर कुछ नहीं है। ग्रगर मनुष्य को प्रच्या गृहस्य दनना है तो उसे प्रवने जीवन में एकाग्रता को महत्व देना होगा। चित्त की चंयनता को मध्द करने के लिए ध्यान का श्राध्य निये दिना काम नहीं चल सकता । । यह विचार्यी विद्याम्यास में प्रवश्य ही सफल होता है, जो चित्त को एकस्य धीर एवनिष्ठ बनाने में अभ्यस्त हो चुका है। मनुष्य वी प्रारम्भ ने ती ऐसी भादत हालनी चाहिए जिसने यह विसी विषय पर लग्वे झसँ तक गहराई ने विचार कर सके। इनके लिये शास्त्रों में सामायिक का विकान दनलाया गया है। यदि सामायिक का उर्देश्य बाहम शुद्धि है किन्तु धनको एकस्य बनाने में भी पत् जिया घरत पत्नी मतागण होती है। औ गृहस्य सापक दनना पाहणा है एनके विधे की जागदिन एकान्त राप में सनियायं है। विस्तु सामान्य नतुरव के निवे भी इनकी यही भारी इक्लेनिया है।

ध्यान मन की एकावता को कहते हैं। मन को निविषय बना लेना भी ध्यान हैं। सभी भारतीय धर्मों में प्यान का बढ़ा नहत्व रहा है। प्राप्यानमक हिट से ही नहीं लोकिक हिट में भी उसका महत्व बहुत प्रधिक है। विचारों की एकाप्रता बिना मनुष्य का कोई काम प्रच्छी तरह नहीं हो नकता। प्रमुख लेख में लेखक ने जन धर्म में प्यान के महत्व पर प्रकाश धाना है।

जैन शास्त्रों में प्राप्यश्चिक इंटि ने प्यान का नर्ना-गीरम पर्मन मिलना है। स्थानमान के क्ष्यंचा श्रीयोगीराज प्यनिह ने लिया है—

"बाह्मण्डिम मुक्यण्यं हो प्रस्ति दिला वर्धालीता गुज्हा दीर्गनि दमी संगीला जिला गला शता ॥"

समित् जैसे पापाल में सुपर्ध और नान्त्र के सीत दिना प्रयोग के नहीं दीलाई। उसी प्रनार प्रप्रात के दिला सारमा के पर्धन नहीं होते । प्यान के ही सामा ना राज्य प्रतिभाग हो गणना है।

प्राविधव प्रवास में भएत की निद्धि के जिये कार संबंधिक जार बरायाम स्था है, बिन्द्र सन् निर्माण उन्हों से निये केंग्रम दानों से भी कार्य नहीं जान कर्नेना हु कर प्रावे क्षा की स्वास्त्य करने के लिये और उनके गर्भ के हैं। दार्ग क्षा कार कर नाम है गुरु के स्वास कर कर के कि प्रावे कार्य स्थानित हिल्दों कियों कार्य के इन्होंने प्राप्त के कर जा? सहात की गर्भ प्राप्त करने कार्य के इन्होंने प्राप्त के कर जा? म्रोर बढते जावेंगे। मनष्य के लिये रागद्वेप से उत्पन्न होने वाली इष्टानिष्ट कल्पनाम्रों को समूलत: नष्ट कर देना सरल काम नहीं है। हमको यह वात हृदयंगम करना है कि हमारे मन में जितनी कलानायें उठती हैं उनका ६६ प्रतिशत भाग जिलकूल व्यर्थ होता है। ये कल्पनः यें शेखिचल्ली की तरह होती हैं, जागृत अवस्था में तो ये कल्पनायें चलती ही हैं, किन्तू स्वप्नावस्या में भी ये मनुष्य का पिंड नहीं छोड़तीं। इस प्रकार सब कलानाओं का ग्राघार मनुष्यों का विकृत मन है। ऐसी कल्पनायें उत्पन्न न हों तो भी दुनियां में मन्त्य का काम चल सकता है श्रीर वड़ी अच्छी तरह चल सकता है। सच्चाई तो यह है कि ये कल्पनायें मनुष्य के मन को ग्रीर भी विकृत, ग्रशक्त ग्रौर निर्वल बना देती हैं। जब ये कल्पनायें चिता का रूप घारए। कर लेती हैं तव उनका शरीर पर भी वहत ब्रा ग्रसर होता है। ग्रात्मा की तो बात ही जुदा है। इशीलिए चिन्ता को चिता के ममान कहा गया है।

सामान्यतया लोगों ने यह समफ रखा है कि घ्यान की क्रिया एक घार्मिक क्रिया है। ग्रीर बाह्य जीवन के साथ कोई संबंध नहीं है ग्रीर न उसकी कोई उपयोगिता ही है। किन्तु यह मानना गलत है। इसके विपरीत यह मान कर चलने वाले लोग बड़े नफे में रहते हैं, कि जो ग्राघ्यात्मिक होता है वह लौकिक व व्यवहारिक भी जरूर होता है। घर्म का ग्राघ्यात्मिक रूप उसके बाह्य रूप का कभी विरोधी नहीं है। घ्यान के विपय में भी यही बात है। वह केबल परलोक के लिए नहीं है ग्रीर न वह परलोक की चीज ही है। हमने घर्म को केवल परलोक के लिए मानकर ग्रव तक काफी हानि उठाई है ग्रीर इसोलिए वह हमें मिलता भी नहीं है।

ध्यान के लिये न किसी खास स्थान व ग्रासन की ग्रावश्यकता है ग्रीर न किसी माला एवम् मुद्रा की। जो इन भगड़ो में उलभ जाते हैं उनकी ध्यान की प्राति कभी नहीं होती। इनको ध्यान का ग्रालम्बन मानना भी कोई खास महत्व नहीं रखता। इसीलिये ग्रावार्य ग्रमित गति ने कहा है— "न संस्तरों भद्र समाधि साधनम्" प्रश्नीत् हे निश्न समाधि का साधन ग्रासन नहीं हैं। हमारा मन वड़ा चन्धन हैं। जैसे जलाशय में तरंगे उठती हैं वैसे मन् में भी तरंगे उठती हैं, यह काम प्रतिच्णा होता रहता है। जब तक कोई मन पर ग्रर्थात् भाव मन पर विजय न पाले तब तक इन तरंगों का उठना समाप्त नहीं होता। मनको जीतना ही वास्तविक राजयोग है ग्रीर यही ध्यान का फल है। मन को जीतने के लिये जो महज शारीरिक क्रिया की जाती है, जिसे प्राणायाम भी कहते हैं वह एक प्रकार का हठ योग है। हठयोग से चाहे कितनी भी सिद्धियां क्यों न प्राप्त हो जायं वह ग्रात्मिक वंचन काटने के लिये कभी उपयोगी सिद्ध नहीं होता। इसलिये जैन शास्त्रों में रागद्धे पारमक कलानाग्रों को जीतने के लिए जितना जोर दिया गया है उतना प्राणायाम पर नहीं दिया गया है।

जैन शास्त्रों में दो मुख्य ध्यानों का वर्णन है। एक घर्मां घ्यान और दूसरा शुक्ल घ्यान । वे ही दो प्रशस्त ध्यान है। ये ही ग्राच्यात्मिक ध्यान कहलाते हैं। इन दोनों में भी मुख्यता श्वल ध्यान की है। यही मुक्ति का साचात् कारण है । घम्मं घ्यान भी इसलिये प्रशस्त हैं कि वह शुक्ल ध्यान के लिये भूमिका तैयार करता है। जैन शास्त्रों के अनुसार यह भूमिका सातवें गुगास्थान तक चलती है। इस ध्यान के भी अनेक भेद हैं। इन भेदों में मनुष्य की श्रद्धा निष्या मार्ग पर भटाते हुए लोगों को सन्मार्ग पर लाने का विचार एवम् नाना प्रकार के कर्म जन्य विपाकों से सन्तप्त मानव पर सहानुभृति की भाव-नायें ग्रादि ग्रनेक विषयों पर चितन चलता है। जैन शास्त्रों में धर्माध्यान के ग्रारण्विचय, ग्रपायविचय, विपाक विचय ग्रीर संस्थान इस प्रकार चार ग्रथवा दस भेद वतलाये गये है। ये सारे भेद इन्हीं विषयों में गर्भित हो जाते हैं।

जब धम्मं ध्यान की भूमिका समाप्त हो जाती है तव शुक्ल ध्यान का प्रारम्भ होता हैं। जैन शास्त्रों में इसे श्रेणी चढना कहते हैं। ये श्रेणियां ग्राठवें गुणस्यान से प्रारम्भ होती हैं, यहां ही से ग्राटमा श्रीर वर्म का सीधा युद्ध शुरू होता है। इनमें कमों को दबने की श्रयबा कमों के चय करने की प्रक्रिया चलती है। कमों को दबना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि समूच उनका विनाश करना। कोच, मान, माया, लोग एवम् इन सरका मूच मिथ्यात्व तथा इन कप यों की शाखा प्रशाखाय ही कमें कहलाते हैं। ध्यान के द्वारा इन्हीं कमों को क्रमशः नध्य किया जाता है। जिस ध्यान से बमं नध्य किये जाते हैं वह ध्यान शुक्त ध्यान के ग्रतिरिक्त ग्रीर कुछ नहीं हो सकता।

पांच ज्ञानों में सिर्फ श्रुत ज्ञान ही श्रुवत ध्यान का ग्राधार है ग्रीर कोई ज्ञान शुनन ध्यान का ग्राधार नहीं वन सकता। केवल ज्ञान यद्यपि ग्रहयन्त विशद धौर विशाल ज्ञान है पर उसकी कोई पर्याय ज्ञुबन ध्यान नहीं बन सकती। शुक्त ध्यान तो श्रुत ज्ञान की ही ग्रविचन पर्यायें हैं, केवल ज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञ न होने पर भी यह साध्य है किन्तु साधन नहीं । शुक्क ध्यान के चार भेद हैं, पृथवत्व विचारवितकं, विचार नूदम, श्रिया, प्रतिपाति श्रौर ब्यु रस्त कियानिवर्ति । ये ही ध्यान मोलोदयोगी हैं नयोकि इन्हों से घारमा का कर्मवंध छिन्न भिन्न होता है। पहला ध्यान श्राठवें गुण स्थान से ग्यारहवें गुण स्थान तक रहता है। दूसरा सिर्फ बारहवें गुण स्वान तक तीसना तेरहवें -श्रीर चीया चीदहवें में होता है। इनमें प्रारम्भ के दो ध्यानों षा माघार जैसा कि पहले विये दो धनुवानी के ही होते हैं। मन्त के दो ध्यान क्रमशः तेरह श्रीर चौडहर्वे गुगा-स्थान वर्ती केवली के होते हैं। वास्त्रत में तो शुक्त ध्यान के दो ही भेद है, दवंकि इंतिम दो भेर को क्शान है पार्य-कर्म की हिन्द ने फ्रांत्यत किये गरे है, बात गर है कि केदल शानावस्था में एलाव विस्ता निरोध करी होता जो कि ध्यान का मुख्य पदला है। ध्यान का रंबेद मन से है सर्वात् मन से, किन्तु तेरहरें भीर भौदाने हुन-हवान में भाव मन वही होता। भाव मन के निवे और्विट्य शाना बरता पर्ने में ६ ६ दोवरम या होना सम्भी । परन्त यहाँ समयो नम्यादना ही कही है। इनिजा नि यतं पूरे लालापरक्षीय नर्ग वा या हो। हुआ है। में की प्यान में प्रपाद तेरहें पुनारवार के छाए रे बीन की

सूरम जिया वे रहती है और उने ही मुद्द जिया प्रत्याति च्यान कह दिया गया है। चीप्टरे मुगारतान में मीत जिया विन्हुल सहम हो जाती है इमिन्स बया निर्धित है। चलना की गई है पह प्रमुखन जिया निर्धित है।

बारह तथों में ध्यान का स्थान सहीदित है; हवो कि बास्तविक तथ बही है। घटशेष तप तो उपके माप साधन है बीर इसी हिट्ट में उपका महत्व भी है।

र्जनों के इब्प संबह सामक्ष्य में प्यान के सम्प्राक्तियों के बारे में कहा गया है—

दुविहंतिमोकलहेचं, भागो पाडगापि क मृगी लियमा। तला प्रयत्तिता, इय भणां समस्यत् ॥

अर्थात नेयल ध्यान से ही मुक्ति है मार्थ की क्रांति हो सकतो है फिर कांद्रेयक निक्षण मोध मार्थ हो धौर पाहे व्यवहार मोल मार्थ। यांच पुर्व भोड पाने की द्रव्या है तो बगर ही प्यान का सन्तास करें।

प्यान में सबसीन होते का उत्तर अपनते हुए होते. ग्रंथ में कहा गया है—

> मा मुख्याः मार्थ्याः मार्थ्याः प्रृतिहर्भवेतः । पित्रविकारण्यः विकास विविधाः स्थापः विकास्य

नानाविध कानो ही निर्मा है हिनु महिल्ला है है है को स्थित करन न प्रति ही हो इन्द्र की तर्कर है है में मीतु महिल्ली, सम्मान करी मौत हो प्रमात नरें।

्रीत प्राप्तको से रक्षण के राज के दे की को है हो। तर केंद्र सम्बोद्धान को सैल्ल्यक्षण, के तरका, के का, को र स्वाधीत के रोज स्वादनकार देखा प्रकार कर के के जानका स्वयं भ्यास काण का के के सम्बद्ध के कि राज के के स्वयं दिवस्य प्राप्त काणांश्यों के देशा प्राप्त के के के स्वयं दिवस्य प्राप्त काणांश्यों के देशा प्राप्त के के क

> President and Section 1964 The the Control of the Control of the

स्रयंत् स्रनंत दर्शन, स्रनंत ज्ञान, श्रनंत सुख स्रीर स्रनंत वीर्य से समलंकृत स्राठ प्रतिहार्य सिहत नरामर नमस्कृत शुद्धस्फिटिक ने समान शरीर वाले, महान तेजस्वी धाति कर्म के द्यय से जिनको नी लिब्धयां प्राप्त हो चुकी हैं ऐसे पांच कल्याण को धारक, भगवान श्रिरहंत का स्थिरवृद्धि हो तर ध्यान करना पिडस्य घ्यान कहलाता है। पिंड स्रर्थात् शरीर में रहने वाले स्ररिहंत भगवान का ध्यान करना यह इसका शब्दार्थ है।

प्रतिमा या चित्र में परमेष्ठी के स्वरूप का म्रारोपरा करके जो ध्यान किया जाता है वह रूपस्य ध्यान कहलाता है। रूपस्य ध्यान का म्रयं है प्रतिमा का ध्यान करना।

रूपातीत या अरूपस्य का अभिप्राय सिद्धात्मा से है। सिद्धात्मा का ध्यान करना अरूपस्य ध्यान कहलाता है क्यों कि वे शरीर रहित हैं इन चारों ध्यानों के क्रमश: अच्चरात्म्क पद, पिंड अर्थात् शरीर में रहने वाले अरिहंत, प्रतिमा और सिद्ध नये चार ध्येय हैं।

पदस्थ ध्यान में ग्रचर समूहात्मक नाना प्रकार के मंत्रों के द्वारा ध्यान किया जाता है। जैन शास्त्रों में सर्वाधिक महत्व ग्रपराजित महामंत्र को दिया गया है इसी का नाम पंच नमस्कार मंत्र है। इसी को ग्राधार बना कर सैकड़ों मंत्रों का निरूपण जैन शास्त्रों में मिलता है। जिनको नाना सिद्धियों का कारण बतलाया गया है। पिंडस्थ ध्यान में पाथिबी, ग्राग्नेयी, वायबी, वाक्णी ग्रीर तत्त्व रूपवती इन पांच धारणाग्रों का समावेश हो जाता है। स्थानाभाव से इन धारणाग्रों का यहां विशेष विवे-चन नहीं किया जा सकता।

संसार समुद्र से पार पहुँचने के लिए वित्त को शान्त ग्रोर निरांकुल बनाने के लिए भगवान् ग्ररिहंत ग्रोर सिद्ध ग्रादि परमेष्ठियों का ध्यान करना ग्रावश्यक है। ग्रानिन्यदि बारह ग्रनुप्रेचाग्रों का चितन धर्म्यंध्यान कहलाता है। चाहे धर्म्यंध्यान हो चाहे शुक्ल ध्यान, दोनों ही ध्यानों की स्थिति ग्रन्तमुंहुतं है।

मनुष्य की उन्नति के लिए जैन धर्म का चरित्र बहुत ही लाभकारी है। यह धर्म बहुत ही ठीक, स्वतन्त्र, सादा तथा मूल्यवान है। त्राह्मणों के प्रचलित धर्मों से वह एकदम भिन्न है। साथ ही साथ वौद्ध धर्म की तरह नास्तिक भी नहीं है।

<sup>-</sup> मेगास्थनीज, ग्रेक इतिहासकार

## श्री विरदीलालजी सेठी

जनरल मैनेजर राजस्थान वैंक, जयपुर।

# जैनों की भावात्मक एकता

**ग्रा**रंभ में जैन संघ ग्रविभक्त था, फिर इसमें दिगम्बर श्रीर श्वेताम्बर इस प्रकार दो संप्रदायों का जन्म हुया। इसके बाद मूर्तिपूजा थ्रादि ग्रनेक विरोधों को लेकर श्वेताम्बर संप्रदाय में पहले स्वानकवासी ग्रीर फिर उन्हों में मे तेरापंथ संप्रदाय का उदय हुया। दिगम्बर संप्रदाय में से भी एक तारण पंच संप्रदाय की उत्ति हुई। इस प्रकार इस समय जैनों के पांच संप्रदाय है, पर उनकी भिन्नता का कारण प्रायः उनका बाह्याचार श्रयवा वाह्य क्रियाऐं हैं जो द्रव्य क्षेत्रकाल ग्रीर नाव के कारण भिन्न भिन्न हो गई हैं। भगवान महावीर के मून सिद्धान्त ग्रहिसा ग्रीर ग्रनेकान्तवाद इन सभी संप्रदायों को समान रूप से मान्य हैं। मुक्ति श्रीर मुक्ति का वारण, संसार ग्रीर संसार का कारण तत्व व्यवस्था श्रीर पराधों का वर्गीकरण, व्रतों की परिभाषा, लोक विभाग, कर्म सिद्धान्त भीर कर्मों के भेद, सारी दाशनिक एवं स्याय विषयक मान्यताएँ म्रादि भनेकों विषयों में कोई नेद नही है। इन सब संप्रदायों का दर्शन एक ही है। जैसे बोदों के योगाचार, माध्यमिक, सीवान्तिक घोर वैवापिक वे चारों भेद भिन्न भिन्न चार दर्शन है, इन प्रकार दिनम्बर मादि पांचों भेद कोई भिन्न दर्शन नहीं है। रती मुक्ति, शुद्ध मुक्ति, सवस्य मुक्ति, फेवली कालाहार प्रादि हुए मान्यतायं ऐसी जरूर है जो कुछ भिन्नता की रेग्य की की हैं। किन्तु इन मान्यतायों का भारत पान इनिवे की है कि मुक्ति का दरवाशा इस समय सभी वे लिये दर है। न इस समय दियम्बरी को मुक्ति निलेगी छोर स श्वेताम्बरी को । इस मध्यानुष्ठाव की कीर उदाव देना विल्रुल घनावश्यक है।

ऐसी स्पिति में इन मनभेदी की को लोजक हो। सपनी भाषात्मक एकता की क्षीड ध्यान वेल कारिये। मनभेदों की वाने हो कर हमें श्रमनी भाषात्मक एकता की फोर प्यान देना चाहिये। यदि हम सब मिलकर लोक करवाल के लिये घपनी शक्तियों का उपयोग करें नो हमारी भाषात्मर एकता के सम्बन्न होने में चल मात वा भी विलस्य न हो।

यदिहम सब मिलकर सीक गावास के दिवे सकते। इतियों या उपयोग गरे को त्यारी भागतक एक पारे सम्पत्न होने में दग्रा मात्र हा भी दिसमान हो। हत्तरनीत मान्यतामी में पोड़ा बहुत भेद तो हर एवं स्वतः है होता है। रामं दिगरदर संप्राय े शास्त्री से हुएत हरू. भेद भरे पढ़े है कि यदि उन सब मानेती सा सहस किया जाय तो एक बहुत बड़ी जिल्दा की एक एक डोकी । एक विकास कार्य पूर्ण दिनामक पाया है। एतेर जिल्हा व नीज मतमेद रहते हैं। धीरानित र पार्ग में को कारक सत्तेद है उनमें की मनी रताय व प्रेमी वर्गान है। होता यही शायत हो भगवर सम्बद्ध के अपने हो है। mand and managed and more and the contract of the with the the state of the section of the section of the भी रेवन रेट मार्थित हो अन्ति है जर्दन किन किन कर् Programme the first and a section of the first of the मार्ग कि प्रकार करवारी की इन का शासी में के 明明 经收货 医骨髓 化分配管 斯里斯地名 人名斯 医多种病 网络 To gray really to proper section to the first the body. THE RESERVE TO SERVE STATE OF THE WALLS

हैं। हमें समूचे भारतीय राष्ट्र की ग्रोर देखना चाहिये ग्रीर इससे भी ग्रागे समूचे विश्व की ग्रोर भी हमें समन्वय की दृष्टि से देखना होगा।

यदि हम अनेकान्त शासन जैसे महान् समन्वय सूत्र पाकर भी अपने में भावात्मक एकता प्राप्त न कर सके तो यह हमारा दुर्भाग्य ही होगा । इस दुर्भाग्य को साथ लेकर क्या हम समूचे राष्ट्र की भावात्मक एकता की वातें करने के अधिकारी हैं। हमें अनेकान्त शासन को सर्व प्रयम प्रपने जीवन में उतारना चाहिये तभी इसका गुलागान हमारे लिये उपयुक्त हो सकता है। जब हम यह मानते हैं कि दुनियों के सब धर्मी के प्रति सहिज्युता एवं उदार होना चाहिये तो सत्रसे पहिले हम अपने घर में तो सहिष्णु हो लें। जो घर में सहिष्णु नहीं हो सकते वे वाहर भी क्या सहित्या होंगे । हमें भगवान महावीर के सर्वं घमं सम भाव, सर्वं जाति समभाव ग्रीर सर्वं जीव समभाव के महान सिद्धान्तों को जन मानस में उतारने के लिए सबसे पहिले इनका अमृत्पान स्वयं ही करना चाहिये । हम देश में भावात्मक एकता स्यापित करने के तत्व को समभें इसी में हमारा भला है। भगवान महावीर ने तो हमें "सत्वेषु मैत्री" की शिक्षा दी है जो सारे विश्व में भावात्मक एकता का समर्थन करती है।

हमें जैनों की रचनात्मक एकता के लिए फिलहाल निम्नलिखित कदम उठाना चाहिए—

१. हमें प्रपनी किसी भी संस्था, भवन एवं मंदिर ग्रादि के साथ दिगम्बर श्वेताम्बर ग्रादि सांप्रदायिक नामों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

- २. घर्मशाला, भवन या किसी भी ठहरने के स्यान में परस्पर किसी के लिए कोई वःघा या रुकावट नहीं होना चाहिए।
- एक ऐसा घार्मिक पाठ्यक्रम होना चाहिए जो सभी जैन शिच्रण संस्थामों में समान रूप से पढाया जा सके।
- ४. दिगम्बर श्वेताम्बर स्यानकवासी श्रीर तेरापंथी श्रीर तारण पंथ इन सभी संश्रदायों में परस्पर भोजन एवं विवाह व्यवहार चालू कर देना चाहिए ।
- ५. एक दूसरे के पर्वो, उत्सवों म्रादि में दिल खोलकर शरीक होना चाहिए ।
- ६. शुद्रमुनि, ऋषिमुनि, तथा केविल कवलहार ग्रादि युग वाले विषयों को कभी मुंह पर नहीं लाना चाहिए।
- ७ एक दूसरे संग्रदाय के ग्रंथों का परस्पर पठन-पाठन ग्रादि होना चाहिए । जैसे दिगम्बर संप्रदाय के महान न्याय ग्रंथ अट्ट सहस्त्री नामक ग्रंथ पर श्वेताम्बर महान विद्वान यशो विजय ने टीका लिखी है, वैसे विद्वानों द्वारा ग्रंब भी परस्पर ऐसा प्रयत्न होना चाहिए ।

ये कुछ संकेत है। यदि हम वस्तुत: इन्हें क्रिया-हमक रूप दे तो जैनों में परस्पर भावात्मक एकता स्थापित हो सकती है। इसमें कोई शक नहीं कि यही एकता हमारे समूचे राष्ट्र की भावात्मक एकता स्थापित करने में सहायक होगी।

### श्रो सौभागमल जैन

# राजस्थान के उल्लेखनीय जैन मन्दिर

केन धमं संसार के प्रत्यन्त प्राचीन धमों में से एक है। कुछ खोजी विद्वानों का तो यहां तक कहना है कि जब स्रायं यहां स्राये उसके पहले भी यहां एक धमं या स्रोर वह जैन धमं था। इसकी प्राचीनता वेद व सन्य वैदिक सन्यों से भी सिद्ध होती है। जब मोहन जीदड़ो की खोजें पूर्ण रूप से हो चुकेंगी स्रोर वहां के भग्नावशेष सन्छी तरह पढ़े जा चुकेंगे तब इसकी प्राचीनता के विषय में स्रोर भी विशद प्रकाश पड़ेगा।

जैन घमं के साय साघ उसकी उपासना पढ़ित भी काफी प्राचीन है। इस उपासना पढ़ित के मुख्य माधार जैन मन्दिर भ्रीर जैन प्रतिमायें है। सच कहा जाय तो जैन घमं को जीवित रखने में इन मन्दिरों का बहुन कुछ श्रेय है। यद्यपि समय समय पर परिवर्तन होने के बारण जैनों की उपासना पढ़ित में प्रनेक भेद हो गये पर इसका मन्दिरों पर कोई भ्रसर नहीं पड़ा। जैनों के कना पूर्ण मन्दिरों में जो भ्रष्ट्ययन सामग्री उपलब्ध होती है उसका महस्व कम नहीं है। जैन स्यापत्य कना या भारतीय स्वापत्य कला में खास स्वान है, यही बान मूर्नि फला के सम्बन्ध में भी है। जैनों के सीधं भीर मन्दिर सारे भारतवर्ष में सहस्त्रों की संन्या में है। कला यो हिट सो प्रनिवर्ण की कला के सम्बन्ध में भी है। जैनों के सीधं भीर मन्दिर सारे भारतवर्ष में सहस्त्रों की संन्या में है। कला यो हिट से इन मन्दिरों की कला का भारतीय बना साहित्य में उस्लेखनीय स्थान है।

जैनों के बहुत से मन्दिर तो प्राणी पर है। ये बहे ही मनोश हैं। पराएं। पर मन्दिनों के मनिरित्त विद्यान प्रतिमायें भी है जो प्राणों में ही उन्हों पर है। लगा प्रतिमायें भी है जो प्राणों में ही उन्हों परि है। लगा प्रतिमा संसार में बदनी नाती नहीं रणा । यह समार ने

जैन स्थापत्य कला का भारतीय स्थापत्य कला में खास स्थान है यही वात मूर्ति कता के सम्बन्ध में भी है। जैनों के तीर्थ और मांनर सारे भारतवर्ष में सहस्वों की सम्या में हैं। कला की हाव्ह से इन मांनरों की कला का भारतीय कला साहित्य में उल्लेखनीय स्थान है।

प्रारचवों में से हैं। इसके दिवय में बद सक बदेव दिहार भीर भारतीय लेखकों से बहुत मुख लिला है।

वेबमद, राजुराती, प्रतेसा, प्रधेसी, मागर, मुगद 'पुर, सादि स्थानी के जैन मन्दिर याराज में दांनीय है। पाए, विसीष, जानीर, जंगलमेर, नागीर, रगाउपुर, नगातिया, महादी, नेदारियानाय, जैनलमेर, महादीरणी, राजपिर मीर सामेर के मन्दिर माने रगायाय ते विश्व करा ने सर्वाद में में मारित माने के स्वाद में स्थानिय है। दाने साण के प्रदेश ने याराव में सेवाद में स्थानिय है। दाने साण के प्रदेश ने विश्व में स्थान में स्थान में साम प्रदेश के है। दाने साण के प्रवाद में स्थान में स्थान में साम प्रदेश के साम प्रवाद में स्थान माने सिम्य माने हैं। इस प्रविद्य के स्थान माने स्थान माने सिम्य माने स्थान माने सिम्य माने सिम्य माने स्थान माने सिम्य सिम्य

सङ्ग्रहेर कह गरीची या महिद्र की दर्ग प्रधीत है। खेरेर समय सी पुष्टि से सुमसा स्थाप की रहात है रहा से म्रतिरिक्त जयपुर का सिरमोरियों का मन्दिर, पटोदी का मिन्दर, वड़ा तेरापन्थी मन्दिर, और बड़े दीवानजी का मन्दिर, मनेक हिट्यों से महत्व पूर्ण है। जयपुर के मनेक मन्दिरों का इसलिए भी महत्व है कि उनमें हस्त लिखित प्राचीन शास्त्र भएडार है जयपुर के महावीर

स्वामी के मन्दिर व सांगानेर के संघीजी का मन्दिर तथा वाहर के ग्रामेर के नेमिनाथ स्वामी के मन्दिर में प्राचीन व कला पूर्ण प्रतिमायें है। ऐसी प्रतिमायें बड़े ग्रीर छोटे. दीवानजी के मन्दिर में भी हैं। कला प्रेमियों का कर्तव्य है कि इन मन्दिरों के ग्रवश्य दर्शन करें।

## महावीर तुम्हारा अभिनन्दन

(श्री श्रनूपचन्द न्यायतीर्थ )

तुम युग परिवत्त का महापुरुप ! तुम महा क्रांति के अप्रदूत ! तुम विश्व वंद्य ! पावन पुनीत ! तुम भारत के सच्चे सुपृत !

तुम से ही देश निहाल हुआ तुमको है शत शत वंदना।

घनघोर अन्धेरा छाया था

हिंसा की ज्याला भभक रही

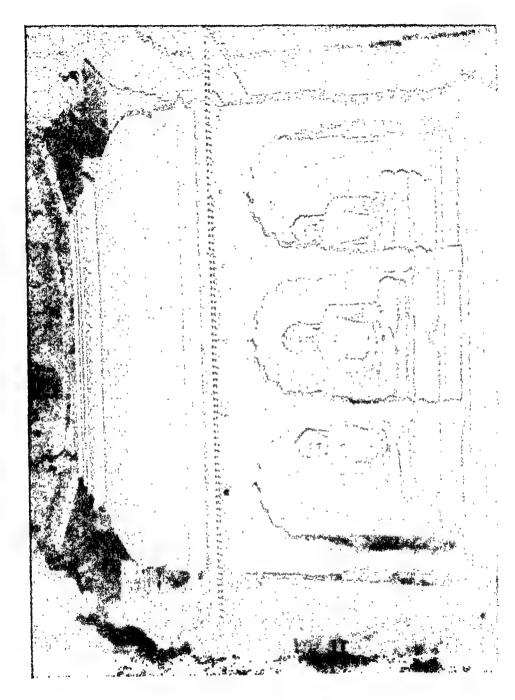
पशु-पशी की तो गणना क्या

नर-यज्ञ कुण्डियां धधक रही

मानव ने दानव रूप धरा था, सभी श्रोर दारूण कंदन ॥ श्रवतरित हुए तुम जगती पर भू-मण्डल पर फैला प्रकाश श्राशा की किरणें चमक उठीं सब हुए प्रफुल्लित थे निराश

उद्घार त्रिश्व का करने को तुम आये थे त्रिशलानन्दन।
फूंका जनजन के मानस में
शुचि सत्य ऋहिंसा—शंख नाद्
'जीओ औ जीने दो' वाला
दे मन्त्र, सिखाया स्याद्वाद

अपरिवह का सन्देश सुना कर कर दिये सभी के पावन मन ॥



the second of his delication of the second



# क्या जैन साहित्य केवल धार्मिक साहित्य है

याह एक कटु सत्य हैं कि जैन साहित्य के प्रचार में सब से प्रधिक उदासीनता स्वयं जैनों ने दिखलाई है। जैन यदि उपेचा की हृष्टि से इसे न देखते और इसके प्रचार के लिए हर सम्भव प्रयत्न करते तो ग्रव तक कभी भी इसका ठीक रूप से मूल्याब्द्वन हो गया होता। विभिन्न भाषाग्रों में लिखा गया विभिन्न विषयों का जैन साहित्व यदि जैनेतर विद्वान पाठकों के हाथों में पहुंचता तो वे इसकी विशेषतात्रों का स्रवश्य समादर करते और उनके द्वारा उनका रसास्वादन सामान्य लोग भी कर सकते। लोगों को जो यह ख्याल है कि जैन साहित्य केवल धार्मिक साहित्य है इसका एक मात्र कारण यही जान पड़ता है कि जैनों का काव्य एवं कथा साहित्य दाशंनिक एवं प्राध्या-त्मिक साहित्य स्थापत्य कला, मूर्तिकला, ग्रादि कला सम्ब-न्धी साहित्य लोगों के हाथों में नहीं पहुंचता। दूनरा कारता यह भी है कि जैन साहित्य के दिषय में लोगों ने पहले से ही ये विचार बना रने हैं कि यह केवल धार्मिक साहित्य है। वैसे तो कोई भी लेगक किनी न जिमी धर्म का अनुयायी ध्यश्य होगा घाँर जनकी रचनाओं में उद पर्मं की मात्यताओं का प्रतिबिग्द किसी न दिनी गा में भवश्य ही परिलक्षित होगा । वैदिक मुनलमान, ईनाई, धादि किसी भी धर्म का धनुयाची धननी दिकी भी रचना को धाने धर्म के प्रवाह ने बहुता नहीं रह नहता । हम किसी भी रचना भी पहरूर पाहे उनके रचित्र की सन्य दातों वा पता न लगा गर्ने पर उनने उनदे एमं ना पता जरर लगा सबते हैं। यहादि इसका सददाद भी मिल सकता है किना बाल समा कोई भी कालियान, भवभृति, मार्लो, दस्थी, सूर, तुल्ली, श्वीर, मीरा पाडि

जैन साहित्य की भारतीय वाह्मय के बहुत बड़ी देन हैं। यह भारतीय साहित्य का पृश्क हैं। यही बात नीय साहित्य के विषय में भी हैं। हमें धर्मों के निर्पेच होकर ही साहित्य के देगाना चाहिये। तभी हम उसके होंत न्याय कर सकते हैं, किन्तु हम सम्बन्ध में जैनों का जो कर्च हम है इसकी कोन भी इनका ध्यान जाना चाहिए।

की रचनायें पदार महत्र ही पता तथा तकता है कि कीत सी रचना किन धर्म के सन्दर्भ वर्ष की है। इसरिक्त जैन ग्रम्यतारी की कामाणी पर वर्ष करते पर्य का प्रभाव हरिस्मीबर ही प्रमानी भी कर क्यापारिक ही है। इसी प्रभाव के कारण किसी और काट्य, हैंग कला, और पुराता, झादि मी नेश्य मासिश मानिक न नार नार्ति है डनेसा कर थी राज की या बराव संपूर्व के होगा । हर समस्य में नहीं माता कि जनसेदार है। की मानदल के धासिक प्रेय मही है जिला और जान सहिए आ नए पुरानु देंगी या काहित होते है। उने आलक्ता है और विसी भी पर्य है। बहुमती की हो। रेजन कहाली प कारमुक्त क्षाक प्रामुक्त कार्तिको देश होते हैं है कुँदे हुँदे बाद्या क्षाप्तर क्षाप्तराह श्रम स्थापन कर्णामक र कर् Remarks to the second of the second of the second of the second THE BROWN BY BUTTER SET I BE AND THE SEE SEE SEE 衛門 實際學者 表 化 智思 斯达克·加达 经济 通道

मान लिया गया है। जैसे कि बाल्मीकि रामायण या तुलसी रामायण में उन्हें ब्राह्मण वर्म के अनुवायी माना गया है। बौद्ध जातकों में उनका ग्रन्य ही रूप सामने ग्राता है। हम कबीर के रहस्यवाद को यह कहकर उपेदा की हिप्ट से नहीं देखते कि वह अमूक घमं का अनुयायी है। तब क्या कारण है कि हम बनारसीदास के रहस्य वाद को किव के जैन होने के कारण उतना महत्व नहीं देते । विव तो कवि है उसका कोई सम्प्रदाय नहीं होता। कवियों का सम्प्रदाय ही उसका सम्प्रदाय है। कवियों के सम्प्रदाय में ईश्वर को जगत का कर्त्ता माना जाता है। यद्यपि जैन धर्म ईश्वर को सुप्टि का कर्ता नहीं मानता पर जैन घर्म के अनुयायी कवि को अपने काव्य में ईश्वर को मृष्टि का कर्ता ग्रवश्य मानना पड़ेगा। इसका मत-लय यह है कि कवि धर्म, देश एवं काल की सीमाग्रों से मानद नहीं होता । वह तो सबका है जो उसे उसके साथ धर्मों का विशेषणा लगा कर पहचानना चाहते हैं वे इसे सीमाओं में बांच देते हैं ग्रीर यह एक दहत वड़ी गलती है।

यही वात दार्शनिक के विषय में भी है। चाहे किसी भी धर्म का मानने वाला दार्शनिक हो। वह तो दार्शनिक है इमलिए किसी धर्म का उससे सम्बन्ध जोड़कर उसकी साहित्यिक सेवाशों की उपेचा करना किसी भी हिष्ट से न्याय नहीं है। जब संस्कृत साहित्य के उल्लेख का ग्रव-सर ग्राये तो हमारा घ्यान उन सब रचनाग्रों की ग्रोर जाना चाहिए जो संस्कृत भाषा में लिखित हैं। फिर चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के कृतिकार के द्वारा लिखी हुई हों। यही वात हिन्दी ग्रवभ्रं श, प्राकृत, ग्रादि सभी संसार की भाषाग्रों के सम्बच में भी है। वात यह है कि साहित्य या भाषा का सम्बन्ध किसी घमं से जोड़ना उनके प्रति एक प्रकार का ग्रन्थाय है। यह ग्रन्थाय तब होता है जब हमारे मन में साम्प्रदायिकता सजग हो जाती है।

जैन साहित्य की भारतीय वाङ्मय की वहुत वड़ी देन है। वह भारतीय साहित्य का पूरक है। यही वात बीद साहित्य के विषय में भी है। हमें हमों से निरपेच होकर ही साहित्य को देखना चाहिये। तभी हम उसके प्रति न्याय कर सकते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में जैनों का जो कत्तं व्य है उनकी ग्रोर भी उनका ध्यान जाना चाहिए विद्वानों एवं विचारकों के पास जैन साहित्य पहुं चाने की जिम्मेवारी स्वयं जैनों की है। इस जिम्मेवारी की ग्रव तक घोर उपेचा हुई है। ग्रीर यही उपेचा जैन साहित्य के प्रचार में वाधक बनी है। साहित्य एक प्रकार का प्रकाश है। इस प्रकाश को जो ग्राधेर कमरो में बन्द किये हुए रखते हैं वे स्वयं उस प्रकाश एवं मानव जाति के प्रति वहत बड़ा ग्रन्याय करने हैं।

# नेमिनिर्वाण-एक ऋध्ययन

भा रतीय संस्कृत साहित्य में जैन साहित्य का महत्वपूर्णं स्यान है। यो साहित्य में सभी विषयों का समावेश हो जाता है, किन्तु प्रस्तुत लेख में केवल काव्य साहित्य की चर्चा अपेक्षित है।

समस्त वाङ्मय की रचना मानवमात्र के हित की हिल्ट से की गई है, किन्तु ग्रन्य शास्त्रों की किठनाई को देख कर श्राचार्यों ने मानव की सरल रीति से शिद्धा देने के लिए काव्य शास्त्र का निर्माण प्रारम्भ किया। प्रत्य शास्त्र एक-एक विषय की शिद्धा देते है, पर काव्य शास्त्र संचेत में सभी शास्त्रों का सार, सरल और सरन शब्दों में बतलाने का प्रयत्न करता है। चौदहवीं शताब्दी के विद्वान श्री विश्वनाथ ने जो चौदह भाषाएं जानते थे— लिखा है ''श्रन्य बुद्धवातों को भी चूंकि बाध्य में ही सुन्य पूर्वक धर्म, प्रयं, वाम और मोच इन चार पुरपार्थों के फल की प्रान्ति, दिना परिश्रम के ही ही जाती है, श्रत: में उन (काव्य) के स्वरूप का निर्मण कर रहा है''—

चनु वर्गपन प्राप्तः मृतादस्विध्यामि । चतुर्वेगेकत प्राप्तिः मृतादस्याध्यामि । गाष्यादेव यतस्तेन तस्दर्भपं विगन्यो ॥

मार्तिय य'ग् १—६

यमवी रातान्त्री के जिल्ला की मनगढ ने—को पार्थदेशन के प्रप्रतार माने जाते है—ितान है पंजान पंदा का जनक, प्रकेशन स्वताहर, स्वताहर का पंजान, प्रमाहन का दिल्लाक, शीक्ष ही कारण कर कर है है स्वी के समान महनगा में उन्हेंस प्रदान कहते हैं। खाज लोग धर्मशास्त्र के दिया भे दृष्टि से देखने लगे हैं। धर्मशास्त्र में यश्चित शिकाएं यदि प्राप्त्र के गा यम से दी जायं तो पाडकों के द्यार १८४८ ४ ही प्रभाव पड़ना है। प्रमुन कदाराया में वीच-जीच में मुन्दर धानिय कि गा दे दो हैं जो मानव की पनाकित है में वाली हैं। लेनक ने इस केन में में कि निर्वाण काव्य पर की द्यार के प्रभाव वाना है।

रकार्य संस्केटांत्रे प्ययमार विदेशि एक राजाहे सद्यः प्रतिहेशाह्य राजाहार्यस्था प्रयोग । १०० १ १०० १०० १००

सामाद के पूर्व भावित सामाजातिक का को जा का का तिस्ती है, भीर शक्ति जुल्ला की है किया जा हुए जा का इस क्षिप पर कालन साल हुए है है

 चम्पू, ग्रास्थान, ग्रास्थायिका ग्रीर गुद्ध के स्वार्थों की रहना की गई। कुछ विद्वानों ने कृष्टिपूर्व कथाग्रों की ग्राधार बनाकर भी काव्य रचे। फलत: निर्देश ग्रीर यह सुनाई पड़ने लगा कि 'काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छिति धीमताम्'।

ग्रलङ्कार शास्त्र में नौ रसों की चर्चा ग्राती है। उन रसों में श्रङ्कार प्रवान माना जाता है—'श्रङ्कं प्राधान्यम् ऋच्छित गच्छतीति श्रङ्कारः'। इसी रस का पुट देकर कुछ किवयों ने ऐसे काव्यों का भी निर्माण किया, जिन्हें पढ़कर मानव का मन विकृत हुए विना नहीं रह सकता। राजा महाराजा भी ऐसे काव्यों को पसन्द करने लगे। फलतः काव्यों से लाभ के स्थान में हानि होने लगी। यह देखकर कुछ लोग यह स्पष्ट कहने लगे कि 'शास्त्र काव्यने हन्यते' ग्रौर कुछ लोग तो यहां तक कहने लगे कि 'रएड गीतानि काव्यानि'। ऐसी स्थिति में जैन विद्यानों ने वहुत सर्तक होकर काव्य रचना की। जैन काव्यों को घ्यान से पढ़ने पर यह वात स्पष्ट ही समक्त में ग्रा जाती हैं। सूक्ष्म हिट्ट से देखने पर जैन काव्य में ग्रनेक विशेष-ताएं जात हो जाती हैं।

महाकिव कालिदास ने 'मेयदूत' की रचना की ।

यह खर्ड काव्य उनकी प्रतिभा का ग्रद्भुत नमूना है,

इसमें तिनक भी सन्देह नहीं । किसी मार्ग का इतना
सरस वर्णन करना, कालिदास के लिए ही सम्भव था।

कालिदास की लेखन शैली पाठक के हृदय की बरवस

ग्राकुट कर लेती है । किन्तु कालिदास ने ग्रपनी रचना
में श्रुङ्गार की ग्रित कर दी । इसीलिए इनका मेय दूत
जब भग विज्जनसेनाचार्य के सामने पहुंचा तो उन्होंने
शान्त रस का पुट देकर उसका काया कल्प ही कर ढाला
उसे पार्श्वनाय का चरित दना दिया। मेयदूत के जिन
पद्यों से राम टेक मे लेकर कैलास पर्वत तक का मार्ग

ज्ञात होता है, उन्हों से जैनों के तेईसवें तीयँकर भगवान्
पार्श्वनाय का जीवन मुन्त का परिचय मिलना एक
ग्रसम्भव सी बात है। किन्तु जिनसेन ने मेयदूत की
समस्या पूर्ति कर के इसे सम्भव बना दिया। मेयदूत भी

विप्रतल्म शृंङ्गार है, जब कि उसकी समस्यापूर्ति-पाश्वी-म्युदय में शान्त रस ।

महाकवि घनंजनय ने रामायण ग्रौर महाभारत की कथा का यादार लेकर 'राघव पाएडवीयम्' महा काव्य की रचना की। इस महाकव्य में प्रलेप का चमत्कार ग्रारम्भ से ग्रन्त तक है। एक ग्रर्थ से राम-कथा ग्रौर दूसरे से पाएडव़—कथा निकलती है। प्रत्येक प्रलोक से दो-दो ग्रथं निकलते हैं। इसीलिए इस महाकाव्य का दूसरा नाम 'हिसन्धानम्' है, जो विहतसंसार में प्रचलित है। इस महा काव्य में ग्रादि से ग्रन्त तक वेदर्री रीति का ग्राश्रय किया गया है।

वारहवीं शताब्दी में ग्राचार्य हेमचन्द्र ने 'कुमारपाल-चरित' की, जिसका दूसरा नाम 'द्वयाश्रयकाव्य' है, रचना की इसके प्रारम्भ के वीस सर्गों में संस्कृत ग्रीर अन्त के ग्राठ सर्गों में प्राकृत भावा का ग्राध्रय किया गया है। हेमचन्द्र ने इससे ग्रयने सरकृत ग्रीर प्राकृत व्याकरणों के उदाहरणों को प्रदर्शित किया है।

इसी तरह के श्रीर भी स्रनेक जैन काव्य प्रकाशित हो चुके हैं जो अपनी विशेषताश्रों के कारण विद्वत्संसार में समाहित हैं। 'नेमिनिर्वाणम्' उन्हीं महा काव्यों में से एक है। यह महाकाव्य ऊपर लिखे तीन काव्यों की शैली से विभूषित नहीं है, किन्तु इसमें स्रनेक विशेषताएं हैं, जो श्रन्य काव्यों में नहीं पाई जातीं।

#### लेखक का परिवय

नेमि निर्वाग के लेखक ने भ्रपने महा काव्य के अन्त में संचिप्त परिचय दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि वे श्रहिच्छन के निवासी थे। उनकी जाति मोरवाड थी। उसके पिता का नाम छाहड श्रीर उनका स्वयं का नाम वाग्भट था —

"अहिच्छत्र पुरोत्पन्न प्राग्वाट कुलशालिनः । द्राहडस्य युतरुचक्रे प्रवन्वं वाग्भटः कविः ॥" (हस्तलिखित प्रति के आधार से ) इनका अनुमानित समय ग्यारह्वीं शताब्दी है

#### नाम में भ्रम

वारमद के नाम के अनेक किव हुए हैं, जिनके नाम के वारे में विद्वानों को भी अम े हो जाता है। किन्तु निता का नाम जात होने से जनके वारे में उत्पन्न हुमा अम दूर हो जाता है। प्रम्तुन किव के पिता का नाम छाहड था, जैसा कि कपर के पद्य से स्पष्ट है। काव्यानु शासनकार के पिता का नाम नेमिनुमार, वाग्भटाल द्वार के कर्ता के पिता का नाम सोम और अप्टाइन हृदय के लेखक के पिता का नाम सिंहगुप्त था। विशेष जानकारी के लिए इनके ग्रन्थ और श्रद्धेय प्रेमीजी का इतिहास देखिये।

#### ग्रन्थ का विपय

प्रस्तुत महाकाव्य के पन्द्रह सर्गों में जैनों के वाईसवें तीर्थन्द्वर नेमिनाथ का जीवन वृत्त विश्वत है। उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान श्रीर निर्वाण उन पांच कत्याणों में श्रन्तिम निर्वाण मुख्य है, श्रतः उभी के श्राद्यार पर प्रस्तुत नहा काव्य का नाम 'नेमि निर्वाणम्' रखा गया है।

## रस, रीति और गुग्

प्रस्तुत महाकाव्य में शान्तरन है। यों बीच-बीच में प्रसङ्गवश श्रीर रस भी है, किन्तु वे नव श्राह्म (गीए) है शान्त रस श्रञ्जी (प्रधान) है। रीति वैदर्भी है। स्रारम्भ ने स्रा तक प्रस्तुत ग्रन्थ से ग्रन्था एके ता प्रयोग विया गया है। कही तम्मय पर भी है, दिन्तु सम्ये तम्बे समस्त पर नही है। ग्रन्थ से ग्राहि से प्रस्त स्व प्रसाद स्रोर सामुबंदन को गुन्हों का महिमाला स्वय्ट हृष्टिगोचर होता है। श्वरुत्तर राह्म के ग्रन्थार साम्त रम के माथ रम्ही यो गुन्हों ना होता उच्चित्र है।

## प्रस्तुत महाकाव्य की विरोपताएं

## १. सिद्धान्त विरोमिए। श्राचार्य विश्वेश्वर निगते हैं--

".....साहितिक क्षेत्र में बाग्भद का ग्रत्यना महत्व पूर्ण नवान है। दाग्गदायात काव्यानुशासन, नेमिनिर्माण महाकाव्य, प्रदानवित्र सामें हाने पाने पाने पाने पाने प्रति प्रति

Contain manufact to the same of the same o

उनके बड़े भाई नेमिनाथ के बारे में किसी ने नहीं लिखा, इसी कमी को पूरा करने के लिए उन्होंने 'नेमि निर्वाणम्' महाकाव्य लिखा। 'वघ' ग्रमङ्गल सूचक है, ग्रत: वार्षभट ने ग्रपने महाकाव्य का मङ्गल सूचक 'नेमिनिर्वाण' नाम रखा। यह प्रस्तुत महाकाव्य की पहली विपशेता है।

- (२) प्रस्तुत महाकाव्य में प्रारम्भ के चौबीस पद्यों में क्रमश: २४ तीयं क्करों को नमस्कार किया गया है, जिनके पढ़ने से उन (तीयं क्करों) का विराग होना व्यक्त होता है। जैनेतर काव्यों के प्रारम्भ में ऐसे भी मङ्गल श्लोक हैं, जिनसे उनके परमाराध्य देवों की सरगता व्यक्त होती है। विरागता ही मुक्ति की जननी है और सरागता संसार की, इसीलिए जैन प्रन्यों में विरागता वा वीतरा—गता की महिमा विश्वत है। इसका पुट प्रस्तुत महाकाव्य के मङ्गल पद्यों में भी है। यह इसकी दूसरी विश्वता है।
- (३) महाकाव्य के वर्णनीय विषयों में अलङ्कार शास्त्र के अनुसार राजा और रानी का वर्णन आवश्यक है, जैसा कि अलङ्कार चिन्तामिणकार ने आचार्य जयसेन 'सूमुक्परनी' इत्यादि पद्य में सूचित किया है। रानी का वर्णन करते समय उसका नख-शिख शृंगार व्योरे बार लिखा जाता हैं, यहां तक कि कुछ तो योनि तक का भी वर्णन कर डालते हैं। किन्तु अस्तुत महाकाव्य इसका अनुवाद है। इसमें नायिका का इस ढंग से वर्णन नहीं किया गया। यह इसकी तीसरी विशेषता है।
- (४) काव्यों में नायक की ग्रनेक पत्नियों का वर्णन मिलता है, किन्तु इस काव्य में वह भी नहीं है। प्रस्तुत

महाकाच्य के नायक भगवान नेमिनाथ हैं। उन्हें व्याह के समय ही वैराग्य हो गया था, ग्रतः वे वाल ब्रह्मचारी ही रह गये। उनके विरक्त हो जाने से राजुल भी विरक्त हो गई। शास्त्रीय दृष्टि से छः फेरे तक 'कन्या' व्यवहार होता है। राजुल का तो एक भी फेरा नहीं फिरा था, ग्रतः उसका विवाह हो जाता तो भी उचित या, पर उसने विवाह नहीं करवाया । इस घटना का पड़ने वालों के ऊपर बहुत ही ग्रच्छा प्रभाव पड़ता है। ग्राज के युग में लोग राग के सागर में गोते लगाते हिंदर गोचर हो रहे हैं। ग्रत: ऐसे काव्यों की ग्रावश्यकता है जो जनता की रागसागर में डूब-मरने से बचा सकें। कवि प्रजापित के समान माना जाता है-'ग्रपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापित: । कवि जनता की भावना को चाहे जैसा उभार सकता है। यदि वह स्वयं श्रृङ्गारी है तो जनता को शृङ्गारी ग्रीर विरागी है तो जनता को भी विरागी वना सकता है। इस हिट्ट से ब्राज के युग में नेमि निर्वाण महाकाव्य बहुत ही उपयोगी है। यह उसकी चौथी विशेपता है।

(१) ग्राज लोग घर्म शास्त्र को उपेन्ना-हिष्ट से देखने लगे हैं। घर्म शास्त्र में विणित शिन्नाएं यदि काव्य के माध्यम से हो जायं तो पाठकों के ऊपर ग्रवश्य ही प्रभाव पड़ता है। प्रस्तुत महा काव्य में बीच-बीच में सुन्दर घार्मिक शिन्नाएं दी हैं जो मानव को प्रभावित करने वाली हैं। उनमें ग्रहिंसा की शिन्ना मुख्य है-''जो ग्रपने शरीर को पुष्ट करने के लिए प्राण्यिं का वच

श्रीत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमान क्रिया तैस्तै र्वन्धुवध्रुजनस्यवचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः। हष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नेव सङ्गमे संसेहत्फलका हरेण हसता क्लिण्टा शिवायास्तुवः।। रत्नावली १—२

१. चत्वार: प्रथयन्तु विद्रमलता रत्माङ्गुलि श्रेणयः श्रेयः शोणसरोज कोरकरुचस्ते शाङ्गिणः पाणयः। भालेष्वव्जभुवो लिखन्ति युगपद्ये पुण्यवर्णावलीः कस्तूरीमकरी मकरीः पयोघर युगे गण्डद्वये च श्रियः॥ प्रसन्नराघवम् १-१

करता है, वह दुाट जाड़े से वचने के लिए निश्चय ही घषकती हुई ग्राग में प्रवेश करता है। जैये ग्रन्नि में प्रवेश करने से दुख: होता है इसी तरह हिंसा करने में भी दुख होता हैं, क्योंकि हिंसा सभी प्रवार के दु:नों का उदय कराने के लिए मूल मन्त्र है"—

"िन: शेप दु:खोदय मूलमन्य यो देह पुष्टयै दछमादघाति । तूनं स शीताति भिदे दुरात्मा प्रवेशमग्नो ज्वलिते करोति ॥"

नेमिनिवाण १३-१५

"यदि कोई हिंसा करता है तो उनके तप श्रोर दान करने के प्रयत्न व्यर्थ हैं, श्रोर यदि यह वभी भी हिंमा नहीं करता तथा न ही उने श्रादर की ट्राटि ने देखता है तो उसे तप श्रोर दान के लिए प्रयत्न करने की क्या श्रावश्यकता ?"

''वयं वियत्ते यदि जातु जन्तुरत्नं,
तपोदान विश्वाम यत्नै: ।
तमेव चेन्नाद्रियते कदाचिदनं,
तपो दान विद्यान यत्नै ।।''
दही १३--१=

"यदि कोई व्यक्ति मैकट्रो तप करने और निरम्तर बान भी देना रहे किन्तु यदि उसके मन में भी कभी दिना का भाव उत्पन्त हो जाय तो उनकी नय तपन्यामी भीर दान पर पानी फिर जाना है।

"तनोतु जन्तुः शतराहनवांति,

दतानु दानानि निरन्त राग्ति । मरोति नेत्राणिनये ऽ भिलायं, कर्षानि सर्वाग्यिक सानि तस्य ॥"

भाग स्थाप्यार स्थान छन्त ।। यही १६०१द

दवा श्रमृत के समान है भीर हिना सब है। यब ि ये दोनों ही श्रास्ता सबी महा अगुत्र ने उत्तरक हैं हैं, विन्तु इन दोनों में ने एक (हाता) गानवा है। सगर बनाने में जारमा और दूसरी (मुगा) इने तुविनों है गिराने दाली मुन्हों प्रथम हरती है—

"हम मुधेबात्म मुखान्हुसानी.

तिना कुरेंच इस्तरहा है ।

एका नागरा मनस्य हेतु स्परत्,

मुन्तर्भ पानाव दर्गे ५" व्यो ११-६१

प्रस्तुत ग्रहिमा ने विचार भगणाम् नेगिराय ते है, जो उनके मन में गुनाया के मार्ग में कि का प्रदार के ने नम्मा कर्यन को मुनने ने उत्पार गर्भ थे। इसी कोने भाग भगयान गुन्मा मी तका गा समानि गर्भ थे कि अ भगवान नेमिनाय की इस्टिमे गर्भी प्रमृति कर कि ते के यह दान प्रस्तुत प्रवस्मा के गाने में विक्तुत स्वाह को जानी है। यह दावी पांचर्य क्लिया है।

## (६) छन्दों का प्रयोग

प्रस्तुत गरा ताया है। गर्मा गरी के गर्मा गरी स्पतिक द्वारों ता हमीन हिया गर्मा है। जिसे कर्मा त्वापीन से भी जान है। हन्दें में कर्मा है। तार्मा के वित्र ने बारे हमस्या से दें दिहें हैं। जिला के तिक त नाम ने साम प्रस्ता पान पान है। त्यों ना दें स्वादों नी दिसेय नार्म स्वीत त्यां भी साम है। देंगे—

भ्यूको प्राप्ति स स्पाप्त सरीया १ १ व व व १ १ १ १ १ सम्बद्धाराज्य सामग्री स्था विक्रिया स्थाप स्थाप १ १ १ १ १

प्रमाण द्यां—मूच रेनात । शिवकार १ स्थान १ स्थ

The state of the s

१. "लक्ष्मैतत्सकागमा गाँपेता भवति मेर विविध है। प्राव्यां व सं से स्वयं का प्रथमे व विकास गाँप के "पान्ते विस्तान सरकार के स्वयं का स्वयं व्यक्तिया के स्रोपे दुर्वे बच्चको सकावित कर्मा गाँउ व्यक्ति का

दूसरा ग्रर्थ—छन्द शास्त्र में जगएा, नगएा, मगएा, भगएा, यगएा, सगएा, तगएा श्रीर रगएा ये ग्राठ गए। प्रसिद्ध हैं। जो विद्वान इन 'गएों के स्वरूप को हृदय से समभ लेते हैं, उनका छन्द, भङ्गः (छन्दो भङ्गः) नहीं होता।

''मुनिगण से व्या गुरुण युक्तार्या जयति सामुन्न । ्रैचरण्गतम् ख़िलमेव स्फुरति तरां लच्चणं यस्याः।ः७-२

.पृहंला ग्रर्थं—इस पर्वत पर ग्रायिका जी विराजमान हैं। उनकी मान्यता मुनियों के समान है। उनके साथ उनकी गुरु—प्रधान ग्रायिका भी हैं। उनके चिह्न चरणा-योग के अनुकूल है। ग्रायिकाग्रों में वे सर्वोत्कृष्ट हैं। उन्हें हमारा नमस्कार हो।

दूसरा प्रथं — ग्रायां छन्द, सभी छन्दों में उत्कृष्ट है — [ ग्रायां सबैन भायां.......]। उसके पूनाई में सात गएा (मुनि गएा) ग्रीर एक गुरू होता है । उसके प्रत्येक चरण का पूरा का पूरा कच्चण किन को ग्रन्य छन्दों की ग्रयेचा शीझ ही स्फुरित हो जाता है।

रयुवंश, कुमार सम्भव, किरात, शिशुमाल वद्य, नैपघ, घर्मशर्मा भ्युदय, दिसन्धान, श्रीर चन्द्रप्रभ श्रादि प्रचलित कहाकाव्यों में 'चएडवृष्टि' छन्द का प्रयोग देखने में नहीं श्राया। प्रस्तुत महा काव्य के सप्तम सगं के छ्यालीसवें पद्य में इसका प्रयोग किया है। यह इसकी छठी विशेषता है।

#### (७) मलङ्कारों का चमत्कार।

प्रस्तुत महाकाव्य के प्रिग्ता को ग्रलङ्कारों का पूर्णं ज्ञान था। वे उनके प्रयोग में ग्रत्यन्त कुशल हैं। उन्होंने ग्रलङ्कार की परिभाषा को ध्यान में रखकर काव्य नहीं वनाया, किन्तु उनके काव्य में वे स्वयं ग्राते गये। उनकी योजना के लिए किन को स्वतन्त्र प्रयत्न नहीं करना पड़ा। यही कारण है जो नाग्यालङ्कार के प्रणोता ने प्रस्तुत महा काव्य के पद्यों को ग्रयनी कृति में उदाहरण रूप दिया। ग्रभी तक उपलब्ध ग्रलङ्कार ग्रन्थों में ऐसा एक भी नहीं, जिस में किसी एक ही ग्रन्थ से उदाहरण लिये गये हों। यह सौभाग्य केवल नेमि निर्वाण के प्रणोता को ही प्राप्त है। नाग्भटालङ्कार में दोषों का प्रकरण भी

है, पर उसमें प्रस्तुत महा काव्य का एक भी उदाहरण नहीं, केवल ग्रलद्भार-प्रकरण में, विशेपतः यमक के प्रकरण में इसके पचीसों पद्य उद्धृत हैं। इससे ज्ञात होता है कि वाग्भटालद्भार के प्रणेता की हिट में प्रस्तुत महा काव्य सर्वया निर्दोप था। यह इसकी सातवीं विशेपता है।

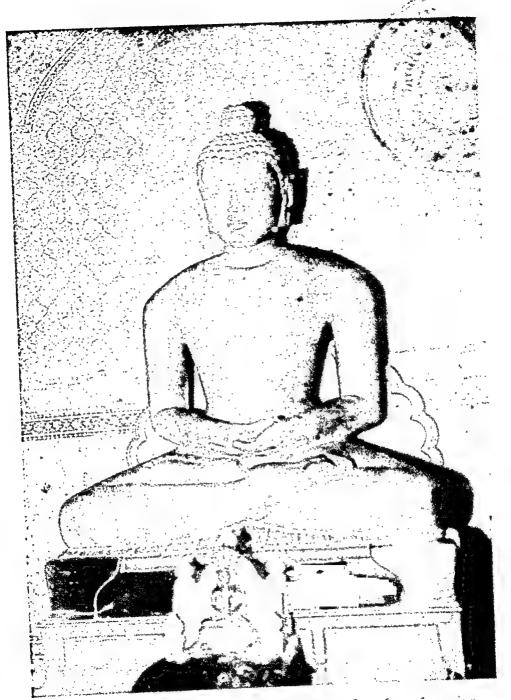
#### ( ८ ) उत्प्रेचायों की विच्छिति।

ग्रन्य ग्रलङ्कारों की ग्रपेचा उत्प्रेचा को विशिष्ट महत्व दिया जाता है। उपमा का प्रयोग ग्रासानी से हो जाता है, पर उत्प्रेचा के प्रयोग में बड़ी कठिनाई पड़ती है। इस बात को वे ही समभ सकते हैं जो स्वयं सत्कवि हैं। प्रस्तुत महा काव्य में जो उत्प्रेचाएं की गई हैं, उनमें चमत्कार है। जैसे

एवं वियां तां निजराजघानीं निर्मापयामीति कुत्हलेम । छाथा छलादच्छजले पयौघौ प्रचेतसा या लिखितेव भाति ॥ १-३८

द्वारका पुरी समुद्र के वीच में है। समुद्र के स्वच्छ जल में उसकी छाया पड़ रही है। इसके ऊपर किव की उद्धि चा (कल्पना) है कि वरुण ने उसका नक्षा खींच लिया है, यह सोच कर कि मैं (वरुण) भी अपने लिए इसी तरह की राजधानी वनवाऊंगा। वरुण पश्चिम दिशा का स्वामी है। वह समुद्र में निवास करता है। यह किव संसार में प्रसिद्ध है। इसी आधार से किव ने उक्त उद्शे चा की है। यह इसकी आठवीं विशेषता है।

(६) प्रस्तुत महाकाव्य के अन्त में भगवान नेमिनाथ की दिव्य देशना का संदोप में वर्णन है। अलङ्कार शास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि काव्य कमं, अर्थ, काम और मोद्ध इन चारों पुरुपार्थों की शिद्धा देते हैं। मोद्ध पुरुपार्थ का सहायक धर्म पुरुपार्थ है। अत: काव्यों में इसका उपदेश होना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत महा काव्य के अन्तिम सर्ग में इसका उपदेश है। मेरा खयाल है जैन काव्यों में सबसे पहले वाग्भट ने ही इसे प्रारम्भ किया। द्विसन्वान महा काव्य प्रस्तुत महा काव्य से पहले वन चुका था, पर उसमें यह वात—प्रन्तिम सर्ग कर्मोपदेश नहीं है। प्रस्तुत महा काव्य है। वाद चन्द्रप्रभीं



नेमिनाथ स्वामी की एक प्राचीन मृति - दिसस्यर होन संस्थाली प्राप्ति ।

				•		
•						
	•		•		7	
			•			
						,
					•	
		٨				
					•	
					,	

चिरत श्रीर धर्म शर्माम्युरग श्रादि काव्यों के श्रन्तिम मर्गों में धर्मों परेश का वर्णन है। जैनेतर काव्यों में यह वात हिन्दिगोचर नहीं होती। प्रस्तुत महा काव्य की यह नवमी विशेषता है।

प्रस्तुत महा काव्य में भगवान नेमिनाय के पूर्व भवों का वर्णन है। पूर्व भवों के पढ़ने से पाठक को यह स्वष्ट्र ज्ञात हो जाता है कि अच्छे कमें का अच्छा और बुरे कमें का बुरा फल होता है। इससे पाठक का ग्रात्मा के ग्रास्ति-क्य बाद के ऊपर भी हड़ विश्वास हो जाता है। नायक की भवावली का वर्णन जैनेतर काव्यों में नहीं के ही बरावर मिलता है। महापुराग् ग्रादि जैन पुराग्लों में भवान्तरों ना वर्गन मिनता है। मेरा गयान है ति स्वाप्त श्रीत स्वाप्त है। मेरा गयान है ति स्वाप्त श्रीत वर्गन वर्ग वर्गन वर्गन

इसी तरह मूटम प्रध्यपर निया गांव की और भी प्रतेक विभेषताएँ तात हो करती है। तात कि तर तामों के प्रापार पर यह स्वयूट के कि देनि कि कि महा काव्य जन्म कोटि के महा बार्यों के के नृत के

## हीराचंद वैद

## जैन कला चित्र दीर्घा (JAINA ART PHOTO GALLERY)

न मन्दिरों की कलापूर्ण भांकियां समय नमय पर हम सबको ही देखने को मिलती हैं। पर उस समय हममें से बहनों का हिट्योग केवल घारिक ही रहना है। मंदिर की कला की प्रशंसा के आगे यदि निर्माता के प्रति श्रद्धाजंति ग्रपित कर यो तो बहुत हुमा । पर इतिहास-कारों ने इसका दूसरा पत्त भी देखा है और वह यह है कि माज हमारे राष्ट्रीय एतिहान की ये समून्य निवियां है। हजारों वर्ष पूर्व का एतिहास धाज इन मन्दिरों के पीठ्र ही मृंह बील रहा है। इन मन्दिरों की पास्तुतला, इनके बिम्ब, इनके शिलालेग यदि छात्र न होते तो न पेवन अन मिलक भारतीय इतिहास भी मात्र नहीं के दरादर होता । माज ये मूर्तियां शोर मन्दिर हो हमारे इतिहास में हजारों पर्य पूर्व तक हमती। हमा ले गरे हैं। छात्र यह देश माधारण बात है ति इस मन्दिरों में एउपी द्वारों राज्य लगाया जाता है पर मेरी उनमे दिनती है कि वे पानिक रप भी पारे न देशे, पर इसी संस्कृतित एवं ऐतिहासिक महरद ला घणस्य सूरकात्व लेहे ।

समपुर नगर के मध्य नगर की राजकार में साथ ही

स्यापित श्री जैनश्ये लापामना संविद् (दीनाहों ता कारणां -जयपुर) के प्रस्तामा में जाद में विकास की मारणां य म सम्भने के लिये भी एए स्था नामा किया कारणे के स्व साजरणान के जैन संविद्यों की काम किया कि हो है है । सह एक नयी हिन्दि में मारणां में को स्वयं पर को को के । सह एक नयी हिन्दि में मारणां में को स्वयं पर के को में सह है । यहित यह काम की भी भी स्वयं पर के के के हायिक स्थापक स्वयंत्र पर काम स्वयं के की भी का क्ष

सारित स्थाप गरी के विशि की वा किल्यू के वा की क स्थापपुर, कार्य, विकासित के दूर्ण, के के वा के स्थापपुर, कार्य, विकासित के दूर्ण, के विकास कार्य स्थापपुर, कार्यों के कार्या के समाप्त कार्यों के कार्यों के सुम्बर कि में से कार्या के समाप्त कारण कारण कारण कार्यों के सार प्राप्त करते के कार्या के समाप्त के कार्यों के

# जयपुर के जैन दिवान

सृ जस्थान का इतिहास जैन इतिहास के विना विल्कुल ग्रघूरा है। यहां के विभिन्न नगरों, छोटे बड़े कस्बों श्रीर गांवों में जैन संस्कृति, जैन कला एवं जैन साहित्य की यत्र-तत्र बिखरी हुई प्राचीन सामग्री का यहां के इतिहास निर्माण में ग्रत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। दिगम्बर श्रीर श्वेताम्बर दोनों शाखाओं के महापूरुपों ने इस प्रान्त की जो सेवाएं की है वे इतिहास के पृष्ठों में चिरस्मरणीय रहेगी । उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, बूंदी, कोटा, कालावाड़, जैसलमेर, हूंगरपुर ग्रादि राजस्थान की सभी प्रमुख रियानतों में राज्य के दिवान एवं अन्य उच्च पदों पर काफी जैन व्यक्ति रहे हैं ग्रीर उनने राज्य -की महत्वपूर्ण सेवाएं की हैं। उस समय दिवान दो प्रकार के होते थे जिनमें एक देश दिवान ग्रीर दूसरे हुजूर दिवान। देश दिवान का ग्रर्थ ग्रांज की भाषा में प्रधान मन्त्री ग्रीर हुजूर दिवान से श्राशय विभिन्न विभागों के मंत्रियों से था। प्रस्तुत लेख में जयपुर (दूंढार) के जैन दिवानों के सबध में थोड़ा परिचय पाठको के समत्त प्रस्तुत किया जा रहा है।

जयपुर का कछवाहा राजवंश काकी प्राचीन है ग्रीर ११वीं शताब्दी से इस प्रान्त में ग्रिविच्छिन्न रूप से इसका दोर-दौरा रहा है। सर्वप्रथम इसकी राजधानी दौसा नामक नगर या को ग्राज भी जयपुर से ३४ मील दूर पूर्व की ग्रीर भ्रच्छा कस्वा है। इसके पश्चात् ११वीं शताब्दी में ही खोह १ नामक स्थान राजधानी बना। इसके बाद रामगढ़ पर श्रिवनार हुग्रा ग्रीर फिर १३वीं शताब्दी में ग्रामेर पर जो जयपुर निर्माण से ग्रथात् विक्रम सं० १७६४ से पूर्व तक राज्ञ्ञानी रहा। सन् १६४७ में भारत के स्वतंत्र होने के पश्चान् जब देशी राज्य विलोन हो गये तब तक जयपुर में कछवाहों का राज्य रहा। जयपुर नगर को वसाने वाले अद्भुत प्रतिमाशाली श्री सवाई जयसिंह थे। उनका जैनों के साथ निकटनम सम्पक था। इतिहासकार टाड़ ने लिखा है दिक्त जैनियों को ज्ञानशिचा में श्रेष्ठ जानकर जयसिंहजी उन पर अत्यन्त अनुग्रह रखते थे। ऐसा भी प्रकट होता है कि उन्होंने जैनियों के इतिहास और घम के सम्बन्ध में स्वयं शिचा प्राप्त की थी।

संवत् १०२३ में उक्त राजवंश नरवर (ग्वालियर)
से इस प्रान्त में आया था। तभी से जैनों का राज्य-घराने
से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, और उन्हें ने राज्य की वर्णनीय सेवाएं की है। कहा जाता है उस समय निरभैराम
या अभैराम नाम का छावड़ा गोत्रीय सज्जन महाराजा
से ढ़देवजी के दिवान थे। यद्यपि उस समय से कोई क्रमवद्य इतिहास हमारे सामने नहीं है, फिर भी जो जानकारी
प्राप्त हुई है उसके आघार पर यहीं कहा जा सवता है
कि जैनियों की राज्य सेवाएं सदा स्मरणीय रहेगी।

हमें ग्रव तक की खोज से जो जानकारी प्राप्त हुई है उससे जयपुर में करीब ५० जैन दिवानों के होने का पता लगा है। ग्रभी यह खोज ग्रधूरी ही है। सर्वप्रथम प्रामाणिक रूप से जिस व्यक्ति का परिचय मिला है वह है मिर्जाराजा जयसिंह (राज्यकाल सचत् १६७८ से १७२४ तक) के महामत्री मोहनदास भांदसा हैं। पर इन से पूर्व भी जैन ग्रामात्यों के होने की कई किवदन्तियां

१. जयपुर सं ७ मील दूर पूर्व दिवाण के कोने में है जो खोह ( रैंबारियान ) शांतिनायजी की खोह के नाम से प्रख्यात है।

२. देखिए टाड्राजस्थान पृष्ठ सं० ४८४ व वाकै राजपूताना उर्दू पृष्ठ ६८२।

सुनी जाती हैं ग्रीर उनमें सच्चाई नी है पर प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं होता श्रीर खोज की ग्रावश्यकता है।

#### १. महामन्त्री मोहनदास

जैसा ऊपर लिखा है मिर्जाराजा जयसिंह आमर के महामन्त्री थे। इनके पूर्वजों में सर्वप्रथम — जिस व्यक्ति का नाम मिलता है वे— सघी उदा थे। घामिक यात्रार्थ दूर देश में संघ चलाने वाने को संघी कहा जाता था। इनके लड़के मिल्लदास थे जो संघाति वने थे। मिल्ल— दास काफी प्रभावशाली व घामिक वृत्ति थे। संघ भार घुरुघर जिनपूजा पुरुदर, जिन प्रतिष्ठाकराणीकतत्वर घादि विशेषण इनके नाम के पीछे पढ़ने को मिलते हैं। धुनने विक्रम संवत् १६५६ में दूधूनगर में विम्य प्रतिष्ठा कराई थी घौर दूधू, चोरू, वांदर सींदरी, सारखुण और घराई नामक पांच स्थानों में दिशाल जिन-मंदिर बनवाये थे।

महामंत्री मोहनदास का जन्म १६५० के आस पान हुया था। विवाह १६६३ में हुया। ये धार्मिक वृति थे। विक्रम संवत् १७१४ में इन्होंने आमेर में एक दिशाल तीन शिखर का मंदिर बनवाया था। को दो वर्ष में तैयार हुया था और सं. १७१६ में उनकी प्रतिष्ठा हुई थी। यह विनल नाथ स्वामी का मंदिर था। महाराजा जयसिंह के मुख्य मंत्री रहते हुए इन्होंने राज्य की पानी सेवा की थी। इनका शरीर धन पुत्रादिक सभी की नेवा में तत्तर थे। ये झम्बावती नगराधिकारी कहनाते थे। उक्त विमन नाथ स्वामी के मंदिर तत्कालंग दिलाह विकाद धनित नाथ स्वामी के मंदिर तत्कालंग दिलाह दिलाह धनित निमन यान्य बना रहे है कि ये किउने दिलाह धनिक्त थे—धी महाराजाधिराज की जयनितम्य मुख्य प्रमान झम्बदती नगराधिकारी जिन पूरा-पुरस्तर सुख्य प्रमान झम्बदती नगराधिकारी जिन पूरा-पुरस्तर सुख्य

क्तालहत राष्ट्रच विषयानेश्वरः जिन-शागारीद्वरण घोरः निजयशः मुद्याध्यनी हत दिएतः मार्थक-शागीयः संपातिपति

#### २. दिवान करवाणदाम

महानत्नी मोहनदास ने तीन पुत्र हो—भी वश्यापः दास, विमनदाम और संविद्याम । श्री तश्याणदाम दिवान थे। जैठ हुदि है संव १७६३ मी मानग में श्री परकानदाम ने दिवाशी थे। मानग गौरंगतेय के सामने सहा करने मादि का दर्शन करते हुए एवं दव विसा या जो मानगर के दिवान मंधी करतालुगम ने नाम या। यह पत्र जयपुर के सरकारी दिकारों में है।

बस्यास्यास के छोटे भाई छितिशाम भी बहुत विशिष्ठ व्यक्तियों में थे। ययपुर का गंधीयी का गर्दर १७८६ में इन्हीं ने बनाया गा। २. दिवान संघी हतुमन्दर

जक्त मान्तियों मोत्त्य ये ये देश में ही कर्ण पानर संघी हुनुम चंद दियान हुन् जिन्दा अपरंत्र है क्ये दियान हुन् जिन्दा अपरंत्र है क्ये दियान होने ये संदेश को दियान होने ये संदेश की दियान होने ये संदेश कि सदिया हुर्द का जिल्हा का कार्य के रिवार हुर्द का जिल्हा कार्य के रिवार मुनात्य ये । में, भूजावान के ये ये ये आई है । देश सहमाण हु गया (मानी या विकास के ये ये या कार्य के रिवार मानिया स्थान पर गुण दिया । महिल उत्तरा हो होने ये विकास से विकास में की सियों है नाम में जिल्हा है ।

#### ४-दिवास विकासिका

के संची त्रूमण्ड े तुल के को का करते हैं लाज र समय में की दक्षणे सक्यू पहरूष में विशेष्ट का विशेषा सिमो की की के

- चैतित् जनपुर सम्मेदर के 'करणपु स्टित को प्रतिम प्रशान से।
- देखिए सामेर के मदिर में दिगलमात वाहचैताय नक्षणी को मृतिका नेता का अस्तात के गत के मात्रक के स्थान का मिल्लियों है।

#### ४-दिवान संघी भू थाराम

इनने विक्रम सं. १८८१ से १८६१ तक दिवानगिरी की । ये अपने समय के कुशल राजनीतिज्ञ प्रतिभाशाली वड़ी सुभवभा वाले एवं हुढ़ निश्चयी व्यक्ति थे। इनका शासन कठोर था। ये अपराधी को कठोर दंड देते थे। यही कारण है कि उस समय जयपुर में चोरी ग्रादि सभी ग्रपराध बहुत कम होते थे। यह काल देशी राज्यों में भ्रं ग्रें जों के श्राधिपत्य जमने वा था। जयपुर में उस समय नाब।लिंग राजा थे। इससे फायदा उठा कर कई छोटे मोटे जागीरदार स्वतंत्र हो रहे थे, राज्य की सीमाएं ग्ररिक्त थी ग्रीर शेखावाटी प्रांत कावू से वाहर हो रहा था। राज्य की ग्राय घट रही थी, राजनीतिक उथलपुयल मच रही थी ग्रीर राजनीतिक पडयंत्र चल रहे थे। ग्रंगेज इससे लाभ उठाना चाहते थे। संघीजी नहीं चाहते थे कि यहां ग्रंग्रेजों का दखल ही-वे स्वतन्त्रता प्रेमी थे-जयपूर को गुलामी की जंजीरों में वे जकड़ देना नहीं चाहते थे। पैसा भले ही दे दिया जाय। उनने प्रान्त की सीमाग्रों पर नियंत्रण किया जो जागीरदार स्वतन्त्र होने की फिराक में थे उनको दवाया । इससे उनके विरोधी वढ गये। उन्हें मौका मिला श्रीर पडर्यत्र होने लगे। भ्रं ग्रेजों के समय भारत में स्वतंत्रता प्रेमियों की जी दशा हुई वही संघीजी की हुई व इलजाम लगाये गये और जेल यातना भुगतनी पड़ी उनको।

#### ६. दि. विसलदास छावड़ा

ये ग्रामेर पित महाराजा विश्वनिसह (जिनका राज्य काल १७४६ से १७५६ था) के दिवान थे। इनके पिता श्री वल्लूशाहजी महाराजा रामिसहजी के समय में दिवान वताये जाते हैं। शिवाजी को मुगल दरवार में लाने के सम्बन्ध में वातचीत करने एवं सममाने के लिए बल्लूशाह जी को भेजा गया था। दिवान विमलदास साहसी ग्रीर वीर पुरुप थे। लालसोट के पास किसी युद्ध में इनकी मृत्यु हुई वताई जाती है।

#### ७-दिवान रामचन्द्र छावड़ा

ये जयपुर निर्माता महाराजा जयसिंहजी के प्रधान

श्रमात्यों में थे। इनका दिवानकाल-सं० १७४७ से १७७६ तक है। यही वे वीरथे जिनने ग्रामेरको मुगलों के पंजे से छुड़ाया। वहादुर शाह ने ग्रामेर पर कव्जा किया जयसिंहजी को ग्रामेर छोट़ उदयपुर जाना पड़ा। दि० रामचन्द्र ने फीज एक वकर सं० १७६४ में ग्रामेर पर ग्राक्रमणा किया १ श्रीर मुगल प्रतिनिधि सैयद हुसैन खां को मार भगा दिया तथा यवनों से ग्रामेर खाली कराया। ये चाहते तो स्वयं राजा वन जाते पर स्वामिभक्त थे। ग्रामेर पित को बुलाया ग्रीर राज्य सींवा। इस पर भुगल नाराज हुए श्रीर जयसिंह के ग्रपरावों की माफी की जो कार्यवाही मुगल दरवार में चल रही थी, वह स्थिगत हो गई। मुगलों ने दि० रामचन्द्र को हटा देने के ग्रादेश दिए।

दि॰ रामचन्द्र सफल शासक थे। इन्हें दूं ढार की ढाल कहा जाता है। कई युद्धों में ये सम्मिलत हुए थे। ये श्रद्धालु थे। साहीवाड का जैन मन्दिर इन्ही का बनाया हुपा है। इनने उज्जैन में एक निसयां बनाई। दिल्ली का जयसिंहपुरा का जैन मंदिर भी इन्हीं का बनाया हुमा है इनके सम्बन्ध में निम्न कवित् प्रचलित है—

रामचन्द्र विमलेश का हूं ढाहड़ की ढ़ाल, वांका ने सूघा किया सूचा किया निहाल....

घर राखणधरा राखण, प्रजा राखण पाण । जैसिह कहै छै रामचन्द्र तूसां चो छी दीवान ।

इनको ग्रामेर पितकी तरफ से कई जागीर मिली थीं। सांभर के लिए जयपुर जोधपुर में भगड़ा होने पर इन्हीं को पंच वनाया गया ग्रीर इनने सांभर का ग्राधा ग्राधा हिस्सा दोनों को देना तय किया। जो रवराज्य मिलने तक प्रचलित था। इस पर इनको सालाना नमक भी मिलता रहा।

#### ६ दिवान फतहचंद छावड़ा

ये दिवान रामचन्द्र के छोटे भाई थे ग्रौर सम्बत् १७६५ से १७७१ तक इनने दिवानगिरी की । ये भी धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे ।

१. देखिए इविन कृत लेटर मुगलज पृ० ६८ तथा वीर विनोद

#### ६. दियान किशनचन्द्र छावडा

ये दिवान रामचन्द्र के लड़के थे सम्बत् १७६७ में इन्हें १०० बीघा जमीन किसी विशिष्ट कार्य करने के उपलक्ष में मिली थी। इनकी मृत्यु सं० १८१५ में हुई।

#### १० दिवान भीवचंद छावड़ा

ये दिवान किशनचन्द के पुत्र थे। सम्यत् १८५६ से सं १८५६ तक इनने दिवानगिरी की वैसे राज्य सेवा में उच्चपद पर सं० १८२६ से ही थे इनका स्वर्ण्यास रां. १८६७ में हुन्ना।

### ११ दिवानरावजगराम पांड्या

प्रस्पात व्यक्ति राव कृपारामजी के ये पिता थे। संवत् १७७४ से १७६० तक इनका दिवान काल है। ये धनीमानी व्यक्ति थे। चाटनू जयपुर का एक प्रमिद्ध प्राचीन कस्या है। पहले यह उदयपुर में या, फिर मुगलों के प्रधिकार में धाया और फिर जयपुर वालों ने इस पर कब्जा किया। चम्पावती बुमाती पैमावनी छादि नाम चानसू के ही हैं। ये विभिन्नसमयों में बनते गये। चाटमू यह नाम राव जगरामजी के पूर्वज चावमलजी के नाम से सम्बन्धित जाता बताया है। ये चाटमू के चौधरी बहलाते है। रावजी की मुगल दरबार में भी काफी पहुंच थी। १२ विवान राव शुपारामजी पांत्रशा

ये प्रवने समय के बहुत पदर्वस्त व्यक्ति हुए हैं।
महाराजा जयसिंह के ये नयरानों में से एक पे। इनशी
दिवानगिरी का बाल १७५० से १७६० है। पर एक्स
सेवा में ये एसके दाद भी वे वर्डनपों तक वहे। वरहर के
प्रतिनिध स्वका मुनल दरदार में ये वहने थे। पुनल
यादशाह के साव बैठ कर इतर्ड पेडना इनला माणवन्त यां या। सारे राजा महाराण इनके वामने यही करों पे छौर प्रवने वार्यों के लिए मुनल बारहाह में निकारित रावजी ने कराते थे। राजनी नाराज न हो लागे. इनको स्वारं पति वा कोषाध्यस निया है। मुगत दरदार में उन्हों छ हुवारी निमन्द प्राप्त था।

जयदुर निर्माण में इनने नरीहों हो स्युक्ता करने दी थी। रायजी की पुती का नियार सालेहर के नगर सेठों के यहां हुआ था, उनमें नग्यायान का कार्य स्थायका जयसिंह ने किया था। इयनेवा द्वाने के न देने का रियाज सबजी ने कायम निया का जो धान भी अक्षित है। माही मरानिय जो जयदुर नरेश ही क्यांकी के महो हैं ने राव तुपारामजी की मिले के कीर उनके क्यांक्र नरेश को भेंट कर दिये।

ये धानिक वृत्ति के एक झर्गाप्रज्ञावित एवं एका विचारों के सज्जन थे। प्राप्ति एयपुर में धारम है भीत में स्थित विद्यान जैन मंदिर सर्वादे। यो भीत्र पर अपनी नात चीका की हदेवी से दरवादे। यो भी दर्श नूर्य के मन्दिर दनदाये। यक्ता की प्राप्ति पर दिक्त प्रतिद्वा मृथं वा मंदिर काव ही या वर्षाया हुआ है।

महाराबा वयस्ति है साथ होन्छे ता माध्य हाते भार विवयस्ति वर हो थे। हात्वी सृत्ता कराई छ वयसिंह यो दी सीर उनको मुख्य के गाउता। सवकी स्वामित्रक थे भीर वे काली किता की वर्णका में बिल्हुल स्वत हुए। इस्ताक्त्रीयन (कर्क्स क्रिक्स १३. दियान भगनराम प्रांत्या—

में सबकी के मोटे मार्डिय में १०६२ ने १००० तक दिवन को । इन्होंने का उन्होंने का उन्होंने सबस्य में सामी।

#### १४ दिवास साथ मनहरस योग्या—

से पहल मुख्यामधी है दुर्गम करा उत्तर है सर्द दुंबह के में, दुंबह है यह दूर कर देश दूरियों की को का का मुख्यामध्यादी में मोर्दे दुवा कर है हह है है है है में हैं सक दूब कर में इस्टी में समापूर्वे कर है वह है के मार्थे साम्बुद कर महीना समाना सामाप्त कर कर कर कर है के सामुद्र है की सामाद्वी कर कर कर में के सिम्ह है है है के स्थान स्थान है है

इ. श्रु ह्यासीमस्यद तह करे—न्तराह ४०० पीते, ६०० हाती, २०० हात्रराह धीत ५० ४० ४ सास्ति वेदन (सार्वे बहवने के बालन्य १)

#### १४. दिवान राव अवानी राम-

ये दिवान फनहरामजी के पुत्र थे । संवत् १ ५४३ से १५५५ तक इनका दिवान काल है । ये साहित्यिक व्यक्ति थे । इन्होंने चतुर विनोद नामक एक पुस्तक लिखी थी । ज्योतिय के भी ये ब्रच्छे विद्वान थे ।

#### १६. दिवान राव जाखी रास-

ये दिवान भवानी राम के लड़के थे श्रीर इनने भी काफी राज्य सेवाएं की हैं।

#### १७. दिवान विजयराम छावड़ा-

ये तीलूराम के लड़के थे थीर विजयराम तीलूका बोला जाता था। तोलूका एक वेंक पड़ गया थीर ग्राज भी इनके वंशज तीतूका कहलाते हैं। ये महाराजा जय- सिंह के दिवान थे। महाराजा जयसिंह की एक विहन दिल्ली वादशाह को देनी की थी—पर विजयराम के चातुर्य से वह बूंदी के हाडा बुवसिंह को चुपचाप परण दी गई। जयसिंह उस समय दिल्ली में थे। इस पर मुगल वादशाह नाराज भी हुता थीर कहा कि मेरी मांग चुवसिंह ने क्यों परणी। पर चुवसिंह तो रणवांकुरे थे ये डरे नहीं। विजयरामजी की खैर खाही से इनको एक ताज्ञपत्र मिला था कि शादाशा थे कुछाहा को धर्म राख्यो। जयपुर की राज्य पीढी कभी उभटणा नहीं होंगे श्रीर ग्रापको वांटकर खावेगी। निजकरामजी वहुत वीर श्रीर साहसी व्यक्तिथे।

#### १=. दि० किशोरदास महाजन-

ये १७४६ से १७७६ तक दिवान रहे। ये दौसा के छावड़ा गोत्रीय थे। विशेष जानकारी अपेक्तित है। १६. दि० ताराचन्द विलाला—

ये केशवदास के पुत्र थे। संवत् १७७३ से १७६० तक ये दिवान रहे। जयपुर में लूगकरण पांड्या दाला मन्दिर इन्हीं का बनाया हुन्ना है। पचेवर वालों के रास्ते में इनका विशाल मकान या। इनकी वंश परम्परा में अब कोई नहीं बनाया जाता।

#### २०. दि० नैनसुख तेरापंथी-

ये वड़े धार्मिक वृत्ति के थे। इनका दिवान काल सं० १७६६ से १७७० तक है। ये दौसा के छावडा गोत्रीय थे । दौसा लालसोट तसता पापडदा चाकमू टींक मालपुरा फागी ग्रामेर ग्रादि कई स्वानों में इनने जिन मंदिर बनाये थे-ऐसा इनके बंशज कहते थे ।

#### २१. दि० श्रीचंद छावड़ा—

ये दि. नैनसुख छावडा के भाई थे और सं. १७७०-७१ में दिवान रहे।

#### २२. दि. कनीरास वैद-

ये खेमकरता के लड़के थे। संवत् १८०७ से १८२० तक ये दिवान रहे। जयपुर में मनीरामजी की कोठी के सामने जो मंदिर है वह इन्हीं वा बनाया हुन्ना है। कठ— माना नामक ग्राम (जो डिग्गी मालपुरा सड़क पर है) के निवासी थे। कठमाना का विशाल जैन मंदिर इन्हीं वा बनाया हुन्ना है। इनके द्वितीय भ्राता श्री कीरतराम ने कठमाना के पास ही सोडा ग्राम में एक मंदिर बनाया था। कठमाना में ग्राज भी ग्रापके वंशन है।

#### २३. दिवान रतनचन्द साह—

दियान पद पर इप्रकी सेवाओं का वाल सं. १८२३ से १८२५ तक है। रतनचंदजी ने ग्रामेर में एक विशाल मंदिर बनवाया ग्रीर जयपुर में भी। जयपुर का मन्दिर अपने ज्येटठ आता ववीचंदजी के नाम से रखा जो ग्राज शुद्धान्त्राय का प्रमुख मंदिर है। गुम्बज में स्वर्ण का काम दर्शनीय है। यहां का शास्त्र भएडार भी काकी उल्लेखनीय है।

#### २४. दिवान जयचंद्र साह—

ये रतनचंदजी के पुत्र हैं और सं. १८२४ से ३५ तक दिवान रहे।

#### २४. दि. संघी नन्द्रलाल गोधा-

इनके पिता का नाम अतूपचंदजी था। आपने वि. संवत १८१३ से १८२८ तक दिवान पद की सुशोभित किया।

#### २६. दि. श्रारतराम खिन्दूका—

ये ऋषभादास के लड़के थे दिवानकाल १८१४ से १८३५ । तक ये नेवटा ग्राम के रहने वाले थे, नेवटा में इनका बनाया हुग्रा मन्दिर है । जयपुर में इनके मकान में चैत्यालय है । २७. दि. नोनद्राम खिन्दूका-

दिवान आरतराम के पीत्र । दि. काल १८७४ से १८८१ |

२८. दि. नैनसुख खिन्दूका—

पुत्र मुकन्दरास । दि. काल १८२१-१८२६ । इनके वंशज जयपुर मुसरफों के चौक में है ।

२६. दि. मोतीराम संधी गोधा-

पुत्र नन्दलाल । दि. काल १८२५-१८३४

३०. दि. श्रमरचन्द् सोगाणी—

पुत्र भमाराम । दि, काल १८२६-१८३४

३१. दि. जीवराज संघी—

दि. काल १८३०-१८४०

३२. दि. सोहनराम-

पुत्र जीवराज दि. काल १८३४ से १८६७ तक

३३. दि. गंगाराम महाजन--

पुत्र कालूराम-दि. काल १८४०-से १८४५

३४. दि. भागचन्द--

पुत्र सीताराम । दि. काल १८४२ से १८४६ तक । इनके वंशजों की चौडे रास्ते में हवेली है। चम्पालाल इनके वंशज हैं।

३४. दि. भगतराम नगडा—

इनके पिता का नाम नुप्तराम था। दिवान काल १ = ४२ से १ = ५ तक ये उदार प्रकृति के धर्मातमा व्यक्ति थे। इनने शांतिनायजी की खोह में पहाडी पर केदार नाथ का मंदिर तथा तियारा भर्नु हिर एवं महादेव का मदिर भी इन्हीं का बनाया हुआ। बताया जाता है। एक दावड़ी इनने १ = ६४ में बनाई। उस पर आज भी शिलानेख मोजूद है। इनने उस समय खोह में तीन लाख रपया जगाया बताया।

दि. रयोजीलाल हायदा

ये चैनरामजी के पुत्र थे। दिवान गाल-१८६५ ने १८७५ तन है। जयपुर में इनवी हवेली वाला सहा इन्हों के नामसे दिवान श्योजी लालशी का रास्ता कह-लना है। ये संस्कृत एवं ज्योतिय के विद्वान थे। मरवारी रकम की बनूली में इनकी सेवाएं महत्वपूर्ण थी।

३७ दि. श्रमोलकचन्द्र खिन्ह्का

पुत्र नोनन्दराम दि. काल १८८२ से १८८६ तक । ३८ हि. संपतराम खिट्टंका

ये दिवान आरतराम के पीत थे। दि. तात १=६१ से १=६६ तक है। ये अलवर में भी दिशन रहे।

दि. सदासुख छात्रज्ञ—

पुत्र जयचंद का । दि. काल १८५७ -- १८६४

३६ दि. कुपाराम छावड़ा-

पुत्र जयचंद। दि. का १८६८-१८७५

४० दि. लिखसीचद् हावडा-

पुत्र जीवनराम । दि. वाल १८६६ ने १८८४ । ये दौना के तेरह पवियों में से थे ।

४१ दि. लीखमीचंद गोधा-

पुत भगतराम । दि. काल १८७४-१८८१

४२ दि. फेसरीसिंह कासलीवाल-

दिवान काल १८०८ ने १८१७ । पार्ट १८८६ में ये नुसदान वीपूर्ण पर थे। पिर दिवान पर तक पार्ट । वड़े पर्मात्मा थे। जयपुर का संवमन्त्रर में मुनाई के बाम के लिए विरवान निरमोतियों ता गंदिर इसी का दनाया हुया है। राज्य की छोर ने इस गंदिर के निर्माण में २०००) मिले थे। जयपुर नरेश गायों कि ता वे ने इस मंदिर की गीन में. १८१६ में नशी की।

४३ दि. बालचद हादरा-

ये मोलीगाली है हुए थे। मोहिंगाहा है ही दिन्त बताये पाते हैं। बालनादर्श ना दिन्त गा दिव्हें न १६६६ तक मार्थ इस राग्य प्रयुक्त है राजनित हैं। साम्प्रदर्शिया का निर्मेण कार्य कर का एक हैं। सम्मानम्बद्धिया का निर्मेण कार्य का कार्य प्रमुख्य हैं। सम्मानम्बद्धिया कार्योग्याम् कार्य कार्यक्त हैं। ताबीजग्रादि से उसने वश में करवाया था। संवत् १८१७ में श्यामराम के सहयोगियों द्वारा लूट पाट हुई, जैन मदिर नप्ट किये गये । कहा जाता है कि दि० वालचन्द जी ने महाराजा के हाथ पर वधे हुए ताबीज को खुलवाकर उसके स्थान पर कागज का दुकड़ा रख दिया ) फलस्वरूप महाराजा को बोघ हुग्रा ग्रौर ग्रपने किए पर पछताने-लगे, स्रीर तत्काल श्यामराम को देश निकाला दिया गया। सं० १८१६ में राजाजा निकाली कि जैनों के साध कोई भेदभाव न किया जाय, जो माल लूटा हो वापस किया गाय। फनस्वरूप जितने मदिर भ्रष्ट हुए उतने ही श्रीर वने । घर्म रत्तार्थ दि० वालचन्दजी ने श्रभूतपूर्व कार्यं किए जो वर्णनातीत हैं। संवत १८२१ में एक वहुत वड़ा इन्द्र ध्वज विधान उत्सव हुग्रा जिसमें दूर दूर के यात्री ग्राये। १ दिवान वालचन्द ग्रीर दि० रतनचंद उसमें प्रभावक थे। नये जिनालय उत्सव ग्रादि धार्मिक कार्य हुए । कुछ साम्प्रदायिक व्यक्ति इससे जले, पून: उपद्रव मचा ग्रीर फलस्वरूप महापंडित ग्राचार्य कल्प पं० टोडरमल जी के प्राणों का उत्सर्ग करना पडा।

#### ४४ दियान जयचन्द छावड़ा

मेवालचन्द्रजी के ज्येष्ठ पुत्र थे और संवत् १८२६ से १८५५ तक इनका दीवान काल था । ये घमात्मा थे । दिवान वालचन्द जी के पांच लड़कों में से सबसे वड़े जयचन्दजी और सबसे छोटे रामचन्दजी बहुत प्रभावशाली हुए हैं।

#### ४४. दि० रामचन्द्जी

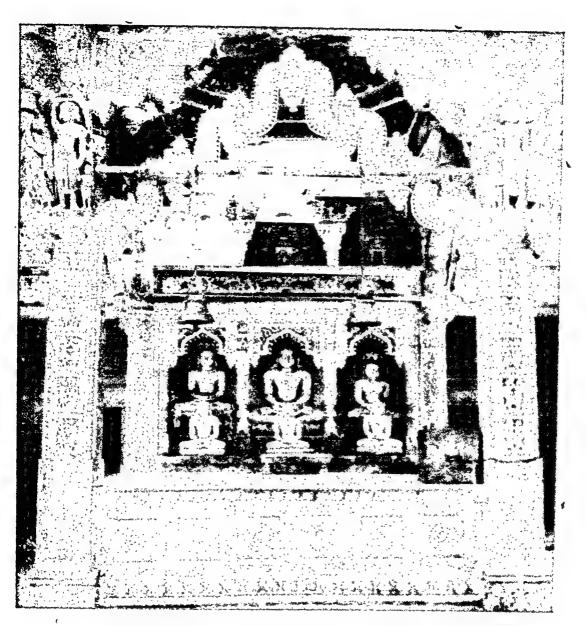
ये वीर, कुशल राजनीविज्ञ और घर्मात्मा व्यक्ति थे । उदयपुर महाराणा भीमसिंह की सुन्दर कन्या कृष्णा कृमारी के साथ विवाह के प्रश्न को लेकर जयपुर में काफी भगड़ा हो गया, फीजें तैयार हो गईं। किन्तु जोधपुर के दिवान इन्द्रराज और जयपुर के दिवान राम— चन्द ने मिल कर भगड़े को शान्त किया। १ पर शान्ति स्थाई नहीं हुई। लोगो ने जयपुर नरेश को भड़काया। पोकरण के ठाकुर ने उस समय जोधपुर की गद्दी लेने के लिए जोधपुर पर चढ़ाई करदी ग्रीर जयपुर नरेश उनके साथ हो गये। तब रामचन्द जी को भी राजा जी की ग्राज्ञानुसार जाना पड़ा। उसने सलाह दी ग्रीर कोशिश की कि ग्राप उदयपुर में चलकर विवाह करलें। पर जयपुर नरेश ने नहीं माना—जोधपुर पर चढ़ बैठे। इधर जयपुर को बिना फीज के सूना जान जोधपुर की सलाह से ग्रमीरखां पिंडारी ने जयपुर पर धावा बोल दिया। पिएडारी हारा पर पुनः उसने धावा बोला, जयपुर वाले भाग छड़े हुए। दिवान रामचन्द को जोधपुर में जब यह समाचार मिले तो उसने जयपुर नरेश को सलाह दी कि जयपुर चल-कर ग्रपनी रचा करें। उनने उनका कहना जहर माना—पर फीज थकी हुई थी। ऐसी स्थिति में रामचन्द ने पिएडारी को एक लाख रुपया देकर पिएडा छुड़ाया।

रामचन्दजी धार्मिक वृत्ति के थे। उन्होंने अनेक यात्रासंघ चलाये। संवत १८६१ में जयपुर में वहुत वड़ी वित्र प्रतिष्ठा कराई जिसकी मूर्तियां आज भी हजारों की संख्या में उत्तरी भारत में भी दूर दूर तक पहुंची थी। इनने तीन मन्दिर बनवाये। इनमें दो लाख खर्च हुए।

महाराजा जगतिसह रिसक थे। रस कपूर नामक गिएाका से उनका अधिक प्रेम था। किन्तु रामचन्दजी राजा को इस अवगुणों ने दूर रखना चाहते थे। लेकिन चापलूस लोग भी बहुत थे। मिश्र शिवनारायण रस कपूर का भाई बना और पूर्वज श्यामराम का बदला दिवान वालचन्द के लड़के रूपचन्द से लेना चाहा। नशे में मदहाश नरेश से आज्ञा ले रामचन्द को पकड़वाकर जयगढ़ भेज दिया जहां से जीवित आने की अग्ज्ञा न थी जब राजा को होश हुआ तो उनने रामचन्द को फीरन बुलाया। आन की बजह से पहाड़ी के पीछे की और से रस्से से उनको उतरवाया-फिर

१. देखिए वखतराम रचित बुद्धि विलास—(शास्त्र भडार लश्कर का मदिर जयपुर)

१. देखिए उत्सव का निमंज्ञण—चिट्ठी वचीचंदजी के मंदिर का शास्त्रश्रों में भर चिट्ठी वीर पाणी में प्रकाशित हो चुकी है।



मांगानेर में भव्य एवं कला पूर्ण संघीजी के मंदिर की वेदी



दुश्मन ने बीच ही में रस्सा कटवा दिया ग्रीर रामचन्द की मृत्यु हो गई। यह १८६४ की बात है। ४६ दिवान मन्नालाल छावड़ा

दिवान काल १८६६-६६। रामचन्द जी के पुत्र थे। ४७ दिवान ऋपाराम छावड़ा

ये रामचन्द के भतीजे थे। इनका दिवान काल १८६६ से १८७५ तक। ये वड़े नीतिज्ञ ग्रीर फौजी व्यक्ति थे। राज्य की ग्रीर से इनने वड़ी वड़ी फौजों का संग्रह किया था। शेखावटी को ग्रपने वश में रखने की हिंद्र से दिवान रामचन्दजी ने इनकी वहां भेजा। इनने ग्रसन्तुष्ट सामन्तों को वश में किया। इनकी चातुरी से १० हजार सेना इनके ग्रधंन हो गई। टाड् ने लिखा है कि जगतसिंह जी की इतनी सेना थी जितनी किसी ग्रामेर पित की नहीं हुई।

इनके पुत्र शिवजीलाल भी दिवान हुए हैं-पर प्रमा-ि शिक जानकारी नहीं है।

४८. दीवान श्योजीलालजी पाटनी खिंदुका-

ये रतनचन्दजो के पुत्र श्रीर प्रसिद्ध दिवान श्रमरचंद जी के पिता थे। इनका दिवान काल-१८३४ से १८६७ तक है। ये बड़े धर्मात्मा श्रीर वीर थे। जयपुर में मनिहारों के रास्ते में स्थित वड़े दिवानजी का मन्दिर इन्हीं का बनाया हुपा है। इस मन्दिर में पवासों वर्षों तक शास्त्र प्रवचन होता श्राया हैं। वर्तमान जैन संस्कृत कालेज इसी की इमारत में है। संवत् १८५० में यह मन्दिर बना था। ये साहित्य श्रमो थे। कई ग्रन्थों की प्रतियां इनने कराई थीं।

इनको घार्मिक ग्रन्थों का ज्ञान भी ग्रन्छ। या।

४६. दिवान श्रमरचन्द्जी पाटनी

ये जयपुर के प्रसिद्ध दिवान थे। इनके बारे में लीव बहुत कुछ जानते थे। ये १८६० से १८६२ तक दिवान रहे। ये बड़े धर्मातमा पृष्ठप थे। अपने पिता के अनुरूप ही अपनी हवेली के पास में ही एक विशाल मन्दिर इन्होंने बनाया। जो छोटे दिवानजी के मन्दिर के नाम से विख्यात है। उसके सामने ही इनकी धर्मशाला है। यह मन्दिर संवत् १८७२ से १८८४ तक बना। चौरह हडार रुपये इसमें खर्च हुए, जो आज कई लाख के दरावर हैं। इनने लकड़ी पर सोने के काम की समवसरएा से रहदीप रचना बनवाई जो वधीचन्दजी के मन्दिर में मीडूद है।

इनने कई सामाजिक रीति रिवाजों में सुघार किये जो वर्षों तक प्रचलित रहे। दयालु इतने थे कि किसी जरूरतमन्द व्यक्ति के घर पर चुपचाप प्रनाज एवं कपड़े ग्रादि भिजवा देना ग्रीर मालूम तक नहीं होता कि किसने भेजा है। कई बार लड्डु ग्रों में म्होर रखकर ये गरीब घरों में भिजवा देते थे। मन्दिर में स्वयं प्रपने हावों से भाइ लगाते थे। इनने ग्रपने जीवन में ग्रनेकों को स्वाद्याय ग्रादि के बत नियम दिलंबाये। स्वयं ने ग्रन्य लिखवांच ग्रीर शास्त्रों का ग्रन्छा संग्रह कराया था।

जिस समय ये दिवान ये राज्य में नावालगी के समय में कई राजनीतिक पड़यन्त्र चल रहे थे । एक संग्रेज को जयपुर की जनता ने मार दिया इसलिए कि वह राज प्रासाद में नंगी तलवार लेकर निकला—लोगों ने समभा कि इसने राजा की हत्या करदी हैं। तिपोलिया एवं किशनपोल वाजार के (जहां वह मारा गया ) सारे चेत्र पर अ'ग्रेजों का प्रकोप हुमा। तव कहीं सब लोग सामूहिक रूप से न मारे जांय—दिवानजी को यह भय हुमा। पड़यन्त्रकारियों को मौका मिला—एनको पकड़-वाया गया। अ'ग्रेजों द्वारा बनाई गई एक ममिति (ट्रिज्यूनल) ने इनको अपराधी माना मौर फांगी पर लटकाने का हुकम हुमा। किन्तु घात्म जिन्तत में लीन ध्यानस्य मारामा कव चले गए उनकी पहानी मनर दन कर रह गई।

४०. दिवान मानकचंद श्रोसवाल-

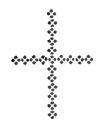
दिवानवाल १६०६ से १६१२ तक । निरोप जान-कारी प्राप्त नहीं हुई ।

मुंशी प्यारेलांनजी कामनीवात (रिशेन्यू मिनिस्टर) इस परम्परा के मन्तिम उच्चापिकारी थे। मंदन् १६७६ से १६७६ तक रहे।

सव तक जो जानगरी उपलब्ध हुई है—उन्दा संद्यित स्वस्य भैने इम परिचय में प्रम्युत निया है। सीजी एवं सनुमंपानगर्तायों को इम पर बीर भी गोज करनी चाहिए और उन्हें जो भी मानदी निने बाद इन पंक्तियों के नेयम को मृद्यित करने का क्यू करें हो हैं। उनदा सामारी सूंगा। ★

महावीर जयन्ति के शुभावसर पर शुभकामनाञ्चों के साथ दि विनोद मिल्स कम्पनी लिमिटेड उज्जैन सोल सेलिंग एजेन्ट सैसर्स विनोदीराम वालचन्द एजेन्सीज ं उज्जैन

With best compliments from



## KAMAL & COMPANY

JAIPUR - JODHPUR - AJMER - KOTAH - DELHI

With best Compliments

from



With Compliments

from



# LUHADIYA BROTHERS

(Jamna Lal Bodi Lal)
PUROHITJI-KA-NAYA-KATRA, JAIPUR
Sole Selling Agents For Rajasthan
NEW SWADESHI MILLS, AHMEDABAD

# Haruman Prasad Agarwal

Near Sindly Camp, Station Rot 1.

Contractor

Railways, P. W D.

SANITARY & ELECTRIC FITTINGS

# With best compliments

# LAKHMI CHAND JAIN

JAIPUR IRON STORES

Iron Merchants:

SAWAI MAN SINGH HIGHWAY, JAIPUR

Telephone { Office: 3471 Resi.: 2771

# पूर्ण सुरचा एवं सद्व्यवहारपूर्ण वैंकिंग सेवा के लिए

# दी बैंक ग्राफ राजस्थान लिसिटेड

रजि० कार्यालय: उदयपुर

केन्द्रीय कार्यालय: जयपुर

### शाखाएं—३६

मूलधन एवं रक्षित कोष १ =,४ =,२०० कार्यकृतुं पूंजी ६,६६, = ०,२३५ जमाए ६,२३,६४,३६२ तरल साधन ४,१३,००,००० लाभांश (डिविडैंड) १० प्रतिशत

भारतीय व्यापारिक ३०० वैंकों में (स्टेट वैंक ग्राफ इण्डिया ग्रीर उसकी सहायक वैंकों को छोड़कर) इस वैंक का १६ वां स्थान है।



## वोड आफ डाइरेक्टर्स

राजाधिराज श्री हरीसिंहजी श्राफ श्रचरोल — चैग्ररमैन श्री मोहन सुकर्जी, वित्त सचिव — राजस्थान गवर्नमेंट हारा मनोनीन आरेपटर राजाधिराज श्री श्रमरितेहजी श्राफ बनेडा सेठ श्री पूसालालजी मानसिंघ का बेंकर भीलबाड़ा सेठ श्री दामोदरलाल मानसिंघ का बेंकर भीलबाड़ा

> विरधीतात मेठी जनक मेनेटर

# भगवान महावीर

की

# र्धह ने जयंती

पर

## शत-शत प्रगाम

राजधी विकच्स पाइकेट लिमिटेड, जयपूर

हमारे यहां श्रोरियन्ट, क्राम्पटन, केसेल्स, श्रा० ई० डब्ल्यू० के सीलिंग, टेनिल व पैडस्टल फैन, साना रेडियो (एच० जी० ई० सी०) विजली का प्रत्येक प्रकार का सामान व पेरामाईट वायर श्रादि उचित मूल्य पर मिलते हैं

> जौहरी वाजार (जामा मस्जिद के सामने ) जयपुर

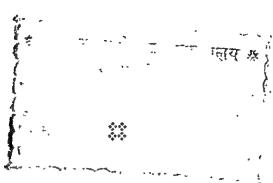
## खादी अपनाइये

जिस चर्ले ने भारत की आंजादी के संशाम
में सुदर्शन चक्र का कार्य किया, आज भी वही
चर्ला लाखों को रोजी, रोटी और सम्मान का जीवन
प्रदान करता है। अन्ततोगत्वा इसी चर्ले
और अगु अस्त्रों का सुकावला होगा। एक
ओर यहिंसक समाज रचना का सुखद स्वप्न
और दूसरी और सर्वानाश।

ग्रतः समभ व्रक्षकर गांधी की खादी ग्रपनाइये ग्रीर विश्व में महावीर के सच्चे स्वप्न की फैलाइये।

राजस्थान खादी संघ द्वारा प्रसारित

With best compliments from



# PICTORIALS

M. I. ROAD, JAIPUR
Phone: 3834

AND

Jaipur Photo Art Palace

## JAIPUR BLOCK WORKS

MIRZA ISMAIL ROAD - JAIPUR

HIGH CLASS BLOCK MAKERS

Quality and Punctuality our Speciality

Phone: 3822



## With best Compliments from

Bangalor	e Rea	dymad	de	Cloth	Stores
	Johari	Bazar,	Ja	ipur	

(Pioneers of Readymade in Rajasthan)

Phone: 3104 The Readymade Clothes Emporium

> Johari Bazar, Jaipur Sole Agents for : Samsons Dresses

Telephone: 2878

Ratan Trading Company

Tewellers Johari Bazar, Jaipur

Jain Iron & Fitting Stores -Chaura Rasta, Jaipur

Phone: 2449 Motiram Kanwarthan General Merchants

Johari Bazar, Jaipur Phone No. 2769

Johari Bazar, Jaipur

Anoopchand Kesrichand Kothari lewellers Johari Bazar, Jaipur

Chothuram Jai Kumar Jain General Merchants

Kesharlal Chandalal Commission Agents & Grain Merchants Chandpole Bazar, Jaipur Phone No. 4152

Tara Chand & Co. Cottonseed & Salt Merchants Chandpole Bazar, Jaipur

Birdhi Chand Chiraniilal Commission Agent & Grain Merchants

Chandpole Bazar, Jaipur Sagarmal Kailash Chand Cottonseed & Grain Merchants ग्रनाज व तिलहन के थोक व्यापारी चांदपोल वाजार, जयपुर

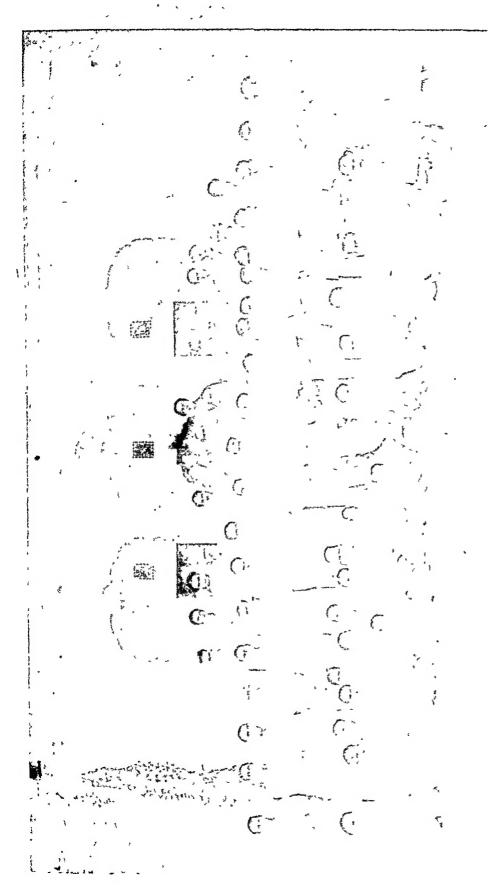
संबरताल प्रकाश चन्द

ग्राडतिया ग्रनाज व तिलहन के व्यापारी

चांदपोल वाजार, जयपूर Mls. Chimanlal Kankanlal Rara Kirana and Zeera Wholcsale Merchants Tripolia Bazar, Jaipur

M/s. Malji Choggalal Kirana and Zeera Wholesale Merchants

> Tripolia Bazar, Jaipur Phone No. 2638 राजस्थान टेक्सटाइल सेन्टर जयपूरी वन्घेज की साडियों के विक्रेता जौहरी वाजार, जयपुर फोन: २०१४



गत वर्ष हुए महावीर जयन्ती समारोह के कार्यकर्ता

# राजस्थान को स्सर्ण रखिये

्याचीन किले, राज प्रासाद, सुरम्य भीलें, बन्य-जीवन-श्रींवास, तीर्थस्थान, चित्र-मूर्तिकला, सब प्रकार का हस्त उद्योग, छपाई और वैधाई का काम, केलिको । छपाई, लाख की चृड़ियां, पीतल, हाथी दांत तथा चन्द्रन के सामान, जस्ते के बने प्रसिद्ध जोधपुरी बादले, जोधपुरी मोजिंग्यां, बालापूर्ण सामान

्रद्भेद्भी का सबसे बड़ा सरतगढ़ यांत्रिक कृषि भार्य द्भेद्धिक्व की सबसे लम्बी राजस्थान नहर (निर्माण काय चाल् है)

🖈 सांभर का स्थलीय नमक उत्पादन चेत्र

३ देश का सबसे बड़ा ऊन उत्पादन करने वाला प्रांत
 ☆ मंगमरमर, चांदी तथा पन्ना की भारत प्रसिद्ध खानें

राजस्थान प्रथम पंचवर्षीय योजना में खाद्य-स्वावलम्बी वन गया। द्वितीय काल में १०.५६ लाख टन ग्रितिरिक्त खाद्यान्न का उत्पादन किया। पंचवर्षीय योजना में २३ करोड़ रुपए खर्च करने व १६ लाख टन ग्र खाद्य उत्पादन का लक्ष्य

राजस्थान में सहकारिता का व्यापक प्रचार—ग्राज राज्य में १६१२ स् समितियां काम कर रही हैं। उनकी गंख्या तृतीय पंचवर्षीय योजना में २ हो जायगी। सहकारिता ग्रौर सामुदायिक विकास योजना पर २२.४४ रुपये खर्च करने का तृतीय पंचवर्षीय योजना में लक्ष्य

र राजस्थान में उद्योगों को प्रोत्साहन के लिए ६६ वर्ष की लोज पर भूमि-डेर प्रति युनिट सस्ती विजली-बाहर से व राज्य से खरीदी जाने वाली मशी विक्री कर व चुंगी की माफी व उद्योगों के लिए ऋग की गुविधाएं।

★ र!जस्थान ७३६४ पंचायतों ग्रौर १३६६ स्याय पंचायतों का राज्य

जब कभी ग्राप राजस्थान के गुलाबी नगर जयपुर में पधारें तो डीलक्स बस जयपुर के दर्शनीय स्थानों-उद्योग केन्द्रों व मुख्य नगर का अवलोकन की जिए ह

## रानस्थान स्टेट होटल

के वातानुकूलित कमरों में ठहर कर ग्रानन्द लीजिए।

राजस्थान सरकार द्वारा प्रसारित